नैषधीयचरितम्

(प्रथमः सर्गः)

सम्पादक : अनुवादक
मोहनदेव पन्त

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली • मुम्बई • कलकत्ता • चेन्नई • बंगलौर
पुणे • वाराणसी • पटना

महाकविश्रीहर्षप्रणीतं

नैषधीयचरित-महाकाव्यम्

'छात्रतोषिणी'-टीका-सहितम्

विस्तृत-टिप्पणी-भूमिका-हिन्दीभाषानुवादोपेतञ्च

टीकाटिप्पणीकारो हिन्दीभाषानुवादकश्च

मोहनदेवपन्तः

अम्बालास्कन्धावारस्थ-दीवान-कृष्णकिशोर-
सनातनधर्म-संस्कृत-महाविद्यालयस्य
सेवानिवृत्तप्रधानाचार्यः

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली • मुम्बई • कलकत्ता • चेन्नई • बंगलौर
पुणे • वाराणसी • पटना

प्रथम संस्करण : वाराणसी, १९७६
पुनर्मुद्रण : दिल्ली, १९९४, १९९७

© मोतीलाल बनारसीदास

बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली ११० ००७
८, महालक्ष्मी चैम्बर, वार्डेन रोड, मुम्बई ४०० ०२६
१२०, रायपेट्टा हाई रोड, मैलापुर, मद्रास ६०० ००४
सनाज प्लाजा, सुभाष नगर, पुणे ४११ ००२
१६, सेन्ट मार्क्स रोड, बंगलौर ५६० ००१
८, कैमेक स्ट्रीट, कलकत्ता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

मूल्य : रु० २८

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड,
दिल्ली ११० ००७ द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५ नारायणा, फेज़-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

दो शब्द

उत्कृष्ट काव्य होने के कारण श्रीहर्ष के नैषधीय चरित के पठन-पाठन का पहले से ही बड़ा प्रचार है। यह प्रायः सभी उच्च परीक्षाओं में पाठ्यपुस्तक के रूप में भी नियत रहता है। इसे पढ़ाते समय छात्र-वर्ग का मुझ से बार-बार आग्रह होता रहता था कि मैं अपने आलोचनात्मक ढंग से इस पर भी 'छात्रतोषिणी' लिखूँ। उनका आग्रह मैंने मान तो लिया, लेकिन मेरे पास समय न था। कॉलेज से सेवा-निवृत्त होने पर ही मुझे समय मिला। इसी बीच दिल्ली के प्रसिद्ध प्रकाशक मोतीलाल-बनारसीदास वालों ने भी मुझ से इस पर टीका लिखने का अनुरोध किया और मैंने यह 'छात्रतोषिणी' लिख दी।

यों सच पूछो तो नैषध काव्य पर नयी और पुरानी कितनी ही टीकायें लिखी गई हैं। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् डा० ऑफ्रेक्ट ने अपनी ग्रन्थकार सूची में (Catelogus Catalogorum) में नैषध के ये २३ टीकाकार गिना रखे हैं—आनन्दराजानक, ईशानदेव, उदयनाचार्य (न्यायाचार्य से भिन्न) गोपीनाथ, चाण्डू पण्डित, चारित्रवर्धन, जिनराज, नरहरि, नारायण, भगीरथ, भरतसेन, भवदत्त, मथुरानाथ, मल्लिनाथ, महादेव विद्यावागीश, रामचन्द्र शेष, वंशीवदन शर्मा, विद्याधर, विद्यारण्य योगी, विश्वेश्वराचार्य, श्रीदत्त, श्रीनाथ और सदानन्द। इनमें से सर्व-प्रथम टीकाकार विद्याधर (१२५०-६० के लगभग) हैं जिनकी टीका 'साहित्यविद्याधरी' नाम से विख्यात है। इनके बाद १३५३ (वैक्रम) में लिखी चाण्डू पंडित की 'दीपिका' टीका आती है। ये वही चाण्डू पंडित हैं, जिन्होंने सायण से पहले ऋग्वेद पर भी भाष्य लिखा था जो अब लुप्त है। तत्पश्चात् ईशानदेव, नरहरि, विश्वेश्वर, जिनराज, मल्लिनाथ और नारायण की टीकायें आती हैं। मल्लिनाथ की टीका का नाम 'जीवातु' और नारायण की टीका का नाम 'प्रकाश' है। ये दोनों आजकल प्रकाशित मिलती हैं। कुछ समय पूर्व सदानन्द की टीका भी मुझे मुद्रित मिली थी, लेकिन वह अब नहीं मिलती। अन्य टीकाओं में बहुत सी लुप्त हो गई हैं। कुछ ऐसी हैं जो हस्तलिखित रूप में तत्तत् ग्रन्थालयों में सुरक्षित हैं, किन्तु कितनी ही अधूरी हैं, किन्हीं में कुछ ही सर्ग मिलते हैं। कृष्णकान्त हण्डीकी ने स्वसंपादित और अंग्रेजी में अनुवादित नैषध में तत्तत् टीकाओं की पाण्डुलिपियों में से अपनी टिप्पणियों में यत्र-तत्र उद्धरण दे रखे हैं। म० म० शिवदत्त ने साहित्यविद्याधरी की पाण्डुलिपि जयपुर के राजगुरु श्रीनारायण भट्ट से प्राप्त करके विद्याधर द्वारा किया हुआ प्रत्येक श्लोक में अलंकार-विवेचन स्वसंपादित नैषध के पाद-टिप्पण में उद्धृत कर रखा है। इस तरह नैषध पर इतनी अधिक संख्या में टीकाओं के लिखे जाने से सिद्ध होता है कि यह काव्य प्राचीन काल से ही कितना अधिक लोकप्रिय बना चला आ रहा है।

वर्तमान काल में नैषध की मल्लिनाथ प्रणीत 'जीवातु' और नारायण-प्रणीत 'प्रकाश' इन दोनों

टीकाओं का पठन-पाठन में प्रचार हैं। प्राचीन टीकाकारों की तरह नारायण जहाँ 'खण्डान्वय' से चलते हैं, वहाँ मल्लिनाथ 'दण्डान्वय' से। नारायणी टीका बड़ी विस्तृत है और अनेकों अर्थों का विकल्प सामने रखकर पाठक को द्विविधा में डाल देती है कि कौन-सा अर्थ लें, कौन-सा न लें, जब कि मल्लिनाथ टीका संक्षिप्त है। नारायण ने अलंकारों का कोई विवेचन नहीं किया, मल्लिनाथ ने किया है। ऐसी स्थिति में कोमल-मति छात्रों हेतु एक सरल, प्रकरण-परक, आलोचनात्मक ढंग से लिखी टीका की कमी अनुभव हो रही थी। हाल ही में पं० जगद्राम शास्त्री ने पाँच सर्गों तक एक टीका अवश्य लिखी है, किन्तु वे अपेक्षित आलोचनात्मक ढंग नहीं अपना सके। इसलिए इस कमी की पूर्ति हेतु मेरा यह लघु प्रयास है। इसमें मैं कहाँ तक सफल हुआ है—यह छात्र-वर्ग ही बताएगा। मूल-पाठ मैंने नारायण का अपनाया है, किन्तु जीवातु की तरह मैं दण्डान्वय से चला हूँ। अन्वय और टीका करके टिप्पणी में हरेक बात की आलोचना कर गया हूँ। व्याकरण का पृथक् स्तम्भ बनाकर शब्दों की व्युत्पत्ति भी बता दी है। लाघव की दृष्टि से समासों को मैं व्याकरण-स्तम्भ में न रखकर टीका के साथ-साथ ही ब्रैकटों में स्पष्ट कर गया हूँ। जैसा कि नियम है, अनुवाद की भाषा शाब्दिक और चलती ही रखी है। आरम्भ में एक आलोचनात्मक विस्तृत भूमिका भी दे दी है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने में मुझे कृष्णकान्त हण्डीकी के टिप्पणों और अंग्रेजी अनुवाद तथा म० म० शिवदत्त द्वारा सपादित नारायणी टीका वाले नैषध से सहायता मिली है। चौखम्बा वालों द्वारा प्रकाशित मल्लिनाथ की 'जीवातु' से भी मैंने लाभ उठाया है। अतः इन सभी महानुभावों का मैं कृतज्ञ हूँ। मैं मोतीलाल बनारसीदास वालों का भी आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने का भार उठाया है। दिल्ली से दूर रहने के कारण मुझे प्रूफ देखने की सुविधा नहीं मिली, इसलिए मुद्रण में जो कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों, उनके लिए मैं पाठकों से क्षमाप्रार्थी हूँ।

देहरादून

दीपावली

२२–१०–७६

मोहनदेव पन्त

भूमिका

श्रीहर्ष द्वारा आत्मपरिचय—प्राचीन संस्कृत कवियों के सम्बन्ध में यह बात आम पाई जाती है कि वे इतने निरभिमानी रहे कि अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय में कोई जानकारी नहीं दे गये। कालिदास, भास प्रभृति मूर्धन्य कलाकारों का जीवन-वृत्त आज तक अन्धकार के गर्त में पड़ा हुआ है। उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से हम अब तक कुछ नहीं जान पा रहे हैं; अटकल ही लगा रहे हैं, किन्तु अपवाद-स्वरूप बाणभट्ट की तरह श्रीहर्ष भी इस कोटि में नहीं आते। इन्होंने अपनी कृति 'नैषधीय-चरित' में माता-पिता, रचनायें, आश्रित राजा आदि का थोड़ा-बहुत परिचय स्वयं दे रखा है। इनके सम्बन्ध में बाह्य साक्ष्य भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। इनके नैषध के प्रत्येक सर्ग का अन्तिम श्लोक व्यक्तिगत संकेतपरक है। इन्होंने अपने पिता का नाम श्रीहीर और माता का नाम मामल्लदेवी बता रखा है। पिता को इन्होंने 'कविराज-राजिमुकुटालंकारहीरः'[1] अर्थात् कवि-मण्डल के मुकुटों में अलंकार-स्वरूप हीरे के रूप में स्मरण किया है, जो काशीनरेश विजय-चन्द की राजसभा के प्रधान पण्डित थे। योग्य पिता के योग्य पुत्र श्रीहर्ष भी विद्वत्ता और काव्य-क्षेत्र में अपने पिता से किसी तरह कम नहीं रहे, प्रत्युत उनसे एक पग आगे ही बढ़े हुये हैं। ये भी पिता की तरह विजयचन्द के पुत्र जयचन्द्र की राज-सभा के प्रधान पण्डित और राजकवि बने रहे। इन्हें राज-दरबार में पान के दो बीड़े और आसन राजकीय सम्मान के रूप में प्राप्त थे[2]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये कितने प्रकाण्ड विद्वान् तथा महाकवि थे। किन्तु ध्यान रहे कि प्रकृत काव्यकार श्रीहर्ष बाण के सम-सामयिक नाटककार श्रीहर्ष (सम्राट् हर्षवर्धन) से भिन्न हैं। नाटककार के नाम के साथ श्री शब्द आदरार्थ जोड़ा जाता है, जबकि काव्यकार का नाम ही श्रीहर्ष है। अपने प्रति आदरार्थ श्री जोड़ने पर इन्होंने अपने को श्रीश्रीहर्ष कह रखा है[3]।

देश काल—श्रीहर्ष का जन्म अथवा निवास-स्थान कौन था—इस विषय में इन्होंने अपनी कृति में स्वयं कोई संकेत नहीं दिया है। इसलिये यह प्रश्न विवादग्रस्त है। इस पर विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। डा० भट्टाचार्य—जैसे बंगाली विद्वानों का कहना है कि श्रीहर्ष गौड़ देश के निवासी थे। उनका तर्क नैषध के सातवें सर्ग के अन्तिम श्लोक में कवि द्वारा उल्लिखित अपने 'गाडोर्वीशकुल-प्रशस्ति[4] नामक ग्रन्थ में गौड़ राजवंश की प्रशस्ति पर आधारित हैं। गौड़ देश बंगाल को कहते हैं।

---

१. 'श्रीहर्षः कविराज-राजि-मुकुटालंकार-हीरः सुतम्। श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्ल-देवी च यम्॥१॥

२. ताम्बूल-द्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् (२२।१५३)।

३. श्रीश्रीहर्षकवेः कृतिः (२२।१५५)।

४. 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्ययम्'।

यदि श्रीहर्ष गौड़देशीय नहीं होते तो गौड़-राज वंश की प्रशंसा में क्यों ग्रन्थ लिखते ? किन्तु हमारे विचार से जब तक उक्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थ के आधार पर बंगालियों का श्रीहर्ष को बंगाली कहना उनकी ऐसी ही अटकल समझिये जैसे कालिदास नाम के आगे काली शब्द जुड़ने से उनका कालिदास को कालिकोपासक बंगाल देश का निवासी कहना। डाक्टर साहब अपने मत की पुष्टि हेतु दूसरा तर्क यह भी देते हैं कि श्रीहर्ष ने दमयन्ती के विवाहोत्सव पर पुर-सुन्दरियों द्वारा हर्ष में की हुई 'उलूलु' ध्वनि का उल्लेख किया[1] है। बंगाल में ही विवाहादि मांगलिक अवसरों पर महिलायें हथेली को गोलाकार करके शंख की तरह हाथ के खोखले में मुँह से फूँक मारकर उलूलु-ध्वनि किया करती हैं। इसका समर्थन उन्हें नारायण की इस टीका से मिला–'विवाहाद्युत्सवे स्त्रीणां धवलादिमङ्गलगीतिविशेषो गौड़देशे 'उलूलुः' इत्युच्यते। सोऽव्यक्तवर्णं उच्चार्यते। स्वदेश-रीतिः कविनोक्ता। किन्तु नारायण की व्याख्या कोई अकाट्य प्रमाण नहीं हो सकती। मल्लिनाथ ने 'उदीच्यानामाचारः' कहकर उत्तर भारत मात्र में यह आचार माना है। तभी तो काश्मीरी पंडित कहे जाने वाले मुरारि ने अपने 'अनर्घराघव' में सीता के विवाह के समय पुर-सुन्दरियों द्वारा की जाने वाली उलूलु-ध्वनि का उल्लेख किया है।[2] उक्त नाटक के टीकाकार रुचिपति ने इस लोकाचार को दक्षिण भारत में माना है[3]। कितने ही अन्य काव्यकारों ने भी अपनी कृतियों के भीतर तत्तत् देशों में इस प्रथा के प्रचलन को उल्लेख कर रखा है, जिनमें से उद्धरणों को देकर हम यहाँ विस्तार में नहीं जाना चाहेंगे। इसी तरह उक्त डाक्टर महोदय ने विवाहादि के समय नैषध में उल्लिखित 'आलेपन' प्रथा का बंगाल में होने का तर्क भी दिया है। आलेपन गेरू से जमीन लाल करके उसके ऊपर पिष्टोदक ('पीठे') से की जाने वाली तरह-तरह की माङ्गलिक चित्रकारी को कहते हैं। इसे अल्पना भी कहते हैं किन्तु यह प्रथा भी बंगाल तक ही सीमित नहीं है, देश-व्यापक है, इसलिए उनका यह तर्क भी अनैकान्तिक है।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जो श्रीहर्ष की माता के मामल्लदेवी नाम से यह अटकल लगाते हैं कि महिलाओं के ऐसे विचित्र नाम उत्तर भारत में न होकर काश्मीर में हुआ करते हैं उनके अनुसार मम्मट को श्रीहर्ष का मामा बताते हैं। अतः कवि भी काश्मीरी पण्डित रहे होंगे, लेकिन यह भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि—जैसे हम श्रीहर्षके व्यक्तिगत जीवन में आगे बताएँगे—श्रीहर्ष यदि काश्मीरी होते, तो जब वे काश्मीर गये थे तो वहां अपने को काश्मीर-नरेश के आगे 'वैदेशिकोऽस्मि' यह न कहते, न काश्मीरी पण्डितों के हाथों उनकी वहां जो दुर्गति हुई, वह होती और नहीं राजा के आगे अपने को काश्मीरी भाषा से अनभिज्ञ कहते। इसलिये कुछ विद्वानों के कथनानुसार वातापि के समीप मामल्लपुर एक कसबा है, जो श्रीहर्षकी माता का जन्म-स्थान था। उसी कसबे के नाम

---

१. सैवाननेभ्यः पुर-सुन्दरीणामुच्चैरुलूलुध्वनिरुच्चचार। (१४।५१)।

२. वैदेही-कर-बन्धु-मङ्गलयजुःसूक्तं द्विजानां मुखे, नारीणां च कपोलकन्दलतले श्रेयानुलुलु-ध्वनिः (३।५५)।

३. 'उलउली' इति प्रसिद्धः···दक्षिणदेशे विवाहाद्यवसरे स्त्रीभिरुलूलुध्वनिः क्रियते इत्याचारः।

से उनको मामल्लदेवी कहा गया। काश्मीर से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री मम्मट कवि के मामा थे। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

इस प्रकार श्रीहर्ष के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कह सकने योग्य न होने पर भी इतना ही हम निश्चय से कह सकते हैं कि जिस तरह कालिदास के जन्म-स्थान का पता न होने पर भी उनका जीवन उज्जयिनी में बीता, उसी तरह श्रीहर्ष के जन्म-स्थान का निश्चय न होने पर भी जिस स्थान में उन्होंने अपना जीवन-निर्वाह किया और वे फले-फूले, वह कन्नौज था। यह उन्होंने स्वयं स्वीकार भी किया है जैसा कि हम पीछे बता आये हैं। कन्नौज की सीमा तब काशी तक पहुँची हुई थी। इसीलिये इनके पिता को काशीनरेश का राजपण्डित भी कहते थे, भले ही ये लोग मूलतः गौड़देशीय रहे हों और इनकी धमनियों में बंगाली खून बहता हो।

जहाँ तक श्रीहर्ष के स्थिति-काल का प्रश्न है, वह निश्चित-प्राय ही समझिये। हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं कि श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर की राजसभा के पण्डित थे। इस सम्बन्ध में अब हमें इतना मात्र निश्चय करना है कि यह कान्यकुब्जेश्वर कौन थे तथा उनका स्थित-काल क्या है। प्रसिद्ध जैन कवि राजशेखर ने अपने **'प्रबन्ध-कोश'** (१३४८ ई० में लिखित) के अन्तर्गत **'श्रीहर्ष-विद्याधर-जयन्तचन्द्र-प्रबन्ध'** में श्रीहर्ष की जो जीवनी दे रखी है, तदनुसार यह कान्यकुब्जेश्वर जयन्तचन्द्र (जयचन्द्र) थे, जिनके पिता का नाम विजयचन्द्र था जिनकी प्रशंसा में श्रीहर्ष ने नैषध के पञ्चम सर्ग के अन्त में संकेतित अपने 'श्रीविजयप्रशस्ति' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। ये वही जयचन्द्र हैं, जिनकी कन्या संयोगिता को स्वयंवर-स्थल से दिल्ली राज्य के अन्तिम नरेश पृथ्वीराज चौहान ने बलात् अपहरण कर लिया था। इतिहास में यह वह समय है जब भारतीय राजाओं में आपसी फूट का लाभ उठाकर मुहम्मद गोरी ने आक्रमण करके देश को हथिया लिया था और मुस्लिम साम्राज्य की नींव डाली थी। इतिहास के अनुसार जयचन्द का शासन काल ११६८-९४ ई० है। यह बात जयचन्द के यौवराज्यभिषेक के बाद भारद्वाजगोत्रीय डोडराउत श्रीअणंग नामक ब्राह्मण को दान में दिये गये कैमोली ग्राम के दान-पत्र से भी सिद्ध हो जाती है, जिसमें दान का समय 'त्रिचत्वारिंश-दधिक-द्वादशसम्वत्सरे, अङ्कतोऽपि सम्वत् १२४३' अर्थात ११६९ ई० स्पष्ट उल्लिखित है।[१] फलतः श्रीहर्ष का स्थिति-काल बारहवीं शती ई० का उत्तरार्ध ठहरता है।

कुछ विद्वान् कहते हैं कि चन्दबरदाई कवि ने अपने 'पृथ्वीराज-रासो' के आरम्भिक मंगलाचरण पदों में पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण करते हुये श्रीहर्षको कालिदास का पूर्ववर्ती कहा है[२]। इससे सिद्ध होता है कि श्रीहर्ष बड़े प्राचीन कवि हैं। यदि वे बारहवीं शती ई० के होते, तो वे चन्दबरदाई के समसामयिक ही ठहरते हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे संभव है कि श्रीहर्ष और उनका नैषध काव्य अपने ही समय में इतना लोक-विख्यात हो जाँय कि अपने ही समसामयिक चन्दबरदाई के वन्दन-

---

१. Indian Antiquary (1511-12), अभिलेख २२।

२. नरं रूपं पञ्चम्मं श्रीहर्षसारं, नलै राय कंठं दिने पद्ध हारं ॥
छठं कालिदासं सुभाषा सुबद्धं, जिनै बागबानी सुबानी सुबद्धं ॥

पात्र बन जायँ। किन्तु श्रीहर्ष की प्राचीनता के उक्त तर्क में बल नहीं है। पहले तो प्रचलित पृथ्वीराज-रासो चन्दबरदाई द्वारा प्रणीत है यह प्रश्न ही अभी तक विवाद-ग्रस्त है, क्योंकि कई विद्वानों और ऐतिहासिकों ने कहा है पृथ्वीराज को मृत्यु के तत्काल बाद मुसलमानों ने चन्दबरदाई को भी मार दिया था। इसके अतिरिक्त रासो में मुसलमानी भाषा के बहुत सारे शब्द आये हुए हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वह मुस्लिमसाम्राज्य-स्थापना के बहुत समय बाद उनकी भाषा के देश में प्रचलित हो जाने पर किसी अन्य ने बनाया है। दूसरे, यदि श्रीहर्ष इतने प्राचीन कलाकार होते, तो कालिदास के ग्रन्थों की तरह परवर्ती साहित्यशास्त्री और आलंकारिक लोग इनके नैषध में से भी अपनी रचनाओं में उद्धरण देते। तीसरे राजशेखर के निम्न-लिखित कथन के अनुसार तब तक तीन कालिदास हो चुके थे:—

'एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदास-त्रयी किमु' ॥

हो सकता है कि श्रीहर्ष का परवर्ती कोई अभिनव कालिदास चन्दबरदाई को अभीष्ट हो। एक कालिदास राजा भोज (११ वीं शती उत्तरार्द्ध) के समय में भी था, जिसने राजा भोज का वृत्तान्त लिखा है। रासो में भोज-प्रबन्ध का स्पष्ट उल्लेख है[1]।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि विद्याधर के बाद नैषध के दूसरे प्रसिद्ध टीकाकार अहमदाबाद के चाण्डू पंडित ने (१२६९ ई० में लिखी) अपनी टीका में २२ वें सर्ग की समाप्ति पर नैषध को नया काव्य कहा है[2]। स्वयं श्रीहर्ष भी अपने श्रीमुख से अपने काव्य को **'कविकुलादृष्टाध्वपान्थे'** अर्थात् नया ही कह गये हैं[3]। इससे नैषधकाव्य और उसके प्रणेता की प्राचीनता का निराकरण हो जाता है। वैसे विद्वन्मण्डली में भी श्रीहर्ष का नैषधीय-चरित भारवि द्वारा काव्य क्षेत्र में प्रचलित अलंकृत शैली का अन्तिम श्रेष्ठतम काव्य माना जाता है। इसलिये राजशेखर के 'श्रीहर्षः कान्यकुब्जाधिपतिजयचन्द्रस्य सभासन्महाकविरासीत्' इस कथन के अनुसार श्रीहर्ष का स्थिति-काल बारहवीं शती ई० का उत्तरार्ध मानने में हमें कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये।

श्रीहर्ष का व्यक्तिगत जीवन—श्रीहर्ष द्वारा दिये गये आत्म-परिचय के अतिरिक्त राजशेखर ने अपने 'प्रबन्धकोश' में इनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी दे रखी है। उसके अनुसार श्रीहर्ष जब बालक ही थे, तो एक बार इनके पिता हीर को एक विद्वान ने राजा के सामने शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया। परास्त करने वाला विद्वान् न्यायशास्त्र का अगाध पण्डित उदयनाचार्य था।

---

१. कियो कालिका मुख्ख वासं सुसुद्धं।
जिनैं सेतबंध्योति **भोजप्रबन्धं** ॥

२. बुद्ध्वा श्रीमुनिदेवसंज्ञविबुधात् **काव्यं नवं** नैषधम्।

३. ८।१०९।

हार खाया हुआ पिता लज्जा और आत्मग्लानि में घुलता-घुलता मर ही गया, लेकिन मृत्यु से पूर्व अपने पुत्र को कह गया—'बेटा, यदि तू सुपुत्र है, तो मेरे वैरी उस विद्वान् को राज-सभा में परास्त करके मेरी पराजय का बदला अवश्य लेना'। पुत्र ने मरणासन्न पिता को वचन दे दिया कि मैं अवश्य ऐसा करूँगा।

बालक श्रीहर्ष तीक्ष्ण-बुद्धि था ही। बदला लेने की लगन भी हृदय में पकड़ गया। फिर तो क्या था, वह विद्याध्ययनार्थ घर से निकल पड़ा। थोड़े समय के भीतर ही उसने तत्तत् विषयों के विशेष ज्ञाता अनेक आचार्यों से सभी शास्त्र पढ़ लिये और किसी 'सुगुरु' द्वारा दिया हुआ चिन्तामणि मन्त्र[1] गंगा के तट पर एक वर्ष के भीतर सिद्ध करके भगवती त्रिपुरा के प्रसाद से अगाध विद्वत्ता और मेधा प्राप्त कर ली और राजशेखर के शब्दों में 'खण्डनादि-ग्रन्थान् परःशतान् जग्रन्थ'। फिर श्रीहर्ष जयचन्द की राजसभा में पधारे। राजा ने उनको पण्डितोचित सम्मान दिया।

इन्होंने भी उदात्त ढंग से राजा का इस तरह स्तवन किया—

"गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च,
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री" ॥

साथ ही 'तारस्वर में' इसकी व्याख्या भी की जिसे सुनकर क्या राजा और क्या सभासद—सभी इनकी विद्वत्ता से दंग रह गये। राजा इनपर बड़े प्रसन्न हो गये। फिर ये राजसभा में अपने पिता के पराजेता पण्डित को ललकारते हुए बोले:—

"साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले,
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता,
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

पण्डित बेचारा पहले ही इनके प्रचण्ड पाण्डित्य से हत-प्रभ और हत-प्रतिभ हुआ इनका लोहा मान बैठा था। उसकी सारी पंडिताई हिरन हो गई। क्या शास्त्रार्थ करता इस दिग्गज से! उत्तर में इतना ही बोला—

"देव वादीन्द्र, भारतीसिद्ध, तव समः कोऽपि न किं पुनरधिकः।
हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम्।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः,
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुकृते ॥"

---

१. इस मन्त्र के सम्बन्ध में प्रथम सर्ग के अन्तिम श्लोक में हमारी टिप्पणी देखिए।

यह सुनकर श्रीहर्ष का क्रोध शान्त हो गया। राजा दोनों पण्डितों को महल के भीतर ले गये और उनका परस्पर आलिंगन कराके पुराना वैर समाप्त करा दिया। श्रीहर्ष को राजा ने एक लाख सुवर्ण-मुद्राएँ पुरस्कार में दीं।

शान्त-चित्त हुए श्रीहर्ष को एकबार राजा ने कहा—'वादीन्द्र, कोई काव्य रचो'। तदनुसार इन्होंने 'दिव्य रस वाला, महागूढ़ व्यङ्ग्यभरा' नैषधीय-चरित महाकाव्य रचा। उसे राजा को दिखाया, तो वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'तुम्हारा यह कवि-कर्म बड़ा स्तुत्य है, किन्तु इसे लेकर काश्मीर जाओ और वहाँ के पण्डितों को दिखाकर उनके द्वारा काश्मीर-नरेश माधवदेव से यह प्रमाण-पत्र लिखवाकर लाओ कि यह निर्दोष काव्य है।' काश्मीर उस समय वागीश्वरी का निवास-भूत प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र था। सभी विद्याओं और विद्वानों की वहाँ परीक्षा हुआ करती थी। श्रीहर्ष अपना अभिनव काव्य लेकर काश्मीर पहुँचे। वहाँ के पंडितों से मिले, तो किसी ने उन्हें खार के कारण मुँह तक नहीं लगाया, काव्य देखने और उसके लिए राजा से प्रमाण-पत्र दिलाने की बात दूर रही। वहाँ रहते-रहते इन्हें बहुत महीने हो गये। पास का सारा द्रव्य भी खर्च हो गया। बेचारे बड़े परेशान थे कि अब क्या करें। संयोग-वश एक दिन वे नदी के समीप स्थित एक कुएँ के निकट रुद्र का जप कर रहे थे कि सामने क्या देखते हैं कि दो घरों की दो नौकरानियाँ कुएँ से पहले जल भरने के प्रश्न को लेकर आपस में झगड़ रही हैं और जोर-जोर से परस्पर कुछ बोल भी रही हैं। बात ही बात में नौबत यहाँ तक पहुँच गई कि वे अपने कलशों से एक-दूसरी का सिर फोड़ बैठीं। मामला फौजदारी का बन गया। निर्णय हेतु जब राजा के पास पहुँचा, तो साक्षी के रूप में नौकरानियों ने जप करते हुए इन पंडित जी को बताया। श्रीहर्ष न्यायालय में बुलाये गये। राजा द्वारा झगड़े के सम्बन्ध में पूछे जाने पर ये संस्कृत में बोले—'महाराज ! मैं तो विदेशी हूँ। यहाँ की भाषा नहीं जानता। इन्होंने अपनी भाषा में एक दूसरी को क्या-क्या कहा—यह तो मैं कुछ नहीं समझ सका। किन्तु हाँ, इन्होंने आपस में जो-जो शब्द प्रयुक्त किए हैं उन्हें मैं अक्षरशः आनुपूर्वी के साथ दोहरा सकता हूँ। यह कहकर फिर इन्होंने वे सभी शब्द ज्यों के त्यों राजा के आगे दोहरा डाले। सुनकर काश्मीर-नरेश इनकी प्रज्ञा और धारणा-शक्ति से बड़े चकित हो गये। नौकरानियों के लिए यथोचित दंड-व्यवस्था करके इन्हें पास बुलाया और पूछा—'शिरोमणि तुम कौन हो ?' इन्होंने काश्मीर आने से लेकर तब तक की अपनी सारी करुण कहानी राजा को सुना दी। वे इनके साथ अपने पण्डितों का दुर्व्यवहार सुनकर बहुत दुःखी हुए। उन्होंने अपने पण्डितों को बुलाया और इन्हें फटकारते हुए बोले—'मूर्खो, धिक्कार है तुम लोगों को, जो इस रत्न से स्नेह न करके द्वेष कर रहे हो !

वरं प्रज्वलिते वह्नावह्नायानेहितं (?) वपुः।
न पुनर्गुणसम्पन्ने कृतः स्वल्पोऽपि मत्सरः' ॥

जाओ, अपने घर ले जाकर इनका यथोचित आदर-सत्कार करो''। राजा की आज्ञा के अनुसार वे इन्हें अपने-अपने घर ले गये और इनका खूब आदर-सत्कार किया। इनका नैषध काव्य देखा,

तो—जैसा इन्होंने स्वीकार किया है[1]—उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और इन्हें ग्रन्थ की शुद्धता का अपेक्षित, स्वहस्ताक्षरित प्रमाण-पत्र राजा से दिलवाकर सम्मान-पूर्वक काशी के लिए विदा किया। प्रमाणपत्र लेकर श्रीहर्ष काशी आये और जयचन्द से मिले। प्रमाणपत्र पढ़कर राजा बहुत प्रसन्न हुए। फिर तो क्या था, इनके नैषध काव्य का सारे जगत् में डंका बज गया। ये राजकवि बन गये और 'नर-भारती' नाम से प्रसिद्ध हो गये।

राजशेखर के 'प्रबन्ध कोष' के अनुसार जयचन्द ने शालापति की नवयुवति, परम-रूपवती, विधवा पत्नी सूहवदेवी 'भागिनी' (रखैल) के रूप में रखी हुई थी। वह बड़ी नीति-निपुण, कला-निष्णात और विदुषी थी। अपने वैदुष्य और कलाभिज्ञता के अभिमान में आकर वह अपने को जगत् में 'कला-भारती' की उपाधि से विख्यात किये हुए थी। राजा पर उसने अपना पूरा जादू चढ़ा रखा था। इधर देखा तो श्रीहर्ष भी विद्या कला में कोई कम न थे। ये 'नर-भारती' थे। किन्तु वह अभिमानिनी रानी ईर्ष्यावश भला इनका यश क्यों सहन करती। एक समय वह श्रीहर्ष को आदर-पूर्वक अपने पास बुला बैठी और पूछ पड़ी—'तुम कौन हो?' ये बोले—'कलासर्वज्ञ हूँ'। रखैल रानी जल गई और बोली—'यदि यह सच है, तो यों करो, तुम जूते बनाकर मुझे पहनाओ'। उस कुटिलमति का भाव यह था कि जूता बनाना भी एक कला है जिसे यह बेचारा ब्राह्मण भला क्या जान सकेगा। यदि यह कह देता है कि मैं नहीं जानता, तो मैं कह दूँगी कि तुम 'कला-सर्वज्ञ' काहे के?' इस प्रकार इसका सारा अभिमान चूर हो जायगा और वह हमेशा के लिए अपने को 'कला-सर्वज्ञ' कहना भूल जायेगा। लेकिन हमारे 'कला-सर्वज्ञ' महाराज भी भला कब कच्ची गोली खेले थे। रानी की सारी दुरभिसन्धि तत्काल समझ गये। इन्होंने झट रानी के आगे हाँ भर ली। घर आये और वृक्षों की छालों से येन केन प्रकारेण जूते बनाकर सायं दरबार चले आये। रानी को बुलाया और अछूतों को तरह दूर ही स्थित हो स्वामिनी के पैरों में जूते पहना दिए यह कहते हुए कि 'कला-भारती' रानी जी, मैं चमार हूँ। आपको छू लिया है। गंगा-जल का छींटा मारकर अपने को शुद्ध कर लो'। सुनते ही रानी की बोलती बन्द हो गई और वह बहुत झेंपी। बाद में राजकवि ने रानी की यह कुचेष्टा राजा को सुना दी। किन्तु राज-गृह से ये खिन्न हो उठे। तत्काल राजाश्रय छोड़ दिया और अन्त में उन्होंने गंगा के तट पर संन्यास ले लिया। श्रीहर्ष को कोई सन्तान थी या नहीं—इस सम्बन्ध में ये स्वयं मूक हैं और इनका चरित-लेखक राजशेखर भी मूक है।

श्रीहर्ष का व्यक्तित्व—श्रीहर्ष बहुमुखी और वैविध्यपूर्ण प्रतिभा-शाली व्यक्तित्व के धनी थे। इनके इस व्यक्तित्व को उभारने का सारा श्रेय इनके शैशव में इनके पिता की शास्त्रार्थ में पराजय की घटना और मरते समय पिता का इनसे अपने वैरी से बदला लेने का वचन प्राप्त करने को जाता है। पिता के प्रति वचनबद्ध होकर इसे पूरा करने की धुन बालक के मन में ऐसा घर जमा बैठी कि विद्याध्ययन के कठिन परिश्रम में जुटकर अन्ततोगत्वा पिता के वैरी को परास्त करके उनकी दिवंगत आत्मा को पराजय के आक्रोश से और अपने को पिता के ऋण से उन्मुक्त कर ही गये। इससे इनकी अटूट पितृ-भक्ति और सत्य-सन्धता प्रकट होती है। माता के भी ये कम भक्त नहीं थे। तभी तो

---

१. 'काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महाकाव्ये तद्भुवि नैषधीयचरिते' (१६।१३२)

प्रत्येक सर्ग के अन्त में पिता के साथ-साथ माता का भी पुण्यस्मरण करते हुए ये अपने सारे नैषध काव्य को मातृ-चरणों में अर्पित कमलमाला का रूप दे गये[१]।

श्रीहर्ष त्रिपुरा देवी के भक्त थे, जिसे इन्होंने सिद्ध कर रखा था और जिसकी अमोघ अनुकम्पा से ही इन्हें अप्रतिम प्रतिभा मिली थी। लेकिन अन्य देवताओं के लिए भी इनके हृदय में पूरी श्रद्धा-भक्ति रही। दमयन्ती को ब्याहकर घर लाने पर भी नल से इन्होंने शिव की 'शत-रुद्रिय' सूत्र से विष्णु को पुरुषसूक्त से और अन्यान्य कृष्ण, राम आदि सभी अवतारों तथा सूर्यादि देवों की विधिवत् पूजा-अर्चना[२] करवाकर अपनी ही निष्ठा व्यक्त की है। दार्शनिक विचारों में ये ब्रह्मवादी थे। यही कारण है कि नैषध काव्य में प्रस्तुत कथानक के साथ-साथ ये रह-रहकर यत्र-तत्र अप्रस्तुत रूप में अपने वेदान्त-सिद्धान्त को अभिव्यक्ति देते रहे[३]। जगत् के नानातत्व का खण्डन करके इन्होंने अद्वैत की पुष्टि कर रखी है[४]। इनका 'खण्डनखण्डखाद्य' ग्रन्थ तो अद्वैतवाद का ही समर्थक ग्रन्थ है।

श्रीहर्ष को अपनी विद्वत्ता का पूरा अभिमान था। हम पीछे देख आये हैं कि जयचन्द्र की राज-सभा में पिता के बैरी को देखकर ये ऐसे अभिमान के साथ गरजे कि वह बेचारा पानी-पानी हो गया। उसने इन्हें विद्यारण्य का ऐसा सिंह कह डाला, जिसका 'साहंकृत हुंकृत'—अभिमान-भरी दहाड़—ही सारे विद्वत्-प्राणियों को मार देती है, प्रहार दूर रहा। नैषध के अन्त में इन्होंने अपने काव्य को 'अमृत-भरा क्षीरोदन्वान्' कहते हुए अन्य कवियों की रचनाओं को क्षुद्र पहाड़ी नदियाँ माना है[५] और भवभूति की तरह इन्होंने अपनी रचना पर नाक-भौं सिकोड़नेवाले, अरसिक आलोचकों की आड़े हाथों खबर ली है[६]। इनकी ये सभी बातें इनकी अभिमानी प्रकृति की द्योतक हैं।

वास्तव में इनका अभिमान् अर्थवान् था, क्योंकि ऐसी कौन-सी विद्या है, जिसमें इनकी गति प्रतिहत हुई हो। नैषध काव्य के सर्व-प्रथम टीकाकार विद्याधर, उपनाम 'साहित्य विद्याधर' (लगभग १२५०-६० ई०) ने अन्तिम सर्ग की टीका करते हुए श्रीहर्ष के सर्वतोमुखी शास्त्रीय ज्ञान का इस प्रकार उल्लेख किया है:—

"अनेनास्य आत्मसर्वज्ञता अभिव्यञ्जिता—
अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नयो,
वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्यं स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ,
व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः॥"

क्या आठों व्याकरण, क्या तर्कशास्त्र, क्या साहित्य, क्या वेद-पुराण और क्या अन्य शास्त्र—सभी में ये पारंगत थे। तर्क में तो इन्होंने स्वयं को 'तर्केष्वसमश्च यः[७]' कह रखा है। इसी तर्क के बल पर तो इन्होंने उदयनाचार्य के न्याय-सिद्धान्तों का खण्डन किया है। इस तरह स्पष्ट है कि

१—१२।११२। २—२१।३२-११८। ३—१।४०, २।१,७८। ३।३, ४, ६३।
४—२१।१०८। ५—२२।१५२। ६—२२।१५३। ७—१०।१३७।

विद्याओं में ये सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखे हुए हैं। हमारे विचार से नल के सम्बन्ध में इनकी कही हुई **'अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्'**[१] यह उक्ति स्वयं इन पर भी लागू हो जाती है।

शास्त्रों के अतिरिक्त कलाओं में भी श्रीहर्ष पीछे नहीं रहे। विवाहोपरान्त अपने राजमहल में नल द्वारा आयोजित संगीतगोष्ठी, जिसमें दमयन्ती की पढ़ाई-लिखाई शिष्यायें, सखियाँ, किन्नरियाँ तथा स्वयं दमयन्ती भी वीणा-स्वर के साथ निषाद स्वर से मधुर गान में भाग ले रही थीं[१], कवि की संगीतकला-कोविदता पर प्रकाश डाल देती हैं। इन्होंने कितने ही स्थलों में नृत्य भी करा रखे हैं नल के महल के प्रांगण में नाटकों के अभिनय करा रखे हैं। विवाह से पूर्व दमयन्ती द्वारा राजकीय चित्रकारों से राज-गृह की भित्ति पर लोकातिशायी सौन्दर्य वाले युगल का चित्र बनवाकर उससे अपने और नल की तुलना अपने महल के भीतर बनाये नल के चित्र, विदर्भ के लोगों के घर-घर में खींचे दमयन्ती के चित्र तथा नल के महल में ब्रह्मा सरस्वती और इन्द्र अहिल्या आदि के कामुक चित्र कवि की चित्रकलाभिज्ञता व्यक्त कर देते हैं[२]। इनका वास्तुकला-ज्ञान राजा भीम की कुण्डनपुरी के महलों, अटारियों, 'क्षितिगर्भधाराम्बर-आलयों' 'मणिमय कुट्टिमों, एवं दमयन्ती के 'सप्त-भूमिक' हर्म्य और नल के 'सोध-भूधर' निर्माण में झलक जाता है[३]। इसीलिए श्रीहर्ष अपने को 'कला-सर्वज्ञ' कहा करते थे, जिस पर राजा की कला-पारखी 'कला-भारती' रानी द्वारा आपत्ति उठाने पर इन 'कलासर्वज्ञ' ने उसके नहले पर कैसा दहला मारा—यह हम पीछे देख आये हैं।

वैसे तो व्याकरण, दर्शन आदि शुष्क और गम्भीर विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् होने के नाते श्रीहर्ष को गम्भीर प्रकृति का व्यक्तित्व वाला होना चाहिए था, लेकिन नहीं। वे जीवन में मृदु और विनोद-शील रहे। जीवन के मधुर क्षणों को, हास-परिहास के अवसरों को वे यों ही नहीं जाने देते; उनसे पूरा-पूरा विनोद-लाभ करते थे। प्रथम सर्ग में ही दमयन्ती के सौन्दर्यवर्णन-प्रसङ्ग में इन्द्राणी, लक्ष्मी, सरस्वती आदि की प्रतिक्रियायें कवि ने कितनी हल्की-फुल्की, विनोदी तरङ्ग में अभिव्यक्त की हैं। दमयन्ती के स्वयंवर का सारा वातावरण, वारातियों और कन्यापक्षीय नर-नारियों का हास्य-विनोद, युवा-युवतियों की परस्पर नर्म-पूर्ण चुटकियों तथा बीच-बीच में कभी-कभी शालीनता की सीमा लाँघे श्रृंगारिक चेष्टायें कवि की सोल्लास मनोवृत्ति की परिचायक हैं स्वयंवर के बाद अपने-अपने स्थान को लौटते हुए इन्द्रादि देवताओं को स्वयंवर में जाता हुआ जब कलि मिलता है, तो उसका और उसके साथ नास्तिक भौतिकवादियों का देवताओं के साथ हुए वार्तालाप वाले सत्रहवें सर्ग के आधे भाग में श्रीहर्ष के हास्य, ऋषि-मुनियों पर कटाक्ष और विद्रूप देखते ही बनते हैं। कामोपभोग-परायण चार्वाकों के मुँह से वेदों, यज्ञों, एवं व्रत-नियमों का कितना उपहास करवा रखा है, धर्मशास्त्र और पुराणों की कैसी छिछालेदर करवाई है, मनु, व्यास आदि ऋषि-मुनियों के व्यक्तिगत जीवन पर कैसे कटु व्यङ्ग्य अथवा चुभती फबतियाँ कसवाई हैं, मीमांसा आदि दार्शनिक सिद्धान्तों तथा उनके प्रवर्तकों को कैसा उपहासास्पद बनवाया है, यहाँ तक कि जीवात्मा

१—२२।१२५-३०। २—१।३८। ३—१०।३५।

की सर्वथा सुख-दुःखादि रूप चैतन्य के अत्यन्ताभाव वाली अवस्था को मुक्ति का स्वरूप[1] मानने वाले न्यायदर्शनकार गौतम को गोतम (बड़ा भारी बैल) तक कहलवा दिया[2] है। ये कवि की निजी उद्भावनायें हैं। इसी तरह एक दिन अपने प्रातःकालीन धर्म-कर्म में व्यस्त रहने के कारण देरी हो जाने से प्रणय-कुपित दमयन्ती को मनाते हुए नल की उसकी अन्तरङ्ग सखी कला के साथ हुई बातें भी कितनी परिहास-पूर्ण हैं। इन सब में श्रीहर्ष का विनोदी व्यक्तित्व मुखरित हुआ पड़ा है।

श्रीहर्ष संयतात्मा थे। प्रत्येक सर्ग के अन्त में ये बार-बार अपने को **'जितेन्द्रियचयम्'** लिखते आये हैं। ग्रन्थ की परिसमाप्ति के अन्तिम श्लोक में **'यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परंब्रह्म प्रमोदार्णवम्'** लिखकर अपने को समाधि-अवस्था में ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करने वाला बता गये। हमारे विचार से ये गृहस्थाश्रम में क्या ही प्रविष्ट हुए होंगे। 'ब्रह्मप्रमोदार्णव' में स्नान करने से पवित्र हुई आत्मा भला क्षण-भंगुर सांसारिक प्रमोद की ओर कभी आकृष्ट हो सकती है! ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि कवि नैषध में फिर भुक्त-भोगी की तरह शृङ्गार-रस का इतना अच्छा सफल चित्रण कैसे कर गया? भगवती की कृपा से उसे सब कुछ ज्ञान हो चुका था—इसके सिवा हमारे पास इसका कोई उत्तर नहीं।

श्रीहर्ष की कृतियाँ—हम पीछे देख आये हैं कि राजशेखर ने श्रीहर्ष के सम्बन्ध में लिख रखा है कि भगवती त्रिपुरा से वर-प्राप्ति के फल-स्वरूप इनमें अद्‌भुतशक्ति-विकास होने के बाद ये सैकड़ों ग्रन्थों का निर्माण कर बैठे, किन्तु वह 'खण्डनखण्डखाद्य' का ही उल्लेख करके सन्तोष कर गया, इनके अन्य सैकड़ों ग्रन्थों का परिगणन नहीं कर पाया। इन्होंने ही स्वयं नैषध के सर्गों के अन्त में स्व-प्रणीत जिन नौ ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है, वे हैं—१. **नैषधीयचरित**, २. **स्थैर्यविचार-प्रकरण**, ३. **विजय-प्रशस्ति**, ४. **खण्डनखण्डखाद्य**, ५. **गौडोर्वीशकुल-प्रशस्ति**, ६. **अर्णव-वर्णन**, ७. **छिन्दप्रशस्ति**, ८. **शिवशक्तिसिद्धि और नवसाहसांकचरित**। किन्तु अपने खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ में इन्होंने स्व-प्रणीत ईश्वराभिसन्धि नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। इस तरह कुल मिलाकर इनके ग्रन्थों की संख्या दस तक पहुँच जाती है, लेकिन इनमें से इस समय **नैषधीयचरित, खण्डनखण्डखाद्य** ये दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, शेष लुप्त हैं। जैसे कि इन ग्रन्थों के नाम हैं, नैषध में नल राजा का चरित है और खण्डनखण्डखाद्य में न्याय-सिद्धान्त का खण्डन और वेदान्त-मत की स्थापना है। खण्डनखण्डखाद्य का अर्थ है खण्डन हो खाने योग्य खाँड अर्थात् खण्डन ही जिस ग्रन्थ का मीठा खाद्य (विषय) है। यह वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थों में गिना जाता है। इसका उल्लेख कवि ने नैषध में **'खण्डनखण्डतोऽपि सहजात्'**[3] इस रूप में किया है जिससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि नैषध और खण्डनखण्डखाद्य—दोनों सहजात

१—'तदत्यन्त-विमोक्षोऽपवर्गः'।

२—मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥ (१७।७५)

३—६।११३।

अर्थात् साथ-साथ लिखे गये होंगे, क्योंकि खण्डनखण्ड में भी नैषध काव्य का उल्लेख है। खण्डन में उल्लिखित ईश्वराभिसन्धि की रचना कवि ने इन दोनों ग्रन्थों के बाद की होगी।

जहाँ तक अनुपलब्ध ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय का प्रश्न है, कुछ नहीं कहा जा सकता। इनके नामों से इनके विषयों का थोड़ा-बहुत आभास ही मिल सकता है। **स्थैर्यविचारप्रकरण** के सम्बन्ध में प्रसिद्ध टीकाकार नारायण ने व्याख्या में लिखा है—'स्थैर्यविचारणं क्षणभङ्गनिराकरणेन स्थिरत्वस्य विचारण-सूचको ग्रन्थः[1] अर्थात् इसमें कवि ने बौद्धों के क्षणभङ्गवाद का खण्डन करके पदार्थों के स्थिरत्व पर विचार किया होगा। **विजयप्रशस्ति**[2] में अपने आश्रयदाता जयचन्द के पिता विजयचन्द का स्तव अथवा प्रशंसा होनी चाहिये। **गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति**[3] में गौड़ देश के भूपालों के वंश का परिचय और प्रशंसा होगी। **अर्णव-वर्णन**[4] में कुछ विद्वानों का कहना है कि चहान वंश के राजा अर्णवराज का चरित है, किन्तु वर्णन का अर्थ चरित नहीं होता, अतः हमारे विचार से इसमें समुद्र का ही वर्णन होगा। **छिन्द प्रशस्ति**[5] में नारायण के अनुसार छिन्द-नामक किसी राजा विशेष की प्रशंसा की होगी। कहीं **छन्द प्रशस्ति** पाठ मिलता है, जिसके अनुसार यह छन्दग्रन्थ होना चाहिये, लेकिन छन्दों के साथ प्रशस्ति शब्द की संगति ठीक नहीं बैठती। **शिवशक्तिसिद्धि** अथवा **शिवभक्तिसिद्धि**[6] कोई स्तोत्र-ग्रन्थ अथवा तन्त्रग्रन्थ होगा। **नवसाहसाङ्कचरित**[7] एक चम्पू-काव्य है, जिसमें नवसाहसाङ्क राजा का चरित-वर्णन है। कहीं कहीं **नृपसाहसाङ्क**चरित पाठ भी है। यह नवसाहसाङ्क अथवा नृपसाहसाङ्क कौन था—इसपर विद्वानों में मतभेद है। कोई गौड़ेन्द्र को कोई राजा भोजको और कोई जयचन्द को लेता है, लेकिन निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

नैषधीय चरित का कथानक—राजा वीरसेन के पुत्र नल निषध देश के प्रसिद्ध चन्द्रवंशी राजा थे–सभी विद्याओं में पारदृश्वा, रूप-सम्पदा में कामविजयी, शौर्यकर्म में अतुल और उदारता में पराकाष्ठा को पहुँचे। विदर्भदेश की परम सुन्दरी राजकुमारी दमयन्ती ने लोगों से जब उनके गुणों की चर्चा सुनी, तो अनदेखे ही उनपर अनुराग करने लगी। इधर नल भी तीनों लोकों में चर्चित उसके लोकातिशायी लावण्य और गुणों का समाचार पाकर मन में उसे चाहने लगे। **'पूर्वराग'** में ही काम धीरे-धीरे दोनों में काम करने लगा। एक दिन राजा प्रमोद-वन में अपना विरहाकुल मन बहला रहे थे। सहसा सामने क्या देखते हैं कि तालाब के किनारे एक अदृष्टपूर्व स्वर्णिल हंस निद्रित अवस्था में स्थित है। कौतूहलवश दबे पाँव जाकर उसे एक दम पकड़ लेते हैं। बाद में उसकी करुणा-भरी चीख-पुकार सुनी, तो दयावश छोड़ भी देते हैं। हंस ने मानुषी वाणी में राजा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की और प्रत्युपकार के रूप में उन्हें दमयन्ती प्राप्त कराने में योग देने का वचन दे दिया और तभी वह विदर्भ की राजधानी कुण्डिन नगरी को उड़ गया। राजकुमारी क्रीडा-वन में

---

१. ४।१२३। २. ५।१३८। ३. ७।११०। ४. ९।१६०।
५. १७।२२२। ६. १८।१५४। ७. २२।१५१।

खेल रही थी। मिलकर नलगुण-गान द्वारा उसे उनकी ओर और अधिक आकृष्ट करके उन्हें ही वरने हेतु पक्का कर बैठा। वापस आकर हंस ने दमयन्ती का निश्चय राजा नल को सुना दिया। फिर तो क्या था, दोनों ओर हृदय में धुँधुँआ रही कामाग्नि सरासर सुलगने लगी। विरह में हृदय की तड़पन अधिकाधिक बढ़ चली। विदर्भनरेश भीम लड़की की हालत देखकर भाँप जाते हैं कि वह विवाह चाहती है। उन्होंने स्वयंवर के आयोजन का निश्चय कर लिया। सभी देश-विदेशों के राजकुमारों को निमंत्रण भेज दिए गये। क्योंकि स्वर्गलोक तक में भी दमयन्ती के अनुपम सौन्दर्य की धाक जमी हुई थी, इसलिए नारद से जब उसके स्वयंवर का समाचार मिला, तो इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—चारों देवता भी अपने-अपने वाहनों पर चढ़ कर स्वयंवर में सम्मिलित होने चल पड़ते हैं। अचानक रास्ते में अपने रथ में सवार हो स्वयंवर में जाते हुए नल से उनकी भेंट हो जाती है। उन्होंने बड़ी चालाकी से राजा के सौजन्य का लाभ उठाकर उन्हें इस बात के लिए तय्यार कर लिया कि वे उनकी तरफ से दूत बनकर गुप्त रूप से दमयन्ती के पास जायेंगे और उससे अनुरोध करेंगे कि वह चारों देवताओं में से किसी एक का वरण करे, अन्य का नहीं। नल वचन-बद्ध थे। देवताओं द्वारा दी हुई स्वेच्छानुसार अदृश्य होने की शक्ति से वह दमयन्ती के 'सत-मंजले' महल के भीतर जा पहुँचते हैं। वहाँ लड़की की अतुल लावण्य-लक्ष्मी देखी, तो नल की आँखें फटी की फटी रह गईं। उधर एकाएक अपने कमरे में घुसे मदन-जैसे एक अतिसुन्दर, अजनबी युवा को सामने खड़ा देखा तो राजकुमारी भी अवाक् रह गई, सुध-बुध भूल बैठी। पूछने पर आगन्तुक ने अपने को देवताओं का दूत बताया और दमयन्ती से अनुरोध किया कि वह नल का स्वप्न देखना छोड़कर इन्द्रादि चार देवताओं में किसी एक को वरे, अन्यथा कुपित हुए वे उस पर मुसीबत ढा देंगे। लड़की देखा तो पहले ही नल को अपना हृदय अर्पित कर चुकी थी। जब उसने अपना आराध्य देव मर्त्य ही बना लिया, तो अमर्त्य देवों का वह क्या करती। वह टस से मस नहीं हुई। किन्तु देवताओं द्वारा दी जाने वाली मुसीबत की बात सुनकर वह चौंक पड़ी और तत्काल दूत के आगे बुरी तरह से रो पड़ी। उसकी आँखों में झड़ी लगी देख अन्त में दयावश नल अपनी असलियत राजकुमारी को बता देते हैं कि मैं ही नल हूँ। वापस आकर उन्होंने अपने दौत्य-कर्म की असफलता की सूचना देवताओं को दे दी। इससे पूर्व इन्द्र आदि ने अपनी दूती भी उपहारों के साथ दमयन्ती को अपने अनुकूल बनाने हेतु भेजी थी। वह भी विफल होकर लौट आई थीं।

दूसरे दिन स्वयंवर आरम्भ हुआ। अन्यान्य राजाओं के साथ खूब सजे-धजे चारों देवता नल का रूप धारण किये बैठे हुए थे। निज सौन्दर्य-प्रभा द्वारा राजगणों की आँखों को चौंधियाती हुई भूलोक की उर्वशी दमयन्ती ने स्वयंवर स्थल में प्रवेश किया। विष्णु द्वारा परिचायिकाके रूप में भेजी, अपना रूप बदले सरस्वती उसके आगे-आगे थी। वह एक-एक करके राजाओं का परिचय देती जा रही थी और स्वयंवर-वधू एक-एक करके उन सबको छोड़ती जा रही थी। अन्त में जब एक-साथ पाँच नलों को देखती है तो दमयन्ती हैरान हो जाती है। सरस्वती देवताओं का छल जाने हुए है। वह चाहती तो उन 'छिपे रुस्तमों' की पोल खोल सकती थी, लेकिन भय के मारे देव-रूप में उनका असली परिचय न दे सकी। उनका परिचय देने में वह ऐसी श्लेष-गर्भित भाषा का प्रयोग करती है

कि जो इन्द्रादि देवों और नल–दोनों ओर लग जाती है। इस पर बेचारी दमयन्ती असमञ्जस में पड़ जाती है और जान नहीं पाती है कि असली नल कौन है, जिसपर वह जयमाला डाल सके। अन्त में विषाद और चिन्ता में डूबी वह भरी सभा में इन्द्रादि चारों देवों की करुणा-भरी प्रार्थना करने लगती है। इससे देवों का हृदय कुछ पिघल जाता है और वे निर्निमेषता आदि अपने कुछ भेदक चिह्नों को प्रकट कर बैठते हैं। प्रसन्न हुई राजकुमारी अवशिष्ट मर्त्य नल के गले में वरमाला डाल देती है। जाते समय अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हुए देव दमयन्ती के सतीत्व से प्रसन्न हो उसके वृत पति को अपना-अपना वर देते हैं। सरस्वती भी अपने असली रूप में आकर वर-वधू को आशीष देकर चली जाती है।

अब विधिवत् पाणिग्रहण-संस्कार होना है। शिविर से बड़ी धूमधाम के साथ नल की बारात भीम के राजमहल को चल पड़ी। राजा भीम ने नल और बारातियों के आदर-सत्कार में कोई कोर-कसर नहीं रखी। भोज में खूब चहल-पहल मची रही। भोजन परोसने वाली नवयुवति दासी छोकरियों और नवयुवक बारातियों का परस्पर हास-परिहास और कभी-कभार छेड़छाड देखते ही बनती थी। पाणि-ग्रहण संस्कार सम्पन्न हो जाने पर नल चार-पाँच दिन ससुराल में रहे और बाद को वधू-सहित निषध वापस आ गये।

उधर अपने-अपने स्थान को जाते हुए इन्द्रादि देवों को रास्ते में अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह साथियों को साथ लिये कलि स्वयंवर में जाता हुआ मिल पड़ा। 'स्वयंवर हो चुका है और दमयन्ती ने नल का वरण कर लिया है'—यह समाचार देवताओं से सुनकर कलि क्रोध में आग-बबूला हो उठा। वह चाहता था कि दमयन्ती मुझे वरे। तत्काल उसने दमयन्ती को नल से पृथक् करने की ठान ली, साथ ही उसने और उसके भौतिकवादी साथियों ने देवताओं के आगे वेद-पुराणों ऋषि-मुनियों और आस्तिक दर्शन-शास्त्रों की खूब खिल्ली उड़ाई। बाद को भले ही देवता उनका खण्डन कर चुके थे, देवताओं के मना करने पर भी आखिर दुष्ट कलि बदला लेने विदर्भ का मार्ग छोड़कर निषध का मार्ग पकड़ बैठा और वहाँ पहुँच ही गया।

, राज्य-भार मंत्रियों को सौंप राजा नल का प्रेयसी के साथ अपके 'सौध-भूधर' में हनीमून-आनन्द मास–आरम्भ हो गया। वे दोनों के दोनों अपनी चिर-संचित कामनाओं-आकांक्षाओं और आशा-प्रत्याशाओं को मूर्त रूप देने लगे। युगल के लिए इस ऐन्द्रिय पर्व के दिन स्वप्निल और रातें मधुमयी बनी रहने लगीं। परस्पर की लुका-छिपी, आँखमिचौनी, छेड़-छाड़ मान और अनुनय-विनय आदि प्रणय-लीलाओं और भोग-विलास के नव अनुभव जीवन में सुधारस बरसाने लगे। अभिप्राय यह कि जीवन का भोगपक्ष पूरी तरह काम कर रहा था। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी नल ने नियम-पूर्वक अपनी धार्मिक क्रियाओं एवं देवी-देवताओं की अर्चना-पूजना से कभी मुँह नहीं मोड़ा। हमेशा धर्म और कर्तव्य-निष्ठ रहे, हालांकि विभीतक वृक्ष पर बैठे क्रूर कलि की कुटिल आँख राजा के किसी धर्मभ्रंश के क्षण को आतुरता से एकटक बराबर देखती रहती थी।

कथानक की अपूर्णता और उसका निराकरण—कुछ आलोचकों का कहना है कि नैषधीय

चरित में हमें नल का आंशिक चरित ही मिलता है, पूरा नहीं। इसमें दमयन्ती के साथ नल के विवाह तथा कुछ समय तक उनके आमोद-प्रमोद तक का ही कथा है। आगे का कलिप्रभावित, विपत्ति-भरा, लम्बा-चौड़ा चरित नहीं है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि श्रीहर्ष का यह उपलब्ध काव्य ग्रन्थ अपने में अधूरा है; इसका शेष भाग, जो कई सर्गों में कवि ने लिखा होगा, लुप्त हो गया है। कारण यह कि चरित में सारी ही जीवनी प्रतिपादित है, जीविनी का एकदेश नहीं। यदि विवाह तक ही कथा कवि को विवक्षित होती, तो वह इस काव्य का नाम 'नैषधीय-चरित' क्यों रखता? 'दमयन्ती-स्वयंवर' अथवा 'नल-विवाह' रखता। साथ ही अनपेक्षित कलि-प्रसंग यहाँ क्यों अन्तर्गत करता, जिसका युगल के आमोद-प्रमोद से कोई सम्बन्ध नहीं?

हम उक्त मत से सहमत नहीं हैं। पहली बात तो यह हैं कि काव्य के अन्त में कवि ने श्रीरस्तु नस्तुष्टये' रूप में समाप्ति का मंगल कर रखा है तथा परिशिष्ट श्लोकों में उसने अपनी कृति के सम्बन्ध में लिखकर उसका समापन भी कर दिया है। यदि वे श्लोक प्रक्षिप्त माने जाँय— जैसे कि वे मानते हैं—तो प्रत्येक सर्ग के अन्त में दिये गये कवि के आत्मपरिचय सम्बन्धी अन्य श्लोक भी क्यों प्रक्षिप्त न माने जायँ? फिर तो हम कवि के माता-पिता एवं उसकी कृतियों के सम्बन्ध में अन्धकार में ही पड़े रहेंगे। वे ही प्रामाणिक क्यों? दूसरे, कवि ने अपने श्रीमुख से सर्गों के अधिकतर श्लोकों में अपने काव्य के लिए 'चारु' शब्द का प्रयोग कर रखा है। चारु, उज्ज्वल, शुचि शब्द शृङ्गार-रस के पर्याय हैं। पहले सर्ग के अन्त में 'शृङ्गार-भङ्गया' लिखकर ग्यारहवें सर्ग के अन्त में अपने काव्य को कवि 'शृङ्गारामृतशीतगुः' (शृंगारस-रूप अमृत-भरा चाँद) कह गया है। इससे सिद्ध होता है कि कवि को यह महाकाव्य शृंगारस-प्रधान ही रखना अभीष्ट रहा। उसने इसीलिए इसको स्वयंवर और स्वयंवर के प्रणयि-युगल का शृगार-चित्रण तक ही सीमित रखा। इसमें उसने कलिप्रभावित, शृङ्गार-विरोधी, विपत्ति-पूर्ण उत्तर नल-चरित क्यों वर्णन करना था? तीसरे, यदि नैषध काव्य का कोई अंश अवशिष्ट रहा होता, तो उसके बारह-तेरह टीकाकारों में से कोई भी तो इस सम्बन्ध में कुछ सूचना देता। कवि से थोड़े ही समय बाद के सर्व-प्रथम टीकाकार विद्याधर (१२५०–६० ई० के लगभग) भी चुप हैं। रही चरित शब्द की व्यापकता की बात। चरित शब्द तो एक देश में भी प्रयुक्त हो सकता है। एकदेश और एकदेशी में अभेद-सम्बन्ध कोई नयी बात नहीं। गद्यकाव्य के सम्राट् बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में अपने आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्धन के चरित का एकदेश ही तो लिख रखा है, सारा नहीं। बाण से सम्राट् के प्रशंसकों द्वारा उनके चरित लिखने का अनुरोध करने वालों को उन्होंने स्पष्ट कह रखा है:—"**कः खलु पुरुषायुषशतेनापि शक्नुयादविकलस्य चरितं वर्णयितुम्। एकदेशे तु यदि कुतूहलं वः, सज्जा वयम्**"। तदनुसार एकदेश ही लिखकर बाण ने उसके लिए चरित शब्द का ही प्रयोग किया है। भवभूति ने भी रामचन्द्र की जीवनी का पूर्वार्ध ही लिखकर उसे 'महावीरचरितम्' ही कहा है। फिर नल का एकदेश लिखने पर उसके लिए चरित शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में श्रीहर्ष के विरुद्ध आपत्ति क्यों उठाई जाय? इसी तरह कलि-प्रसङ्ग अन्तर्गत करने के तर्क में भी बल नहीं है। जीवन के आमोद-प्रमोद-पूर्ण उज्ज्वल पक्ष

के बाद नल के जीवन का भविष्यगर्भ-निहित, कलिकृत, संकटमय कृष्णपक्ष भी शेष है जो मेरा विषय नहीं है—इसकी सूचना-मात्र अपने पाठकों को दे देने में हम नहीं समझ पाये कि श्रीहर्ष ने कौन-सा अनुचित काम किया है। काव्य के संविधान में यह लिखा हुआ है—जैसे कि हम आगे बताएँगे—"कवि को प्रत्येक सर्ग के अन्त में अगले सर्ग में आने वाले कथानक की ओर संकेत कर देना चाहिए"। क्या इससे यह ध्वनित नहीं होता कि कवि के काव्य के अन्त में भी कथानक के अवशिष्ट भाग की ओर संकेत कर देना चाहिए ? हमारे मत का समर्थन प्रसिद्ध टीकाकार नारायण ने भी किया है—**महाभारतादौ वर्णितस्याप्युत्तरनलचरित्रस्य नीरसत्वान्नायकानुदयवर्णनेन रसभङ्गसद्भावाच्चोत्तरचरित्रं श्रीहर्षेण न वर्णितम्'**। इसलिए हमारे विचार से उपलब्ध नैषध काव्य का कथानक अपने में पूरा ही है, अधूरा नहीं। काव्य भी पूरा ही है, अंशतः लुप्त नहीं।

कथानक का मूल-स्रोत और कविकृत परिवर्तन—वैसे तो नल-दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा ब्राह्मण-ग्रन्थों से लेकर मत्स्य, पद्म, वायु आदि पुराणों एवं परवर्ती कथासरित्सागर आदि कथा-ग्रन्थों में भी मिलती है, किन्तु विस्तार के साथ यह मुख्यतः महाभारत में आई हुई है जिसे बृहदश्व युधिष्ठिर को सुना रहे हैं। यह वनपर्व में ५३ से लेकर ७९ तक २७ अध्यायों में 'नलोपाख्यान' नाम से प्रसिद्ध है। यही उपाख्यान श्रीहर्ष ने अपने नैषध महाकाव्य के मूल-स्रोत रूप में अपनाया है। इसकी स्वयंवर तक की कथा महाभारत के ५३ से ५७ तक केवल पाँच अध्यायों के १६६ श्लोकों में आई हुई है जबकि कवि ने कल्पना-शक्ति द्वारा अपनी तरफ से इधर-उधर कुछ और जोड़कर इसका २२ सर्गों के अन्तर्गत २८०४ श्लोकों में विस्तार कर रखा है। सच पूछो तो कवि का काम इतिवृत्त मात्र बताना नहीं होता। वह तो इतिहासकार का काम है। व्यक्ति-विवेककार ने ठीक ही कहा है—**'न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः, इतिहासादेव तत्सिद्धेः'**। कवि तो अवलम्ब-मात्र हेतु इतिहास का आँचल पकड़ता है; अपनी कल्पना-परी को उड़ानें भरने देने के लिए इतिहास की धरा पर एक छोटा-सा 'रन-वे' हवाई-पट्टी–चाहता है जहाँ से उड़कर वह अपने 'करिश्मे'–नैपुण्य-भरे करतब–दिखा सके अथवा यों समझ लीजिए कि इतिहास अतीत के गर्भ-गत गर्तों में दबे पड़े नर-कंकालों का एक संग्रहालय है, जहाँ से कवि अभिप्रेत कुछ कंकाल बाहर निकाल लेता है, उनमें कल्पना-शक्ति द्वारा रुधिर-मांस भरता है, फिर रस की प्राणप्रतिष्ठा करके हमारे आगे इस प्रकार जीवन्त रूप में खड़ा कर देता है कि देखते ही हृदय आनन्द-विभोर हो उठता है। इसी में कवि के कवित्व की अर्थवत्ता निहित है। कालिदास, भारवि, बाण आदि सभी कलाकार ऐसा करते आये हैं। श्रीहर्ष ने भी ऐसा ही किया। वे निष्प्राणों के प्राण-प्रतिष्ठापक हैं, नीरसों के रस-स्रष्टा हैं। उन्होंने महाभारत से उक्त कथा-कंकाल निकाला और निज नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा और उर्वर कल्पना-शक्ति द्वारा उसे—उन्हीं के शब्दों में—'**शृङ्गारामृतशीतगुः**' अथवा '**अमृत-भरे क्षीरोदन्वान्**' में परिणत कर दिया। इस प्रक्रिया में उन्हें बहुत कुछ अपनी तरफ से जोड़ना पड़ा। ६, ७, १५, १९, २०, २१ सर्गों का प्रतिपाद्य महाभारत में कहीं नहीं है। इसी तरह १० से १४ तक पाँच सर्गों में स्वयंवर का विस्तृत-विवरण, उसमें भोजन के समय हास्य-रस की सृष्टि कवि

की अपनी चीज़ है। सरस्वती को रूप बदले परिचारिका बनाना भी मूल कथा में कहीं नहीं है। वह कवि-कल्पना है, अन्यथा विदर्भ में कौन ऐसी सर्वज्ञ स्त्री थी जो इतने सारे अजनवी राजों का परिचय देती? कलि के भौतिकवादी अनुयायियों द्वारा आस्तिकों, उनके धर्म, धर्म-प्रवर्तकों एवं साहित्य पर कीचड़ उछालना और बाद को देवताओं द्वारा समर्थन तथा अन्तिम सर्गों में वर्णित विवाहित युगल का ऐन्द्रिक्य अथवा भोगविलास के चित्र अथवा 'शृंगारोदन्वान्' का सतत प्रवाह सब कवि के अपने ही मस्तिष्क के निर्माण हैं। दूर क्यों जावें? काव्य का प्रारम्भ ही देखिए—राजा नल का उदात्त चरित्र, उनके और दमयन्ती के मध्य **'पूर्वराग'** की दस कामदशायें, नल का घोड़ा, उद्यान, सरोवर, नल और हंस के मध्य करुणारस-भरा विस्तृत वार्तालाप, कुण्डननगरी, चन्द्र और मदन को दमयन्ती-कृत मार्मिक उपालम्भ दमयन्ती के महल में अदृश्य नल की स्त्रियों से टक्करें इत्यादि—इनके बिम्बग्राही अनोखे शब्दचित्र भला मूलकथा में कहाँ हैं? ये सब कविकल्पना-प्रसूत ही हैं। मूल में राजा नल हंस से दमयन्ती-प्राप्ति के कार्य में सहायता देने का वचन लेने के बाद छोड़ देते हैं, किन्तु कवि की दृष्टि में यह राजा की स्वार्थपरता दीखती है, जो उनके उस उदात्त चरित्र पर अच्छा प्रभाव नहीं डालती, जिसके अनुसार वे दमयन्ती से नल को छोड़कर इन्द्रादि देवताओं में से किसी एक को वरने का अनुरोध करके अपने हृदय की विशालता और उदारता का परिचय देते हैं। कवि करुणा-वश ही राजा से हंस को छुड़वाता है और सौजन्य-वश हंस स्वयं ही राजा को सहायता का वचन देता है। इस परिवर्तन से कवि ने राजा और हंस दोनों का चरित्र ऊँचा उठाया है। मूल में स्वर्णिल हंस कितने ही होते हैं, जिनमें से राजा एक को पकड़ कर बाद को उसे छोड़ देता है। तत्पश्चात् सभी हंस कुण्डननगरी को जाते हैं जिनमें से दमयन्ती और उसकी सखियाँ अलग-अलग एक-एक हंस को पकड़ने लगती हैं, परन्तु कवि को यह घटना-क्रम पसंद नहीं। दौत्य-कर्म में निहित रहस्य की दृष्टि से वह एक ही हंस को भेजता है[1], जो सखियों की मण्डली में से राजकुमारी को दूर ले जाकर तब एकान्त में उससे नल-विषयक बातें करवाता है। मूल में दमयन्ती की विरहावस्था का हाल सखियाँ उसके पिता राजा भीम को कहती हैं, किन्तु यहाँ पिता स्वयं ही हाल देख जाता है जो औचित्य की दृष्टि से कवि को ठीक लगा। इसी तरह मूल में देव-दूत बनकर नल महल में जाते ही अपने को 'मैं नल हूँ' कह बैठते हैं, जबकि यहाँ वह अपने व्यक्तित्व को दूत के छद्म में छिपाये दमयन्ती से और दमयन्ती उनसे खुलकर लम्बी चौड़ी बातें करती है। जब दमयन्ती उनके आगे रो पड़ती है, तब जाकर नल अपनी असलियत प्रकट करते हैं। यह स्थिति दौत्य कर्म से ठीक संगत हो जाती है। यदि दमयन्ती आगन्तुक को पहले ही प्रियतम जान लेती, तो 'पहली मुलाकात' में क्या उसे सात्त्विक भाव नहीं होते? उसे स्वेद, स्तम्भ अथवा स्वर-भंग हो जाती। वह सहम जाती। लजा जाती। वैसी अवस्था में भला वह खुलकर प्रियतम से वे लंबी चौड़ी बातें कैसे कर पाती जो उसने दूत-रूप में आये हुए आगन्तुक से की है। साथ ही राजा नल के भीतर उठा स्वार्थ और कर्तव्य के बीच का संघर्ष कवि कैसे हमारे आगे रखता? ऐसी अन्य भी

१—'हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः' (३.१८)।

बहुत सारी कई बातें हैं जिनमें कवि ने औचित्य एवं रस-निष्पत्ति की दृष्टि से कल्पना द्वारा हेरफेर कर रखे हैं। वास्तव में मूल तो प्रेरणा-स्रोत होता है। उसके ऊपर खड़ी की गई कवि की सारी सृष्टि सामान्यतः स्वोपज्ञ ही हुआ करती है। यदि कवि स्वोपज्ञ सृष्टि नहीं रच सकता, कल्पना की ऊँची उड़ानें भरकर सहृदयों के हृदयों में 'रसोद्न्वान्' नहीं खोला सकता, वस्तु के धरातल से ही चिपका रहता है, तो वह कवि नहीं, कुछ और है।

काव्य का उद्भव और विकास—नैषध काव्य और श्रीहर्ष के कलावैशिष्ट्य पर लिखने से पूर्व यहाँ काव्य के उद्भव और विकास के इतिहास पर एक विहंगम-दृष्टि डालना हमारे विचार से अप्रासङ्गिक न होगा। जहाँ तक काव्य के उद्भव का सम्बन्ध है, कौन विद्वान् स्वीकार नहीं करेगा कि संस्कृत साहित्य की अन्य विधाओं की तरह काव्य-विधा का भी उद्भव-स्थान वेद हैं, जो **'कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्'** की कविता है और जहाँ उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि अलंकार एवं लक्षणा व्यञ्जना आदि काव्य-सामग्री बिखरी पड़ी है। वेद-व्याख्याता यास्काचार्य ने वेदों में उपमा के कितने ही भेद गिना रखे हैं। सरल, प्राञ्जल भाषा में लिखे इन्द्र-इन्द्राणी, श्रद्धा-मनु, उर्वशी-पुरुरवा आदि के प्रणय-स्नात, विस्तृत आख्यानों वाले वैदिक सूक्त क्या अपने भीतर काव्य के मूल-तत्त्व छिपाये नहीं रखे हुए हैं? हिन्दी के प्रसिद्ध कवि जयशंकर प्रसाद ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने अपने महाकाव्य **'कामायनी'** के लिए मूल-सूत्र श्रद्धा-मनुविषयक वैदिक आख्यान से ही बटोरे हैं। वैदिक ऋषियों से प्राप्त दाय की पृष्ठभूमि पर लौकिक संस्कृत के आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने अपना आदिमहाकाव्य रामायण रचा, जिसमें वेदों की-सी सरल-सुबोध, प्रसाद गुण-गुम्फित, प्राञ्जल, स्वाभाविक भाषा के दर्शन होते हैं और मानव-प्रकृति के साथ-साथ मानवेतर प्रकृति का भी वेदों का-सा सूक्ष्म निरीक्षण मिलता है। काव्य के भाव-पक्ष के प्रधान होने पर भी इसका कला पक्ष भी अपने स्वाभाविक रूप में आये हुए उपमा, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति आदि सादृश्य-मूलक अर्थालंकारों की रमणीयता से खाली नहीं है। अभिप्राय यह कि निर्व्याज, सरल स्वभाव की आश्रम-कन्याओं की तरह काव्य-कन्या का जन्म भी आश्रम में प्रकृति माता की गोद में हुआ।

रामायण के बाद धीरे धीरे काव्य का विकास होने लगा। पाणिनि के लिखे **'पाताल-विजय'** और **'जाम्बवती-विजय'**[1] काव्यों का हम नाम ही नाम सुनते हैं। कहते हैं कि प्रसिद्ध वार्तिककार कात्यायन मुनि ने भी महाभाष्य में पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित **'वाररुचं काव्यम्'** लिखा था। प्रसिद्ध नाटककार भास के सम्बन्ध में भी सुनते हैं कि उन्होंने भी **'विष्णुधर्म'** नामक काव्य की रचना की थी। शार्ङ्गधर आदि सुभाषित-ग्रंथों में भास के कितने ही ऐसे श्लोक मिलते हैं जो उनके नाटकों में नहीं आते। वे भास के किन्हीं काव्य-ग्रन्थों से उद्धृत किए गये होंगे, लेकिन दुर्भाग्य से सब काल-कवलित हो गये हैं। इसलिए काव्य-विकास की इस मध्यवर्ती कड़ी के हमसे एकदम गायब हो जाने के कारण हम उसके तत्कालीन विकास-स्वरूप और प्रगति को नहीं जान सकते।

१—स्वस्ति पाणिनये तस्मै येन **रुद्रप्रसादतः**।
आदौ व्याकरणं प्रोक्तं ततो **जाम्बवतीजयम्**॥

बहुत समय बाद काव्य-कन्या को हम अपनी शैशवावस्था में से गुजर कर सहसा यौवनावस्था में पदार्पण किये पाते हैं। यह समय कालिदास, अश्वघोष और बाणभट्ट आदि कवियों का है। जयदेव कवि ने 'कविकुलगुरु कालिदास' को 'कविता-कामिनी का विलास', बाण को 'हृदय में वास किये पञ्चबाण' और हर्ष को 'हर्ष' कहा है। इससे पूर्व भास आदि प्राचीन कलाकारों के समय में अन्तर्जगत् की वृत्तियाँ—रति आदि भाव—अपने यथास्थित, मौलिक बौद्धिक रूप में ही वर्णना के विषय होते थे, चर्वणा के नहीं। तब तक रस-सिद्धान्त की स्थापना नहीं हुई थी। यह तो भरत मुनि ही हुए, जिन्होंने बाद को अपने '**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रस-निष्पत्तिः**' वाले मूल-सूत्र से साहित्य क्षेत्र में रसवाद की अवतारणा की। विभावादि सामग्री से विभावित अनुभावित और सञ्चारित हृद्-गत रत्यादि भावों को अलौकिक साधारणीकरण व्यापार द्वारा प्रेक्षकों, श्रोताओं अथवा पाठकों के साथ एकीकृत करके उन्हें 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' आनन्द में विभार कर देने की प्रक्रिया कवि-लोगों को भरत मुनि ने ही बताई है। इसी को चर्वणा अथवा रस भी कहते हैं। यही काव्य की रागात्मक अनुभूति भी कही जाती है। फलतः इसने उक्त सामग्री बटोरने हेतु कलाकारों में कल्पना-शक्ति को प्रोत्साहन दिया और उसे उभारा। इससे काव्य-स्वरूप भी बदल गया अब रस ही काव्य का जीवातु अथवा आत्मा बना और इसी की अभिव्यक्ति काव्यकारों का लक्ष्य बनी। कला-पक्ष गौण रहा। कालिदास ने वाल्मीकि से प्रकृति की पृष्ठभूमि एवं भाषा का माधुर्य और प्रसाद गुण तथा भरत से नये रसवाद की दाय लेकर अपना कला-सृजन किया। कालिदास मुख्यतः शृङ्गारी कवि रहे, जिनके अपनी कला-तूलिका से नाना रंगों में खींचे, अनोखे शृङ्गार-चित्र संस्कृत-साहित्य की अमूल्य निधि बने हुए हैं। अश्वघोष ने भी अपने 'सौन्दरनन्द' काव्य के आरम्भ में अच्छे-अच्छे शृङ्गारिक चित्र खींच रखे हैं, लेकिन बाद में वे सिद्धान्त-प्रचार के चक्कर में फँस गये और अपनी सरसता खो बैठे। वे भूल गये कि काव्य संवेदन की चीज है, शुष्क प्रचार की नहीं।

रसवाद काव्य-क्षेत्र में अपनी धाक जमाये चला आ रहा था। 'ध्वनिप्रतिष्ठापनाचार्य' आनन्दवर्धन ने रस-तत्त्व को ध्वनि के भीतर समाहित करके उसका महत्त्व कम नहीं होने दिया। आचार्य मम्मट और विश्वनाथ आदि भी मुख्यतः रस-समर्थक ही रहे। किन्तु कुछ समय बाद सहसा रसवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उभर उठीं। भामह, दण्डी आदि द्वारा पूर्व प्रचालित अलंकार-सम्प्रदाय, जिसका स्वर रसवाद ने दबा दिया था, एकदम मुखर हो गया। 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का डिंडिम पीटने वाले कुन्तक और वामन इस आन्दोलन के नये नेता थे। काव्य-कला ने एकदम करवट बदल ली। फलतः रस अपना स्थान खो बैठा और अलंकार-सम्प्रदाय काव्यक्षेत्र पर छा गया। कवि-कर्म की इतिकर्तव्यता अब काव्य के भाव-पक्ष अथवा रस-पक्ष के स्थान में अधिकतर उसके कला-पक्ष शरीर को सजाने-सँवारने में समाप्त होने लगी अथवा यों समझ लीजिये कि कवियों की दृष्टि कविता-कामिनी के हृदय से हटकर उसके मस्तिष्क, शरीर, अवयव-गठन और वेष-भूषा पर जा टिकी। वैचित्र्य-भरा बाहरी बनाव-ठनाव और तड़क-भड़क सौन्दर्य बन गई, अनुभूति और संवेदन गौण हो चले। इसका परिणाम यह हुआ कि कलाकार हृदय खोकर मस्तिष्क-प्रधान हो गया। रसवादी कालिदास के बाद उभरी इन नवीन काव्यीय प्रवृत्तियों और

मूल्यों को सबसे पहले अपनाने का श्रेय हम भारवि (६०० ई०) को देंगे, जिन्होंने अपना 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य इसी नये कलावादी मान-दंड से रचा। वे इस युग के आदि प्रतिनिधि-कवि हैं। कलावादी सरणि के उद्भावक हैं। बाद को माघ (७०० ई०) ने भी उनके ही बताये मार्ग का अनुसरण करके अपने 'शिशुपालवध' महाकाव्य का प्रणयन किया, यद्यपि कला की दृष्टि से भारवि की अपेक्षा अपने कवि-कर्म में वे कितने ही आगे बढ़ गये और काव्य का कलापक्ष-स्तर काफी ऊँचा उठा गये।

इसके अतिरिक्त, कालिदास आदि पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों को आधार बनाकर साहित्य-शास्त्रियों ने अब काव्य के लक्षण-ग्रन्थ भी लिख डाले थे। काव्य का संविधान बन गया। जिसकी विभिन्न धाराओं ने काव्य की खुली स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिये। काव्य अब ढाँचा-बद्ध, रूढ़ वस्तु बन गया। इसके शिल्प का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार हो गया—'महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए, सर्ग न बहुत छोटे और न बहुत बड़े हों; एक सर्ग में एक वृत्त चलना चाहिए लेकिन अन्त में वृत्त बदल दें; (सर्ग आठ से अधिक हों,) कथा-नायक कोई धीरोदात्त क्षत्रिय हो, या बहुत से कथा-नायक भी बन सकते हैं, शृंगार, वीर और शान्त—इन रसों में से कोई एक अङ्गी रस और शेष अङ्ग रस बनने चाहिए; रण, प्रयाण, विवाह आदि घटनाओं का वर्णन हो; बीच-बीच में नियम से प्रातःकाल सन्ध्या, रात्रि, वन, पर्वत, समुद्र आदि प्रकृति-तत्त्वों का चित्रण चलता रहना चाहिए' इत्यादि, इत्यादि। भारवि, माघ आदि ने अपनी रचनायें इसी चार-दीवारी के भीतर की हैं। यह था काव्य का पर्यावरण अथवा पृष्ठभूमि अथवा विकसित रूप जब हमारे कवि श्रीहर्ष इस क्षेत्र में उतरे थे।

श्रीहर्ष का कलावैशिष्ट्य—शिल्प की दृष्टि से श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित' महाकाव्यों के अन्तर्गत आता है, जिसका स्वरूप हम पीछे बता आये हैं और जिसके पीछे भले ही वे अक्षरशः न भी चले हों। यह कलावादी सरणि की रचना है, जिसके उद्भावक भारवि थे। इस नवीन सरणि में लिखे भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपाल-वध' और श्रीहर्ष का 'नैषधीयचरित'—ये तीन प्रसिद्ध रचनायें आती हैं, जिन्हें साहित्य में 'बृहत्-त्रयी' नाम से पुकारा जाता है। इस सरणी को जहाँ भारवि ने उद्भावना की और इसे काव्य-क्षेत्र में उतारा, माघ ने इसका परिष्कार करके विकासोन्मुख किया, वहाँ श्रीहर्ष ने इसे विकास की चरम सीमा में पहुँचाया। इसीलिए संस्कृत-जगत् में लोकोक्ति ही चल पड़ी है—

> 'तावद् भा भारवेर्भाति यावन् माघस्य नोदयः।
> उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

वस्तुतः अलंकृत शैली की सब से उत्कृष्ट, सबसे बड़ी और अन्तिम रचना नैषध ही है।

हम देखते हैं कि कालिदास रघुवंश में एक राजा नहीं, प्रत्युत सारे ही रघुवंशीय राजाओं को भुगता गये। एक ये श्रीहर्ष हैं, जो इतना बड़ा महाकाव्य लिख गये और राजा नल के चरित के एक-देश का ही चित्रण कर पाये, बाकी छोड़ गये। वास्तविकता यह है कि अन्य कलावादियों की तरह श्रीहर्ष भी—जैसे कि कलावादी सरणि की यह अपनी निजी विशेषता है—वर्णनों के चक्कर में पड़

गये। हमें ऐसा लगता है कि जैसे इन्होंने इस विषय में गद्य-सम्राट् बाणभट्ट को अपना गुरु बनाया हो, जो किसी भी वस्तु के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए अथवा उसके बाल की खाल उतारने के लिए संस्कृत जगत् में ख्यात हैं। वर्णन की यह प्रक्रिया व्यासात्मक अथवा विश्लेषणात्मक (Analytic) कहलाती है। इसके अनुसार कवि 'सर्जन'-जैसा बनकर वर्ण्य विषय का इस तरह 'आपरेशन' करके उसका कतरा-कतरा हमारे आगे रख देता है, जिससे कि उसका कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहने पाता'। श्रीहर्ष ने भी यही किया है। प्रारम्भ में नल और दमयन्ती का चित्रण ही देख लीजिए। उनका कोई गुण अथवा अङ्ग-प्रत्यङ्ग अछूता नहीं रहने पाया। आदि के श्लोक में कवि ने नल के कीर्तिमण्डल को उसका स्वाभाविक श्वेत छत्र बनाया था, किन्तु छत्र बिना दंड के नहीं होता है। इस कमी को वह झट दूसरे श्लोक में राजा के ज्वलन्त प्रताप को स्वर्ण दंड का रूप देकर पूरा कर गया भले ही इसमें छत्र पुनरुक्त क्यों न हो गया हो। यही हाल नल के घोड़े, प्रमोदवन, सरोवर, कुण्डनपुरी आदि का भी समझ लीजिए। हमें ऐसा लगता है कि श्रीहर्ष ही नहीं, बल्कि कला-सरणि के सभी कवि किसी भी वर्ण्य विषय के अन्तर्गत उसके छोटे-बड़े सभी तथ्यों को पहले अपने मस्तिष्क में एक सूची-जैसी तय्यार कर लेते हैं, फिर एक-एक करके उनको अपने हाथ में लेते रहते हैं और क्रमशः वर्णन करते रहते हैं भले ही उनके इन लम्बे-लम्बे वर्णनों के जंगलों में कथा-वस्तु अवरुद्ध सी होकर जूँ की चाल से भी कम क्यों न सरकती रहे। नैषध के पाठक देखेंगे कि जब भी कवि का हृदय अपने किसी वर्णन से नहीं अघाता, तो वह वर्ण्य को फिर पकड़ लेता है। दमयन्ती का ही वर्णन ले लें। वह पहले हंस के मुख से (सर्ग २), फिर नल के मुख से (सर्ग ७), फिर सीधे अपने ही श्रीमुख से (सर्ग १५) और अन्त में फिर नल के मुख से कितनी ही बार उसका वर्णन कर चुका है। यही बात नल के सम्बन्ध में भी है। यह सब उसकी प्रतिभा और कल्पना-शक्ति की ही तो महिमा है। किन्तु यह देखकर आपको आश्चर्य होगा कि दोबारा, तिबारा खींचे हुए उसके सभी चित्र पहले से बिलकुल ही भिन्न और एकदम नये मिलेंगे, जिनमें बोरियत या उकताहट का नाम नहीं, बल्कि उत्सुकता ही बढ़ती है। नल के एक चौथाई चरित को ही लेकर जब कवि उसे इतना लंबा खींचकर ले गया तो यदि वह सारा ही चरित लिखता तो वह महाभारत की तरह कितना महा-भारवान् बन जाता—स्वयं अटकल लगा लीजिये।

हाँ, श्रीहर्ष के सम्बन्ध में कलावादी सरणि को ज्ञातव्य एक बात और है। पाश्चात्य साहित्य-जगत् पर आजकल इटली के प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री क्रोचे का वह नया सिद्धान्त छाया हुआ है कि काव्यीय सौन्दर्य का सम्बन्ध प्रत्यक्ष जगत् से नहीं, अन्तर्जगत् से रहता है अर्थात् लौकिक वस्तु अपने आप में सुन्दर नहीं होती, बल्कि कवि का अन्तर्ज्ञान अथवा स्वयंप्रकाश्य बोध (Intuition) कल्पना शक्ति द्वारा उसे सौन्दर्य का बाना पहना देता है। शब्दान्तर में, यह समझ लें कि सौन्दर्य कलाकार की वर्णना अथवा अभिव्यञ्जना (Expression) में निहित होता है। वस्तु में नहीं। इसे 'अभिव्यञ्जनावाद' कहते हैं। किन्तु भारतीय साहित्यिकों के लिए यह कोई नया वाद नहीं है। हमारी कलावादी सरणि का तो मूलाधार ही यह है। कुन्तक का वक्रोक्तिवाद शब्दान्तर में

अभिव्यञ्जनावाद नहीं, तो और क्या है ? नाममात्र का अन्तर है। वक्रोक्ति—कुन्तक के ही शब्दों में—"प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा"—अर्थात् वर्ण्य का असाधारण प्रकार से वैचित्र्य अथवा सौन्दर्य-भरा अभिधान (Expression) या चित्रण। श्रीहर्ष ने अपने सरस्वती-प्रदत्त, स्वयं-प्रकाश्य बोध के आधार पर ही तो कल्पना-शक्ति द्वारा अपने वर्ण्यों के सौन्दर्य-चित्र खींचे हैं भले ही वे वर्ण्य उतने सुन्दर हों, न हों। प्रसिद्ध पाश्चात्त्य कवि शैली के शब्दों में :—

"Poetry turns all things to Loveliness. it exalts the beauty of that Which is most beautiful, and it adds beauty to that which is most deformed" [A Defence of poetry]

अर्थात् "कविता सभी वस्तुओं को सुन्दरता में परिणत कर देती है, यह सुन्दरतम की सुन्दरता को और ऊपर उठा देती है और यह भद्दे से भी भद्दे पर सुन्दरता मढ़ देती है"।

श्रीहर्ष के कला-वैशिष्ट्य की दूसरी बात है उनमें अन्य कलावादी कवियों की तरह अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन का अभिनिवेश। विद्याभिमानी वे थे ही। क्यों चुप रहते ? भारवि और माघ ने जहाँ प्रारम्भिक सर्गों में राजनीति-शास्त्र की गुत्थियाँ सुलझाई, वहाँ श्रीहर्ष ने ऐसी कौन-सी विद्या अथवा शास्त्र है, जिसे अपने काव्य-फलक पर न उतारा हो। शिक्षा-शास्त्र ही ले लीजिए, जिसका वेदाङ्गों में सबसे पहला स्थान है और उनके व्यवस्थित उच्चारणों से सम्बन्ध रखता है। नल की राजधानी में हजार शाखाओं वाले[1] वेदों का पाठ करने में लगे हुए लोगों में प्रणवोच्चारणपूर्वक मन्त्रों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों एवं क्रम-पाठ[2] को क्या मजाल कि कलि कोई गलती निकाल सके।

वेदांगों में दूसरा स्थान कल्प का है, जो यज्ञ तथा यज्ञ-विधिविधान-परक होता है। नगर में कहीं सोमयाग[3], तो कहीं सामयाग[4]; कहीं सर्वस्वार[5] यज्ञ, तो कहीं महाव्रत[6] यज्ञ; कहीं सर्वमेध[7], तो कहीं अश्वमेध[8]—इत्यादि कई यज्ञ देखकर कलि दंग रह जाता है। पाठकों का भी पता चल जाता है कि कवि को वैदिक यज्ञों तथा उनके विधि-विधानों का कितना गहरा ज्ञान है।

अब हम व्याकरण लेते हैं ! इस विषय में तो कवि ने खूब रुचि दिखाई है। कहीं तो भाषा ही उसकी वैयाकरणी बनी हुई है, जैसे—'गमिकर्मीकृतनैकनीवृता' (२।४०)। 'अलम्' और 'खलु' अव्यय 'क्त्वा' प्रत्यय के साथ निषेधार्थक बन जाते[9] हैं, इसके उदाहरण एक ही श्लोक में देखिए—अलं विलङ्घ्य···कृत्वापि···वाग्यम्···खलु स्खलित्वा···खेलात्' (३।८४)। इसी तरह किसी वस्तु के दूसरे के अधीन कर देने में पाणिनि[10] के 'त्रा' और 'सात्' के उदाहरण हमें 'विबुधत्रजत्रा कृत्वा···श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः' (३।२४) इस एक ही श्लोक में मिल जाते

१—१६।१० । २—१७।१६४ । ३—१७।१९६ । ४—१७।१९४ ।
५—१७।२०२ । ६—१७।२०३ । ७—१७।१८६ । ८—१७।२०४ ।
९—'अलं-खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' (३।४।१८)
१०—'देये च त्रा च' (५।४।५५)। 'तदधीनवचने' (५।४।५४)।

हैं। व्याकरण का नियम है—'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते'। ऐसा लगता है कि इसी को मन में रखकर जैसे कवि ने निम्नलिखित श्लोक बनाया हो—

'अधित कापि मुखे सलिलं सखी,
व्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ।
व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं,
न्यधित कापि हिमं सुतनोस्तनौ ॥ (४।१११)

कहीं प्रस्तुत रूप में न सही तो अप्रस्तुत रूप में ही श्रीहर्ष अपना व्याकरण ध्वनित कर देते हैं, जैसे—

'क्रियेत चेत् साधु-विभक्तिचिन्ता,
व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाऽभिधेया।
या स्वौजसां साधयितुं विलासै-
स्तावत्क्षमानामपदं बहु स्यात् ॥ ३।२३)

यहाँ प्रस्तुत नल-वर्णन पर प्रथमा विभक्ति के सु, औ, जस् (एक ब०, द्वि ब०, बहु ब०) प्रत्ययों के लोप-दीर्घ आदि विलासों से प्रत्येक प्रातिपादिक शब्द को पद में परिणत करने की क्षमता का अप्रस्तुत व्याकरण व्यवहार-समारोप हो रहा है। कहीं-कहीं श्रीहर्ष साम्य-विधान में उपमा और उत्प्रेक्षा तक को व्याकरण के भीतर ढूँढ़ लेते हैं, जैसे—

सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियाद-
स्तां पत्युरेत्य नगरीं नगरीजपुण्याः।
भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य,
भोमोद्भवे भवतिभावमिवास्तिधातुः ॥ ११।११७ ॥

स्वयंवर में काशीनरेश का परिचय देते हुए सरस्वती उनको काशी के सम्बन्ध में कह रही है कि यह वह नगरी है, जहाँ पहुँच कर संसार-सागर के प्राणी वहाँ स्थित शिव के साथ इस तरह शिव रूप बन जाते हैं जैसे कि 'अस् धातु अद्यतन भूतकाल के लुङ् में पहुँचकर वहाँ के भू से बने 'अभूत्' के साथ अभूत् रूप[1] बन जाता है। बाली के स्थान में सुग्रीव के राज्याभिषेक पर कालिदास ने भी इसी तरह का वैयाकरण साम्य-विधान कर रखा है—'धातोः स्थानमिवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत्'। अब एक उत्प्रेक्षा भी देखिये। उषा-काल है। पक्षियाँ बोलने लगी हैं। कौआ 'कौ' 'कौ' और पिक 'तुहि', 'तुहि' कर रहे हैं। कवि को इन ध्वनियों में भी व्याकरण ही सूझ रहा है। प्रश्नवाचक 'किम्' शब्द के प्रथमा द्विवचन 'कौ' रूप में मानो कौआ पिक को पूछ रहा है कि दो कौन हैं, जिनके स्थान मे पाणिनीय नियम से तातङ् (आदेश) हो. है? पिक झट उत्तर दे रहा है 'तु हि', 'तु हि' अर्थात् लोट् के प्रथम और मध्यम पुरुष के एक वचन में 'तु' और 'हि' को विकल्प से

१—अस्तेर्भूः (२।४।५२)

आशीर्वाद अर्थ में तातङ् (भवतात , भवताम्) होता है[1] । यह बात इस श्लोक में कही गई है—

'इह किमुषसि पृच्छाशंसिकिंशब्दरूप-
प्रतिनियमितवाचा वायसेनैष पृष्टः ।
'भण पणिभवशास्त्रे तातङः स्थानिनौ का'-
विति विहिततुहीवागुत्तरः कोकिलोऽभूत् ॥ (१९।६०)

चौथा अंग निरुक्त है, जो वेद-पुरुष का श्रोत्र-स्थानीय है और सभी शब्दों की अर्थानुसार निरुक्ति अथवा व्युत्पत्ति सुनना चाहता है । इसके भी श्रीहर्ष ने यत्र-तत्र संकेत दे रखे हैं । ढाक के पुष्प को 'पलाश' क्यों कहते हैं । उत्तर देते हैं—'स्फुटं पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात्' (१।८४) अर्थात् वह विरहियों का पल = मांस खा जाता है, प्रियतमाओं की कटुस्मृति में सुखाकर काँटा बना देता है । इसी तरह अशोक भी एक वृक्ष होता है जिसका फूल कामदेव के पाँच बाणों में आता है । कवि इस अव्युत्पन्न शब्द की निरुक्ति 'न शोको यत्रेति' करके इसका समन्वय इस प्रकार करता है कि अशोक वृक्ष बटोहियों के ऊपर काम द्वारा छोड़े जा रहे (अपने) फूलों के रूप में काम-बाणों को अपने सिर के ऊपर रोक लेता है और अपनी शरण में नीचे बैठे बटोहियों की रक्षा करके उन्हें अशोक = शोक-रहत कर देता है (१।१०१), लेकिन कवि का यह निर्वचन हमारी समझ में नहीं आता, क्योंकि जो अशोक वियोगियों का भक्षक है काम का बाण है, वह रक्षक कैसे बन सकता है ? हमारे विचार से 'न शोको यस्य' यों व्युत्पत्ति ठीक बैठती है अर्थात् अशोक इसलिए अशोक है सैकड़ों बटोहियों के प्राण लेने पर भी उसे जरा भी शोक नहीं होता है उल्टी प्रसन्नता होती है । दम ऋषि के वरदान से राजा भीम के एक पुत्री और तीन पुत्र हुए । ऋषि के नाम की स्मृति बनाये रखने के लिए पिता ने सन्तानों के नाम क्रमशः दमयन्ती, दम, दान्त और दमन रखे । किन्तु दमयन्ती के सम्बन्ध में कवि को यह मान्य नहीं । वह इस नाम की व्युत्पत्ति 'भुवनत्रय-सुभ्रुवां कमनीयतामदं दमयतीति (२।१८) करता है । इसी तरह एक शब्द 'अधर-बिम्ब' है जिसकी व्युत्पत्ति प्रारम्भ से ही तत्पुरुष-प्रधान अर्थात् 'अधरो बिम्ब इव' की जाती आ रही है, किन्तु कवि को यह स्वीकार नहीं । वह दमयन्ती के अधर-बिम्ब को लेकर व्युत्पत्ति बहुव्रीहि-प्रधान अर्थात् 'अधरो निम्नः बिम्बो यस्मात्' कर गया है (२।२४) । चन्द्रमा को द्विजराज कहते हैं और वह इसलिए कि वह द्विजों—नक्षत्रों अथवा तारों का राजा (नक्षत्रेश; ताराधिप) है परन्तु दमयन्ती के माध्यम से कवि इसका खण्डन कर देता है, वह द्विज से दाँत अर्थ लेकर (क्योंकि दाँत दो-दो बार जमते हैं) उससे दाँतों का राजा—दाढ लेते हैं । दाढ़ भी यमराज की । यदि चन्द्रमा यम-दाढ़ नहीं, तो वह क्यों वियोगियों को चबा जाता है ? (४।७२) । इस तरह अन्यत्र भी अर्थानुसार बहुत से शब्द-निर्वचन काव्य में आये हुए हैं ।

अब थोड़ा-सा कवि के छन्द और ज्योतिष ज्ञान को भी लीजिये । छन्द तो काव्य की गति होती है । उसके बिना काव्यशरीर खड़ा ही नहीं हो सकता । गिनती करने पर हमें नैषध में लगभग २०

१—'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (७।१।३५)

छन्द मिले हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—वंशस्थ, वैतालीय, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, इनका सम्मिश्रित रूप उपजाति, द्रुतविलम्बित, स्वागता, दोधक, तोटक, वसन्त-तिलका, मालती, हरिणी, शिखरिणी, रथोद्धता, पृथ्वी, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, मन्दाक्रान्ता और अनुष्टुप्। सभी सर्गों में वैसे तो उपजाति, वैतालीय, वंशस्थ आदि छोटे-छोटे छन्दों का प्रयोग हुआ है, लेकिन सर्गान्तों में छन्द बदल देने के नियमानुसार शिखरिणी, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित—जैसे लम्बे लम्बे छन्दों को कवि खूब काम में लाया है। उन्नीसवाँ सर्ग तो प्रायः हरिणी में ही चलता है, जो लम्बे छन्दों में गिना जाता है। वैतालीय को छोड़कर ये सभी छन्द वर्ण-छन्द हैं, मात्रा-छन्द नहीं। इन छन्दों में श्रीहर्ष ने अच्छा कौशल दिखाया है यद्यपि कठिन और कठोर शब्दों के आ जाने से उनमें कहीं-कहीं सहज माधुर्य और लय की कमी अवश्य अनुभव हो जाती है।

इसी प्रकार कविका ज्योतिष-ज्ञान भी यत्र-तत्र झलक जाता है, जैसे—प्रातःकाल सूर्य के साथ बुध और शुक्र का चलना (१।१७), और विशाखा नक्षत्र का लोप हो जाना (१९।५७), राहु द्वारा चन्द्रमा का ग्रास (४।६४) अमावास्या को चन्द्रमा का सूर्य में विलय (२.५८) क्षीण चन्द्रमा का पापग्रह होना, (४।४२) सम्मुख सूर्य में यात्रानिषेध (३।६) मनुष्यों, देवताओं और ब्रह्मा के दिनों, वर्षों, तथा युगों का परिगणन (४।४४), यात्रा के समय जलपूर्ण कलश और आम्रफल दर्शन का शुभ होना (२।६५-६६) इत्यादि, इत्यादि।

पुराणों और धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में भी थोड़ा-सा देखिये। श्रीहर्ष प्रारम्भ से ही पौराणिक कथाओं का यत्र-तत्र उल्लेख करते आ रहे हैं, जैसे—श्रीकृष्ण का प्रद्युम्न के साथ अनिरुद्ध को छुड़ाने बाणासुर के शोणितपुर को जाना (१।३२), काम द्वारा रति में अनिरुद्ध की उत्पत्ति (१।५४), विष्णु द्वारा वामनावतार धारण कर एक ही पग से आकाश माप लेना (१।७०,१२४), त्रिशंकु को देवताओं द्वारा सशरीर स्वर्ग न आने देने पर विश्वामित्र की नव सृष्टि-निर्माण की धमकी (२।१०२), परोपकार हेतु दधीच द्वारा अस्थियाँ, शिवि द्वारा निज मांस और कर्ण द्वारा निज त्वचादान (३।८५,३.१२९) अगस्त्य द्वारा समुद्र-पान (४।५१,५८) आदि कहाँ तक गिनायें ? स्वयम्बर में सरस्वती द्वारा राजाओं का परिचय देने के प्रसङ्ग में जगत् के सभी समुद्रों, द्वीपों, वर्षों और देशों से सम्बद्ध भूगोल का चित्रण और विष्णु के दश अवतारों तथा सूर्यादि देवताओं का विस्तृत उल्लेख—यह सब कुछ पौराणिक तो है, यहाँ तक कि काव्य का कथानक भी स्वयं पौराणिक पृष्ठाधार पर ही खड़ा हुआ है। धर्मशास्त्र की बातों का भी हम काव्य में यत्र-तत्र उल्लेख पाते हैं, जैसे—अपकारक पशुओं के वध में धर्मशास्त्र की अनुमति (२।९), प्रवास में जा रहे आत्मीयजन को जल-सीमान्त तक छोड़ने जाने का विधान (१।७५, ३।१३१), इष्ट और पूर्त अर्थात् यज्ञानुष्ठान और परोपकार हेतु कुआँ, प्याऊ, धर्मशाला, वृक्षारोपण आदि का विधान (३।२१), दानार्थियों को द्रव्यदान-विधि (५।८६) दत्त वचन का प्रतिपालन (५।१३५) इत्यादि बातें धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखती हैं।

दर्शनों का तो ऐसा लगता है कि श्रीहर्ष ने जैसे समुद्र का-सा मन्थन कर रखा हो। पहले चार्वाक, बौद्ध और जैन—इन तीन नास्तिक दर्शनों को ले लीजिये। आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक आदिको न मानने वाले शरीरात्मवादी चार्वाकों का दृष्टकोण कलि और उसके सहयोगियों के माध्यम से

कवि ने सविस्तर सत्रहवें सर्ग में स्पष्ट कर रखा है कि किस तरह वे ऐन्द्रिय भोग को ही जीवन का परम पुरुषार्थ मानते हैं। सरस्वती का सभी विद्याओं के अधिष्ठान रूप में वर्णन करते हुये श्रीहर्ष ने बौद्धों के सोमसिद्धान्त शून्यात्मवाद ('सर्वं शून्यं शून्यम्'), विज्ञानसामस्त्य ('विज्ञानमेवात्मा') और साकारता-सिद्धि (विज्ञानं साकारम्') का उल्लेख किया है (१०।८७) इसी प्रकार नल द्वारा दशावतारों की अर्चना के प्रसंग में भगवान् बुद्ध का 'चतुष्कोटि-विमुक्त[1]' 'षडभिज्ञ' आदि विशेषणों द्वारा संबोधन भी बौद्ध सिद्धान्त की ओर संकेत है (२१।८८)। 'विहार देश' को प्राप्त होकर नल के घोड़ों के मण्डलाकार भ्रमणों की कवि द्वारा 'विहारदेश' को प्राप्त हो जैनियों के मण्डलाकार बैठने से उपमा जैनसिद्धान्त की ओर संकेत करती है (१।७१)। इसी तरह देवताओं में में किसी एक को वरने हेतु रखे नल के प्रस्ताव को ठुकराती हुई दमयन्ती के मुख से उल्लिखित 'रत्नत्रय' जैन (९।७१) दर्शन के सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का प्रतिपादन करता है। सम्यक् चारित्र के भीतर जैनियों के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच अणुव्रत आते हैं। अब आस्तिक दर्शन लें, दमयन्ती के कुचकुम्भ चित्रण में निमित्त कारण चक्र के 'भ्रमि' गुण का कार्य में आना (२।३२), मन का अणु परिमाण होना (५।२९), मुक्ति का सुखदुःखादि राहित्य रूप (१७।७५) इत्यादि बातें जहाँ न्यायदर्शन के सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखती हैं, वहाँ द्व्यणुक से सृष्टि उत्पत्ति (३।१२५) दशम द्रव्य तम (२२।३६) इत्यादि वैशेषिक दर्शन में आती हैं। सांख्य दर्शन का सत्कार्यवाद हमें 'नास्ति जन्य-जनकव्यतिभेदः' में दीखता है (५।९४)। यज्ञों में पशु-हिंसा को पाप हेतु बताना (२२।७६) भी सांख्यों का ही दृष्टिकोण है[2]। योगदर्शन के संकेत भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं जैसे—श्रितवप्रावलि योगपट्टया' (२।७८), 'समाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णः' (३।४४), योगिधीरपि न पश्यति यस्मात्' (५।२८) 'संप्रज्ञात-वासिततमः समपादि' (२१।११९) इत्यादि, ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य (२।६१), देवताओं का शरीर न होकर मन्त्र-रूप होना (५।३२, १४।७३) ईश्वरकी अस्वीकृति (२१।६४) आदि बातें मीमांसादर्शन-सम्बन्धी हैं। वेदान्त दर्शन की ओर तो श्रीहर्ष का बहुत ही अधिक चाव रहा। कहीं वे यों ही अपने ब्रह्मवाद को ध्वनित कर जाते हैं भले ही प्रसंग हो, न हो, जैसे—

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात् ततः।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ (२।१)

कहीं उसे वे अप्रस्तुत-विधान के रूप में रख देते हैं, जैसे—

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि।
प्रापुस्तमेकं निरूपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम् ॥ (३।३)

अन्य संकेतों के लिये 'श्रीहर्ष का व्यक्तित्व' स्तम्भ देखिये। इस तरह कवि ने अपनी रचनायें नल की तरह निज चतुर्दशविद्याभिज्ञता बता रखी है।

१—न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि–विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।

२—'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ॥ (सां० का०) २

श्रीहर्ष के कला-वैशिष्ट्य में अब हम उनके प्रकृति-चित्रण को लेते हैं। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महाकाव्य विषयप्रधान, बहिर्जगत्-परक अथवा वर्णनात्मक हुआ करता है, जिसके भीतर क्या मानव-प्रकृति और क्या मानवेतर प्रकृति—दोनों समाहित रहते हैं। काव्य के अरुणोदय-काल में प्रकृति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता थी। वाल्मीकि ने उसके कितने ही सौन्दर्यभरे मार्मिक चित्र खींच रखे हैं। कालिदास आदि के भी बहुत से स्वतन्त्र आलम्बनात्मक प्रकृतिचित्र मिलते हैं। किन्तु काव्य-क्षेत्र में रसवाद आ जाने पर प्रकृति कुछ सीमा तक अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो बैठी और अधिकतर रस के अन्यतम निर्मापक तत्त्व—उद्दीपन विभाव—के रूप में काम करने लगी। रसपरिपुष्टि द्वारा सहृदयों को आनन्द-प्रदान करना उसकी इतिकर्तव्यता हो गई। इसके अतिरिक्त, कभी-कभी ऐसा भी होने लगा कि कलाकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को अभिव्यक्ति देने हेतु जड़ प्रकृति को अपना माध्यम बना देता है और उसका चेतनीकरण (Persorification) करके उसे मानव-जीवन के समतल में रख देता है। इसे हम भावाक्षिप्त अथवा चेतनीकृत प्रकृति कहेंगे। श्रीहर्ष ने प्रकृति के उक्त तीनों रूपों के बहुत सारे चित्र खींच रखे हैं। प्रथम सर्ग के सरोवर से लेकर ग्रन्थान्त में चन्द्र-वर्णन तक प्रसङ्ग-प्राप्त प्रकृति के बहुत से आलम्बनात्मक, स्वतन्त्र चित्र आपको मिल जाएँगे। माघ आदि कलावादियों की तरह काव्य-संविधान का अक्षर-अक्षर पकड़कर हर कहीं, जहाँ जी चाहे प्रकृति को यों ही खींच ले आना श्रीहर्ष को नहीं भाता। इसके लिए वे उसका अवसर और स्थान देखते हैं। उद्यान-प्रसंग में कवि द्वारा खींचे सरोवर के स्वाभाविक चित्रों का एक उदाहरण देखिए—

'महीयसः पङ्कज-मण्डलस्य य-
इछलेन गौरस्य च मेचकस्य च।
नलेन मेने सलिले निलीनयो-
स्त्विषं विमुञ्चन् विधु-कालकूटयोः (१।११२)

शृङ्गार-रसप्रधान होने के कारण नैषध में प्रकृति के उद्दीपन विभाव के रूप में खींचे चित्रों की तो भरमार ही समझिये। अन्धकार का एक कामोद्दीपक चित्र देखिये—

शची-सपत्न्यां दिशि पश्य, भैमि ! शक्रेभदानद्रवनिर्झरस्य।
पोप्लूयते वासरसेतुनाशादुच्छृङ्खलः पूर इवान्धकारः ॥ (२२।२७)

अब प्रकृति का भावाक्षिप्त रूप भी देखिये। नल के हृदय में प्रिया-मिलन की स्पृहा को कवि प्रकृति के माध्यम से इस तरह साकार कर रहा है—

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता, करम्बिताङ्गी मकरन्द-शीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभि-कुड्मला, दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥ (१।८५)

ऐसा ही एक दूसरा चित्र भी देखिये, जिसमें प्रियतम की स्मृति कौंधने पर रोमाञ्चित, और हृदय में कामशराहत नायिका का व्यवहार-समारोप कवि दाड़िमी पर यों कर रहा है—

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ, प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम्।
फलस्तनस्थान-विदीर्ण-रागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥ (१।८३)

जहाँ तक काव्य के भाव-पक्ष का सम्बन्ध है, वह कलावादी सरणि में होता ही नहीं, यह बात नहीं। वह तो काव्य का अभिन्न अङ्ग है। क्यों नहीं होगा ? किन्तु हाँ, कलावादी उसे प्रमुखता नहीं देते हैं। फिर भी श्रीहर्ष ने भावपक्ष को भी अपेक्षाकृत अच्छा उजागर किया है। उन्होंने हृदय-गत रति-नामक स्थायी भाव को लेकर उसकी विभावादि-सामग्री के संयोग से श्रृंगाररस का पूरा परिपाक दिखा रखा है। लौकिक भाषा में जिसे हम प्रेम कहते हैं, वह साहित्यिकी भाषा में 'रति' और उसका परिपुष्ट आस्वाद्य रूप श्रृङ्गाररस कहलाता है। इसी श्रृङ्गार को साहित्यशास्त्री रसराज नाम से पुकारते हैं, क्योंकि जीवन में जितनी व्यापकता प्रेम की है, उतनी दूसरे भाव की नहीं। इसीलिए कवि ने इसे अङ्गी रस के रूप में अपना रखा है। **'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पश्चात्पुंसस्तदिङ्गितैः'** इस साहित्यिक रूढ़ि के अनुसार पहले नायिका के हृदय में नायक के लिए प्रेम का अंकुर उगता है जब वह पहले-पहल उसे देखती है अथवा उसके विषय में सुनती है। इसे 'चक्षूराग' अथवा 'नयन-प्रीति' (आँखें चार होना) कहते हैं, किन्तु 'पूर्वराग' की यह प्रथम अवस्था यहाँ कवि ने नायिका में नल के गुणश्रवण से बताई है। नल भी दमयन्ती के गुण सुनकर उसे चाहने लगता है। फिर तो कवि हाथ में सूची जैसे लेकर अपने विश्लेषणात्मक ढंग से नायक और नायिका को पूर्वराग की 'चक्षूराग, चित्तासंग, संकल्प, निद्राच्छेद, तनुता, विषयनिवृत्ति, त्रपानाश, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु—इन दश काम-दशाओं के बीच में से क्रमशः गुजारता चला जाता है। मृत्यु से यहाँ मरणासन्नता अथवा मरण-प्रयत्न अभिप्रेत है, वास्तविक मृत्यु नहीं, क्योंकि वास्तविक मृत्यु में करुणरस हो जाता है। इस अन्तिम काम-दशा के सम्बन्ध में कवि नल के लिए 'तया नभः पुष्प्यतु कोरकेण' (१।११४) रूप में ईश्वर से उसके न होने हेतु प्रार्थना करता है जब कि दमयन्ती को वह नल के न मिलने पर **'ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा'** (३।८२) अथवा **'हुताशनोद्बन्धनवारिकारितां निजायुषः तत् करवै स्ववैरिताम्'** (९।३५) के रूप में आत्मघात करने की स्थिति में ला देता है। इस तरह सभी दश कामदशाओं का अनिवार्य रूप से चित्रण, भले ही सभी नायक-नायिकाओं में वे सब हों न हों, इन कला-सरणि के कवियों में एक रूढ़ि ही समझिये।

भारतीय प्रेम के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात सामान्यतः यह भी है—**'न विना विप्रलम्भेन संयोगो याति पुष्टताम्'** अर्थात् संभोग का पूरा आस्वाद लेने हेतु प्रेम को पहले विप्रलम्भ-वियोग की विकट घाटी के बीच में से गुजरना होता है। वियोग काम की ऐसी अग्नि है, जिसकी भट्टी में पड़कर प्रेम के ऊपर लगी वासना-रूपी मैल की परत भस्म हो जाती है। **'चक्षूराग'** में ही युगल का संयोग तो वासना होती है, जो शारीरिक आकर्षण तक ही बनी रहती है और बाद को नष्ट हो जाया करती हैं। इसके विपरीत प्रेम हार्दिक, स्थायी तत्त्व होता है। विरहाग्नि में तपा, कुन्दन-जैसा उज्ज्वल और शुद्ध बना हुआ प्रेम ही हमारे साहित्य में संयोग के उचित माना जाता है। कालिदास, बाण आदि कवियों ने अपने श्रृङ्गारिक चित्रों में ऐसा ही प्रेम अपनाया है। नल-दमयन्ती का प्रेम भी ऐसा ही है। वह अपनी दिव्य अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो मधुर मिलन की ओर जा ही रहा था कि सहसा श्रीहर्ष वरुणादि को साथ लिये इन्द्र और बाद में कलि को भी

दमयन्ती का इच्छुक बनाकर प्रेम का त्रिकोण—नायक-नायिका खलनायक खड़ा कर बैठे। खलनायक इन्द्र ने कुटिल नीति अपनाकर नल की ही सहायता से अपने लिए रास्ता साफ कर ही लिया था, किन्तु यह दमयन्ती ही थी जो अपने सतीत्व एवं नल के प्रति अनुराग की अनन्य निष्ठा से प्रभावित करके इन्द्रादि को मार्ग से हटा पाये। पाणिग्रहण के बाद युगल के जीवन में जो मधु-मास आया, वह एक ऐन्द्रिय पर्व के रूप में चल पड़ा। इस मधुर मिलन अथवा संभोग शृङ्गार के जितने अधिक, मार्मिक, सूक्ष्म, वैविध्य भरे रंगीन चित्र श्रीहर्ष ने खींचे हैं, उतने अन्य कलाकार शायद क्या ही खींच सका होगा। सारा ही रति-रहस्य जैसे कवि ने हमारे आगे उघाड़कर रख दिया हो। इसी बीच स्वयम्बर में पिछड़ जाने वाले दूसरे खलनायक कलि का आ धमकना, युगल की रँगरलियाँ देख जल-भुन जाना और बाद को बदला चुकाने के लिए उन दोनों का सुख-साम्राज्य ढाकर उन्हें बर्बाद कर देना। यह बताना हमारे काव्य का प्रतिपाद्य नहीं।

काव्य-विधानानुसार शृंगाररस को अङ्गी बनाकर कवि ने करुण, हास्य और वीर को अङ्ग रसों के रूप से यत्र-तत्र अभिव्यक्ति दे रखी है। करुण रस का मार्मिक चित्रण हमें नल द्वारा हंस को पकड़ने और बाद में छोड़ देने की घटना में मिलता है। अपने मारे जाने की शंका में हंस का रह-रहकर अपनी सद्यःप्रसूता प्रेयसी और बच्चों को याद करने और अपनी मृत्यु के बाद उनकी दयनीय दशा का चित्र खींचते हुए उसके हृदय-द्रावक विलाप में कितनी गहरी करुणा है, देखिये—

सुताः कमाहूय चिराय चुंकृतै-
    र्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स
    स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुपाः॥ (१।१४२)

सुनकर राजा नल भी शोक में दो आँसू बहाये बिना नहीं रह सके। श्रीहर्ष का यह करुणरस-चित्र अपने में छोटा-सा होता हुआ भी करुणरस के विख्यात चितेरे भवभूति के चित्रों से क्या कोई कम है? किन्तु करुण का शृङ्गार-विरोधी होने से अंग-रूप में उसका चित्रण यहाँ असंवैधानिक है।

हास्य-रस के सम्बन्ध में हम पीछे देख आये हैं कि किस तरह कवि उसे यत्र-तत्र काफी लम्बा खींचता चला गया है। विवाह और युगल के मधुर मिलन के मधु-मास के समय पृष्ठभूमि बनकर किस तरह हास्य शृंगार को परिपुष्टि देता चला जा रहा है—यह देखते ही बनता है। विस्तार के भय से हम एक-दो ही उदाहरण दे सकेंगे। दमयन्ती के स्वयंवर में इन्द्र के भी जाने की तय्यारी का समय है—

काऽपि कामपि बभाषा बुभुत्सुं, शृण्वति त्रिदश-भर्तरि किञ्चित्।
एष कश्यपसुतामभिगन्ता, पश्य कश्यप-सुतः शतमन्युः॥(५।५३)

अर्थात् कश्यप-सुत (इन्द्र) को दमयन्ती ब्याहने कश्यप-सुता (पृथिवी) को जाता देख कोई देवाङ्गना इन्द्र पर कटु व्यङ्ग्य कसती हुई अपनी किसी सखी से बोल उठी (जिसे कुछ-कुछ इन्द्र भी

सुन रहा था)—'ठीक ही तो है बहन, शतमन्यु (सैकड़ों पाप-कर्म करने वाला कश्य[1]पसुत (शराबी का लड़का) कश्यपसुता (शराबी की छोकरी) को ब्याहने जाये'। साथ ही दूसरा व्यंग्य यहाँ यह भी है 'देख बहन, कैसा अन्धेर है कि कश्यपसुत कश्यपसुता (बहिन) को ब्याहने जा रहा है।' दोनों देवाङ्गनायें आपस में खूब हँसीं। दूसरा उदाहरण बारातियों की विदाई के समय का है—

अमीषु तथ्यानृतरत्नजातयोर्विदर्भराट् चारु-नितान्तचारुणोः।
स्वयं गृहाणैकमिहेत्युदीर्य तद्द्वयं ददौ शेषजिघृक्षवे हसन् ॥ (१६।१११)

विदर्भराज भीम एक चमकीले असली रत्नों की ढेरी और एक और अधिक चमकीले नकली रत्नों की ढेरी हाथ पर रखकर उन बारातियों में से प्रत्येक को भेंट देते हुए कह रहे थे—'दोनों ढेरियों में से एक चुन लीजिये'। लेकिन जब कोई बाराती नकली रत्न लेना चाहता, तो वे उसकी रत्नों की अनभिज्ञता पर खूब हँसते और उसे दोनों ही ढेरियाँ दे देते कि बेचारा घाटे में क्यों रहे।

कवि का वीररस नल द्वारा शत्रुओं पर अभियान, उन पर 'प्रगल्भ बाण-वृष्टि' तथा 'महासि-प्रहार उनके नगरों को भस्मसात् करने के शौर्य-कर्म एवं स्वयंवर के समय सरस्वती द्वारा तत्तत् राजाओं के वीरोचित कर्मजात के वर्णन में अभिव्यक्त होता है।

श्रीहर्ष की भाषा-शैली—कुछ विद्वानों का कहना है कि दमयन्ती की प्रशंसा में श्रीहर्ष ने जो यह श्लोक कहा है—

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ (३।११६)

उसमें वह वैदर्भी शब्द में श्लेष रखकर अपनी वैदर्भी शैली की ओर भी संकेत कर गये हैं अर्थात् उनकी भाषा-शैली वैदर्भी है, जिसका स्वरूप साहित्यदर्पणकार ने इस तरह स्पष्ट किया है।—

माधुर्य-व्यञ्जकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ (९।३)

अर्थात् ऐसी ललित पद-रचना जिसमें वर्ण माधुर्य उगल रहे हों और वृत्ति (समास) न हों अथवा यदि हों भी, तो छोटे हों, वैदर्भी रीति होती है। इसमें भाषा की क्लिष्टता, प्रयास-साध्यता और कृत्रिमता सर्वथा वर्जनीय हैं। ऊपर उद्धृत श्लोक में कवि का अपना वैदर्भी-रीतिविषयक व्यक्तिगत संकेत हो, न हो, किन्तु हाँ सरस्वती जाते समय नल को जो यह निम्नलिखित आशीर्वाद दे गई :—

गुणानामास्थानीं नृपतिलक, नारीतिविदितां,
रसस्फीतामन्तस्तव च तव वृत्ते च कवितुः।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुं
परीरम्भक्रीडाचरणशरणामन्वहमहम् ॥ (१४।९१)

१—मदिरा कश्य-मद्ये च। (अमरकोष २०।४०)

इसमें श्रीहर्ष ने श्लेष-मुखेन सरस्वती द्वारा नल को यह स्पष्ट कहलवा दिया है कि "तुम्हारा-चरित (नैषध चरित) लिखने वाले कवि के कण्ठ में मैं ऐसी वैदर्भी शैली की प्रेरणा भरती रहूँगी, जो (प्रसादादि) गुणों की आस्थानी (आश्रय), रीतियों में न अविदित अर्थात् प्रसिद्ध अपने भीतर (शृंगार आदि) रसों से स्फीत (समृद्ध) तथा परीरम्भ और क्रीड़ा के आचरण (प्रयोग) से भरी होगी।" इसमें श्रीहर्ष ने अपने श्रीमुख से निज भाषा-शैली बता दी है। नारायण ने परीरम्भ से श्लेषालंकार और क्रीड़ा से वक्रोक्ति को लिया है। लेकिन हमारे विचार से क्रीड़ा शब्द यहाँ व्यापक अर्थ में है। वह अपने भीतर वक्रोक्ति ही नहीं प्रत्युत अनुप्रास, यमक आदि सारा ही वर्ण और शब्द-विलास समेटे हुये है। इस तरह श्रीहर्ष की वैदर्भी शैली वाल्मीकि, कालिदास आदि द्वारा प्रयुक्त वैदर्भी से बड़ी भारी विशेषता रखती है, कलावादी यह युग की वह अलंकृत शैली है, जिसमें वर्ण्य वस्तु की अपेक्षा वर्णन-प्रकार को महत्त्व दिया जाता है और काव्य का मुख्य अवलम्ब आत्मा नहीं प्रत्युत श्रोत्रेन्द्रिय बनी रहती है। इसमें शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की भरमार रहती है। इसी कारण इसमें कृत्रिमता, प्रयास-साध्यता और मस्तिष्क-प्रधानता आई हुई रहती है।

श्रीहर्ष ने शब्दालंकार और अर्थालंकार-दोनों का खुलकर प्रयोग किया है। अनुप्रास इनके व्यापक हैं कि विरला ही कोई श्लोक होगा, जो इससे अछूता रहा हो। वृत्त्यनुप्रास तो आप इनके हरेक श्लोक में आँख मीचकर बोल सकते हैं। निम्नलिखित श्लोक देखिये—

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवाञ्शैशवशेषवानयम्।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम्॥ (१।१९)

यहाँ 'जगज्जयं' में ज-ज का वृत्त्यनुप्रास 'जजयं शयं' में श्रुत्यनुप्रास, 'शैश-शेषं' में छेकानुप्रास, 'क्षयं, नयम्' 'वनं वनम्' में अन्त्यानुप्रास हैं। अन्तिम 'वनं वनम्' में अनम्, अन्त्यानुप्रास के साथ 'वनं वनं' में यमक का संकर भी बना हुआ है। अर्थालङ्कार उपमा की संसृष्टि भी है। स्वतन्त्र यमक का भी एक उदाहरण लीजिये—

अवलम्ब्य दिदृक्षयाम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसंगतम्।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालसंगतम्॥ (२।६६)

'दिदृ' 'क्षक्ष' में वृत्त्यनुप्रास तथा 'वने वनी' में छेकानुप्रास की भी यमक के साथ संसृष्टि है।

श्लेषालंकार में तो हर्ष का कहना ही क्या ? हमें ऐसा लगता है कि दमयन्ती को **'श्लेष-कवेर्भवत्याः'** (२।६९) कहता हुआ कवि व्यक्तिगत रूप से जैसे अपने को ही **'श्लेष कवि'** बता गया हो। दमयन्ती के मुख से उस का नलविषयक अनुराग कवि ने श्लेष द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किस तरह व्यक्त करवाया है—यह देखते ही बनता है। इनके श्लेष का महान् चमत्कार तो स्वयंवर के अवसर पर देखने को मिलता है जब दमयन्ती के आगे 'पञ्चनली' आती है। श्लेष-मुखेन कवि ने सरस्वती द्वारा एक ही शब्दों में इन्द्रादि एक-एक देवता के साथ-साथ नल का भी अभिधान करवाया, तो दमयन्ती समझ ही न पा सकी कि सरस्वती देवता का परिचय दे रही है या नल का परिचय, इस श्लेष पर तुर्रा तो देखिए यह है—

देवः पतिर्विदुषि नैषधराजगत्या निर्णीयते न किमु न व्रियते भवत्या ।
नायं नलः खलु तवातिमहानलाभो यद्येनमुज्झसि वरः कतर परस्ते ।। (१३।३४)

इस श्लोक के पाँच अर्थ हैं, जो एक-एक करके चार देवताओं और नल की तरफ लगते हैं। इसकी रचना में कवि के मस्तिष्क ने कितना परिश्रम किया होगा—अनुमान लगा लीजिये। इतना ही गनीमत समझें कि हमारा कवि श्लेष का चमत्कार दिखाने तक ही सीमित रहा और अपने पूर्ववर्ती कलासरणि के कवि भारवि तथा माघ की तरह एक एक ही वर्ण का श्लोक लेकर शब्दों का 'मुरज' 'गोमूत्रिका' 'सर्वतोभद्र' 'चक्र 'समुद्र' आदि बनाकर शाब्दिक जादू का खेल दिखाने के चक्कर में नहीं पड़ा।

अर्थालंकारों को भी श्रीहर्ष प्रचुर मात्रा में प्रयोग में लाए हैं। अर्थालंकारों में मुख्य स्थान उपमा का होता है, जो प्रस्तुत के समानान्तर अप्रस्तुत को रखकर साम्य-विधान द्वारा प्रस्तुत में प्रेषणीयता ला देती है और उसे हृदयङ्गम बना देती है। उपमाके लिये कालिदास प्रसिद्ध ही हैं लेकिन श्रीहर्ष भी कोई कम नहीं। श्लेष का पुट देकर ये उपमा को और सुन्दर बना देते हैं। साथ ही इनके उपमान घिसे-पिटे नहीं, प्रत्युत नये-नये मिलेंगे। दमयन्ती के हृदय में नलविषयक काम प्रवेश कर गया—इसके लिये कवि का श्लेष-गर्भित पौराणिक उपमान देखिये—

यथोह्यमानः खलु भोग-भोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम् ।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः ।। (१।३२)

इनका व्याकरणीय उपमान 'सायुज्यमृच्छति' (११।११७) और वेदान्तीय उपमान 'अधिगत्य' (३।३) में हम पीछे देख आये हैं। मीमांसाशास्त्रीय उपमान २।६१ में देखिये। उपमा ही नहीं, बल्कि उपमा-परिवार के अन्य सभी साम्य-मूलक अलंकारों की अप्रस्तुत-योजना में सर्वत्र कवि का नयापन ही दिखाई देता है। कल्पित सादृश्य वाली उत्प्रेक्षा में न्याय-शास्त्र की अप्रस्तुत योजना देखिये—

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः ।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रमातनोति यत् ।। (२।३२)

व्याकरणीय अप्रस्तुत-योजना हम पीछे 'इह किमुषसि' (१९।६०) में देख आये हैं। सन्देह नहीं कि इन योजनाओं में नयापन है, लेकिन शास्त्रज्ञान-सापेक्ष होने के कारण इनमें दुरूहता आ गई है। हाँ इनकी लौकिक अप्रस्तुत योजनायें अथवा कल्पनायें बड़ी चमत्कारी हैं। उदाहरण लीजिये—

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ।। (१।८२)

यहाँ उर्वरक रूप में ओषधिविशेष का धूआँ ग्रहण करते हुए अनार के फलों पर अगले जन्म में दमयन्ती के कुचों की उच्चता प्राप्ति हेतु धूमपान को तपस्या करते हुये कलशोंकी कल्पना की गई है। ऐसी-जैसी ही कल्पना के लिये 'सरोभुवा' (१।४८) वाला श्लोक भी देखिए। चन्द्रमा के काले धब्बे पर भी कवि की यह कैसी नयी और अनोखी कल्पना है—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिमा ॥ (२।२५)

अर्थात् दमयन्ती के मुख के निर्माण हेतु स्रष्टा ने जैसे चन्द्रमा का सारभूत मध्य भाग निकाल लिया हो, जिससे बीच में बनी खाई में से परली तरफ का काला-नीला आकाश दीख पड़ रहा है। इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा, रूपक, दृष्टान्त, समासोक्ति आदि साम्य-मूलक अलंकारों में भी कवि की अप्रस्तुत योजनाओं में सर्वत्र अनोखापन ही मिलेगा। अर्थान्तरन्यासों में तो कवि के सार्वभौम तथा प्रतिपादक कितने ही समानान्तर वाक्य आज लोगों के मुखों में आमाणक-जैसे बने हुये हैं, जैसे–'**त्यजन्त्यसून् शर्म च मानिनो वरं, त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम्** । (१।५०),**क्व भोगमाप्नोति न भाग्य-भाग् जनः** (१।१०२) **व्रजते हि फलेन साधवो, न तु कण्ठेन निजोपयोगिताम्** (२।४८), **आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः** (५।१०३) इत्यादि, इत्यादि। इस तरह हम देखते हैं कि नैषध में विरले ही ऐसे श्लोक मिलेंगे, जो कविकी नयी-नयी अप्रस्तुत-योजनाओं से खाली हों। वैधर्म्य-मूलक अलंकारों में से भी कवि ने यत्र-तत्र विरोधाभास, विषम, विभावना, विशेषोक्ति, असंगति आदि की छटा खूब दिखा रखी है। अभिप्राय यह कि नैषध में ऐसा कोई श्लोक नहीं, जिसमें तीन चार अलंकारों का संकर अथवा संसृष्टि न हुई हो। यही कलावादी सरणि की निज विशेषता भी है।

हम पीछे संकेत कर आए हैं कि महाकाव्य इतिवृत्तात्मक होता है और उसकी पद एवं वाक्य-रचना वर्णन-शैली में चलती है। जहाँ तक बाह्जगत् के वर्णन का सम्बन्ध है, श्रीहर्ष की भाषा प्रायः कठिन समास-बहुल और शब्दाडम्बरी बन जाती है। नल, अश्व, सरोवर और कुण्डनपुरी आदि का वर्णन कवि ने ऐसी ओजस्विनी भाषा में किया है। कुण्डनपुरी के दो-एक चित्र देखिये :—

बहुकम्बुमणिवराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः ।
हिमवालुकयाच्छवालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः ॥ (२।८८)

इसी प्रकार—

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः ।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ (२।१०८)

इन वर्णनों में गौड़ी रीति ही मुखरित हो रही है। इतना ही नहीं, बल्कि नैषध में कितने ही ऐसे भी स्थल मिलेंगे, जिनका अर्थ समझना साधारण व्यक्ति के लिये बड़ा कठिन हो जाता है। कवि ने जानबूझकर ऐसी-ऐसी गुत्थियाँ भी धर रखी हैं, जो गुरु-मुख से ग्रन्थ पढ़े बिना स्वयं नहीं सुलझ सकतीं। उसने स्वयं कह भी रखा है :—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥ (२२। परिशिष्ट ३)

किन्तु ऐसे गौड़ी-प्रधान स्थल अधिक नहीं है। कवि का भीतरी कलाकार ज्यों ही बहिर्जगत् से हटकर अन्तर्जगत् में पैठता है, अथवा काव्य के भावपक्ष में उतरता है, उसकी भाषा कोमल भावों की तरह कोमल और प्रसाद-पूर्ण बन जाती है, समास हट जाते हैं और वह सरल-सुबोध हो जाती है। उदाहरणार्थ करुणा-सिक्त हंसकाण्ड की भाषा ही देखिये कि वह कितनी सरल है। इसी तरह शुद्ध वैदर्भी में दमयन्ती की विरह-वेदना का चित्रण पीछे व्याकरण-स्तम्भ के **'अधित कापि मुखे'** (४।१११) में, तथा काम-पीड़ित दमयन्ती द्वारा चन्द्र और कामदेव का विगर्हण चतुर्थ सर्ग में देखिये। प्रियतम के आगे पहले पहल दमयन्ती के लज्जा-भाव का चित्र भी देखिये—

केवलं न खलु भीमनन्दिनी दूरमत्रपत नैषधं प्रति।
भीमजा हृदि जितः स्त्रिया ह्रिया मन्मथोऽपि नियतं स लज्जितः ॥ (१८।३६)

इस तरह श्रीहर्ष की भाषा-शैली वर्ण्य विषय के अनुसार बदलती रहती है यद्यपि स्वयं उन्होंने उसे वैदर्भी का विशिष्ट रूप ही कहा है।

गुण-दोष—हम पीछे देख आए हैं कि संस्कृत साहित्य के कला-सरणि के काव्यों में नैषधकाव्यों का स्थान कला की दृष्टि से कितना ऊँचा और महत्त्वपूर्ण है। बहिर्जगत् के किसी भी वर्ण्य वस्तु का साङ्गोपाङ्ग, व्यापक वर्णन, प्रकृति का अनोखी कल्पनाओं से संवलित, वैविध्यपूर्ण, बिम्बग्राही चित्रण, मानव-हृदय का गहरा अध्ययन, मनोविज्ञान का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण, शृंगाररस की अपने वियोग और संयोग—दोनों रूपों में तत्तद् दशाओं *अन्तर्दशाओं का मार्मिक अभिव्यञ्जन*, वर्णों और शब्दों का नाद-सौन्दर्य भरा सर्वत्र श्रुतिसुखावह प्रतिध्वनन, और विविध अलंकार-शृंखलाओं का मधुर मुखरण आदि बातें जो हमें श्रीहर्ष के कवि-कर्म में मिलती हैं, वे गद्यकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि बाणभट्ट को छोड़कर अन्य किसी कवि के पद्य-काव्य में दुर्लभ ही समझिये। नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाय, तो नैषधकाव्य की विशेषता श्रीहर्ष का नल और दमयन्ती के उदात्त चरित्र चित्रण द्वारा पाठकों के आगे भारत का एक उच्च उज्ज्वल आदर्श स्थापित करना भी है। जीवन के दो पुरुषार्थों—धर्म और काम अथवा कर्तव्य और भावना को लेकर नल में जो अन्तर्द्वन्द्व अथवा हृदयगत भाव-संघर्ष श्रीहर्ष ने पाँचवें और नौवें सर्ग में चित्रित किया है, वह भला अन्य काव्यों में कहाँ मिल सकता है। वास्तव में काव्य कला की असली रीढ़ तो अन्तर्भावों का संघर्ष ही है, जिस पर श्रीहर्ष को छोड़ संस्कृत कवियों का बहुत कम ध्यान गया है। इन्द्र छल करके नल से वचन ले बैठा कि दूत बनकर उसका काम करेंगे। वचन-बद्ध होकर टल जाना धर्म-विरुद्ध है—यह सोचकर दूतके वेष में सच्चे हृदय से अपनी हृदयेश्वरी से वे अनुरोध पर अनुरोध करते गये कि वह नल को छोड़ इन्द्र को वरे। अपने प्रति उसका अनन्य अनुराग देखकर उन्हें बीच-बीच में कामोद्रेक भी भले ही होता जाता था, परन्तु उसे दबाकर उन्होंने निज धर्म-दौत्य कर्म—में जरा भी आँच नहीं आने दी और कर्तव्यको भावना से ऊपर ही रखा। यह इन्द्र का विपरीत भाग्य ही (९।१२९) समझिए कि जो उसकी ओर से नल द्वारा दिये गये अनेक प्रलोभनों एवं विभीषिकाओं के बावजूद वे दमयन्ती को अपने (नल के) प्रति, उसके अटलप्रेम से डिगाने में बाधक बना। क्या समूचे विश्व के इतिहास में कहीं ऐसा आदर्श

है कि कोई व्यक्ति अपनी अप्सरा-सी प्रेयसी को जो एक-दूसरे पर जान देते हैं, निज इच्छा के विरुद्ध केवल 'धर्म-संस्थापनार्थाय' खलनायक के हाथ सौंपने को तय्यार हो गया हो? अथवा कोई ऐसी नारी है जो निज पावन प्रेम के लिये इन्द्र के ऐश्वर्य और स्वर्ग सुखों को लात मार दे! इतना ही नहीं। विवाह के बाद भी नल की दिनचर्या में धर्म को नित्य की सन्ध्या-पूजादि को—पहला स्थान मिलता था, काम को दूसरा। दमयन्ती पति के इस नियत धार्मिक कार्यक्रम से कभी कभार रूठ भी जाती थी, लेकिन वे गीताकार की **'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'** इस उक्ति का दृढ़ता से पालन करते थे। यही कारण था कि नल की अटूट धर्म-निष्ठा देख जहाँ पहला खलनायक इन्द्र उनपर रीझा, दूसरा खलनायक कलि उनपर कोई आक्रमण न कर पा रहा था।

इसके अतिरिक्त, श्रीहर्ष का नैषध काव्य मध्ययुगीन भारत के एक धार्मिक,, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक इतिहास का ग्रन्थ भी है। इसमें हमें उस समय की परम्परागत विद्याओं, विद्यासम्प्रदायों और सामाजिक रीति-रिवाजों का पता चलता है। शौर्य कर्म, परोपकार, गरीबों को दान, दत्त वचन का दृढ़ता से परिपालन, जनहित हेतु कूप, उद्यान आदि का निर्माण इस समय धर्म के अङ्ग बने हुए थे। विवाह में धूल्यर्घ, मधुपर्क आदि का विधि विधान, पति की तरह दमयन्ती का भी देवार्चन, पति के भोजन करने के बाद ही भोजन करना इत्यादि बातों में भारतीय संस्कृति बोल रही है। पतिगृह के लिये बिदाई के समय कालिदास द्वारा ऋषि कण्व के मुख से शकुन्तला को दिलाये हुए प्रसिद्ध **'सुश्रूषस्व'** कले उदात्त उपदेश से श्रीहर्ष द्वारा राजा भीम के मुख से पुत्री दमयन्ती को दिलाया हुआ निम्न लिखित उपदेश से क्या कुछ कम है?

पितात्मनः पुण्यमनापदः क्षमा, धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि न कोऽपि तेऽहमित्युदस्त्ररेष व्यसृजन्निजौरसीम् ॥ (१६।११८)

अर्थात् पुण्य-धर्म ही तुम्हारा पिता है, क्षमा—सहिष्णुता—ही तुम्हारी आपद् मिटाने वाली (माँ) है, मनःसन्तोष ही धन है और नल ही तुम्हारा सब कुछ है। पुत्री, अब मैं तुम्हारा कुछ नहीं।

इस तरह कालिदास आदि के रघुवंश, कुमारसम्भव आदि काव्य-ग्रन्थों की तरह नैषध काव्य भी सुतराम् एक सांस्कृतिक काव्य हैं।

जहाँ तक काव्य-गत दोषों का सम्बन्ध है, साहित्यिक लोगों में यह दन्तकथा प्रचलित है कि प्रसिद्ध साहित्य-शास्त्री आचार्य मम्मट श्रीहर्ष के मामा लगते थे। काश्मीर में जब इन्होंने मम्मट को अपना नैषध काव्य दिखाया, तो सहसा उनके आगे निम्नलिखित श्लोक वाला पृष्ठ उघड़ पड़ा—

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः।
अयि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ॥ (२।६२)

इसमें ही मम्मट ने अन्वय, सन्धि तथा अर्थ भेदकर के कितने ही अमंगल-दोष निकाल दिये, जैसे—तव शिवं वर्त्म निवर्तताम्=तुम्हें मङ्गलमय मार्ग न मिले; पुनः त्वरितं स आगमः मा अस्तु= तुम्हारा वह पुनर्मिलन न हो; अयि साधय, साधयेप्सितम्=अरे, मेरा मनोरथ समाप्त (नष्ट) कर दो; स्मरणीयाः समये वयं वयः=हे पक्षी! (मेरे मर जाने पर) कभी-कभी मेरी याद किया

करन"। इसी तरह अन्य स्थलों में भी दोष देखकर मम्मट बोले—"तुमने यदि अपना यह काव्य मुझे पहले दिखा दिया होता, तो मुझे अपने **'काव्यप्रकाश'** के दोष-उल्लास के लिए बाहर से दोष नहीं ढूँढ़ने पड़ते ? नैषध में ही सब मिल जाते"। कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जो नैषध में कवि द्वारा अपने श्रृङ्गाररस के चित्रण को दूर तक खींचे और कहीं-कहीं कोकशास्त्र तक को मात किये हुए मानकर इसे अश्लील साहित्य करार दे देते हैं। कुछ और ऐसे भी हैं जो श्रीहर्ष की भाषा पर यह आक्षेप करते हैं कि वह सहज-सरल नहीं है; पाण्डित्य अथा मस्तिष्क की भाषा है, हृदय को नहीं, अतः पाठकों के अन्तस् को नहीं छूती। इस कारण नैषध को दोष-दृष्टि से देखने वालों ने यह बात उड़ा रखी है—**'दोषाकरो नैषधम्'** अर्थात् नैषध दोषों की खान हैं।

राजशेखर द्वारा पीछे दिये हुए श्रीहर्ष की काश्मीर-यात्रा का विवरण पढ़कर आप इस दन्त-कथा पर कदापि विश्वास नहीं करेंगे कि मम्मट श्रीहर्ष के मामा थे। उनके मामा होते श्रीहर्ष को काश्मीरी पण्डित-समाज में वैसी दुर्गति न होती। इसलिए यह कथा नैषध के दोषवादियों की बिलकुल मन-गढन्त है। किन्तु इससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि नैषध दोषों से निर्मुक्त है। हमने अपनी टीका में इनके तत्तत् श्लोकों में यत्र-तत्र आये हुए दोषों का स्वयं विवेचन कर रखा हैं। कवि ने भी ग्रन्थारम्भ में ही 'मद्गिरमाविलामपि' लिखकर यह बात स्वयं स्वीकार भी कर रखी है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या दोष काव्यत्व का हनन कर सकता है ? **'अदोषौ शब्दार्थौ'** कहकर दोषाभाव को काव्यनिर्मापक तत्त्व मानने वाले मम्मट की आलोचकों ने खूब अच्छी खबर ले रखी है। दर्पणकार ने भी **'सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवात्'** कहकर इसका खण्डन कर रखा है। गीताकार के शब्दों में **'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'**। कालिदास की कृतियों में भी क्या कम दोष हैं ? एक आलोचक ने तो इस सम्बन्ध में **'कालिदास की निरंकुशता'** ग्रन्थ तक तक लिख दिया है। जगद्-विख्यात कविवर शेक्सपिअर के प्रसिद्ध आलोचक डॉ० जॉनसन ने उनके नाटकों की खूब धज्जियाँ उड़ा रखी हैं। इससे क्या शेक्सपिअर महाकवि बनने से रह गये ? हमारे विचार से हिमालय के सम्बन्ध में कालिदास की कही यह उक्ति—**'एको हि दोषो गुण-सन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः'** उपलक्षण है और व्यक्तिगत रूप से उनके अपने ही नहीं, प्रत्युत अन्य सभी काव्यकारों के कवि-कर्म पर भी लागू हो जाती है।

जहाँ तक श्रीहर्ष द्वारा श्रृङ्गाररस के अनिमंत्रित चित्रण का प्रश्न है, हाँ वह तो निस्सन्देह है ही। इनके सारे काव्य में श्रृङ्गार का उद्दाम विलास हम प्रत्यक्ष देख ही रहे हैं। अङ्गी रस जो ठहरा। किन्तु अश्लील करार देकर उसका अवमूल्यन हमें उचित नहीं लगता। यदि श्रीहर्ष श्रृङ्गार को काव्य का मुख्य रस बनाकर उसके सारे विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावों को पूरी अभिव्यक्ति नहीं देते तो उसका चित्रण अधूरा ही रह जाता, बहुत सारा सत्य छिपा ही रह जाता। कालिदास ने भी तो कुमारसम्भव में ऐसा ही नग्न चित्रण कर रखा है। इसीलिए कार्लाईल का कहना ठीक ही है कि "सत्य और काव्य दोनों एक ही वस्तु है। काव्य की जीवन-धारा सत्य है। जो कवि है, वही सच्चा शिक्षक है, जो कवि है वही वीर है।" कार्लाईल के ही स्वर में स्वर मिलाकर प्रसिद्ध साहित्य शास्त्री रुद्रट ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है:—

नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः ।
कर्तव्यतयाऽन्येषां न च तदुपायो विधातव्यः ॥
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति ।
आराधयितु विदुषस्तेन न दोषो कवेरत्र ।।

अर्थात् शृङ्गार रस का चित्रण करते हुए कवि का यह अभिप्राय नहीं रहता कि वह दूसरों की स्त्रियों को चाहे या उन्हें सिखावे अथवा लोगों को कहता फिरे कि तुम पर-नारियों को इस तरह फाँसो। वह तो केवल काव्याङ्ग होने के नाते उनका वर्णन करता है जिससे कि विद्वानों का मनोरञ्जन हो जाय। इसमें कवि का भला क्या दोष है ? 'गाथा-सप्तशती' 'अमरुक-शतक', 'आर्या-सप्तशती' और 'गीत-गोविन्द' में भी तो ऐसा ही चित्र हैं। अकेले श्रीहर्ष ही क्यों बदनाम हों ? अब रही बात कवि की अस्वाभाविक, कृत्रिम, क्लिष्ट और अलंकार-प्रवाह में आकण्ठ-मग्न भाषा की जो बहुत कुछ हद तक सही है। किन्तु इसका मूल्यांकन करते समय हमें यह न भूल जाना चाहिये कि हरेक कलाकार अपने युग का प्रतिनिधि हुआ करता है। जैसा हम पीछे देख आये हैं, श्रीहर्ष का युग कला-सरणि का वह युग था जब काव्यकला अपना एक ऐसा नया आयाम, एक ऐसी नयी दिशा अपनाये हुए थी, जिसमें कृत्रिमता आ गई थी और मस्तिष्क काम कर रहा था। सरलता के आधुनिक मानदण्ड से श्रीहर्ष की भाषा और काव्य-कला का मूल्यांकन करना हमारे विचार से उनके प्रति आलोचकों का सरासर साहित्यिक अन्याय है। वास्तव में श्रीहर्ष काव्य की कलावादी सरणि के सुतराम् सर्वोच्च कलाकार हैं। आलोचकों द्वारा 'दोषाकर' कहा जाने वाला उनका नैषध काव्य इस अर्थ में अवश्य 'दोषाकर' ही हैं कि वह कलावादी-सरणि के अन्य काव्यों के लिए **दोषाम्** = **रात्रिम् करोतीति** अर्थात् उनके लिए रात कर देता है, उन्हें अँधेरे में डाल देता है अथवा **दोषाकर** = चन्द्रमा है, जिसकी ज्योत्स्ना से काव्यजगत् आलोकित है।

मोहनदेव पन्त

महाकविश्रीहर्षप्रणीतम्

नैषधीयचरिते

प्रथमः सर्गः

वाग्देवीं मनसा ध्यात्वा पादपद्मं गुरोस्तथा ।
टीका नैषधकाव्यस्य क्रियते 'छात्रतोषिणी' ॥ १ ॥

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥१॥

अन्वयः—यस्य क्षिति-रक्षिणः कथां निपीय बुधाः सुधाम् अपि तथा न आद्रियन्ते, सित-च्छत्रित-कीर्ति-मण्डलः, महसां राशिः, महोज्ज्वलः सः नलः आसीत् ।

टीका—यस्य **क्षिति-रक्षिणः**=भूपालस्य **कथाम्**=उपाख्यानम् **निपीय**=नितराम् आस्वाद्य **बुधाः**=देवताः **सुधाम्**=अमृतम् अपि **तथा**=तेन प्रकारेण **न आद्रियन्ते**=संमानयन्ति यथा तस्य कथामित्यर्थः, अर्थात् अमृतात् अपि अधिकम् आदरं तस्याः कुर्वन्ति, **सित०**=सितं=श्वेतञ्च तत् छत्रम्=आतपत्रं **सितच्छत्रम्** (कर्मधा०) सितच्छत्रं कृतम् सितच्छत्रितम् (कर्मधा०) **कीर्तेः**=यशसः **मण्डलम्**=चक्रम् (ष० तत्पु०) येन तथाभूतः (ब० व्री०), **महसाम्**=तेजसाम् प्रतापानामिति यावत् **राशिः**=पुञ्जः, **महो०**=महैः=उत्सवैः (महस्तूत्सव-तेजसोः—इत्यमरः) **उज्ज्वलः**=देदीप्यमानः (तृ० तत्पु०) नित्य-महोत्सवशालीत्यर्थः **स नलः आसीत्**=बभूव ॥१॥

व्याकरण—क्षिति०=क्षितिं रक्षतीति क्षिति+√रक्ष्+णिन् तस्य (उपपद तत्पु०) । **क्षितिः**=क्षियन्ति प्राणिनोऽस्याम् इति√क्षि (निवासे)+क्तिन् (अधिकरणे) । **कथा**—कथ्यते इति√कथ्+अङ् (कर्मणि)+टाप् । **निपीय**=नि+पीङ् (स्वादे) ल्यप् । √पा (पाने) से निपीय नहीं बन सकता है, क्योंकि 'न ल्यपि' (पा० ६।४।६९) से √पा को ईत्व निषेध हो जाता है । **आद्रियन्ते**=आ+√दृङ्+लट् प्र० पु०, ब० । **सित०**-सितच्छत्रं करोतीति सितच्छत्रयति (णिच् नामधा०) बनाकर निष्ठा में क्त (कर्मणि) । **कीर्त्तिः**—√कृत्+क्तिन् (भावे) **उज्ज्वल**—उत् (ऊर्ध्वं) ज्वलतीति√ज्वल्+अच् (कर्त्तरि) **आसीत्**—√अस्+लङ् प्र० पु० ए० ।

हिन्दी—जिस भूपति की कथा का आस्वाद लेकर देवता अमृत का भी वैसा आदर नहीं करते (जैसे उसकी कथा का करते हैं), यश-मंडल को श्वेत छत्र बनाये, तेजों का पुञ्ज, (और) उत्सवों से देदीप्यमान वह (भूपति) नल था ॥ १ ॥

टिप्पणी—नारायण ने 'बुधाः' का अर्थ विद्वान् किया है (बुध-वृद्धौ पण्डितेऽपि' इत्यमरः) अर्थात् विद्वान् लोग नल की कथा सुनकर यज्ञादि द्वारा साध्य अमृत की भी उपेक्षा कर देते हैं, क्योंकि वह अमृत से भी अधिक स्वादिष्ट है।

श्लोक में 'क्ष' क्ष, 'ध' ध आदि अक्षरों की आवृत्ति होने से अनुप्रास शब्दालंकार है; कथा को अमृत से भी अधिक मनोहर बताया गया है, अतः व्यतिरेक है, 'सुधाम् अपि' यहाँ अपि शब्द से कैमुतिक-न्याय द्वारा शर्करा आदि की तो बात ही क्या—यह अर्थ निकल जाता है,अतः अर्थापत्ति है, कीर्त्ति-मंडल पर सितच्छत्रत्व और नल पर महसां राशित्व का आरोप होने से रूपक है। इन सभी अलंकारों के परस्पर निरपेक्ष भाव से तिल-तण्डुल न्याय द्वारा एक ही श्लोक में इकट्ठे हो जाने से 'संसृष्टि' है। इस सर्ग में १४२ श्लोकों तक वंशस्थ वृत्त है, जिसका लक्षण 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' है, अर्थात् इसके प्रत्येक पाद में १२-१२ वर्ण इस तरह होते हैं—जगण (।S।), तगण (SS।) जगण (।S।) और रगण (S।S) जैसे:—

। S । S S । । S । S । S
नि-पी-य य-स्य क्षि.-ति-र-क्षि, णः-क-थां।

रसैः कथा यस्य सुधावधीरणी नलः स भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रित-ज्वलत्प्रतापावलि-कीर्तिमण्डलः ॥ २॥

अन्वयः—यस्य कथा रसैः सुधावधीरिणी (अस्ति), सुवर्ण···मण्डलः, सः भूजानिः नलः गुणाद्भुतः अभूत्।

टीका—**यस्य कथा रसैः**—आस्वादैः ('रसो गन्धो रसः स्वादः' इति विश्वः) **सुधा०**—**सुधाम्** अमृतम् अवधीरयति=तिरस्करोतीति तथोक्ता (उपपद तत्पु०) अमृतादपि अधिकस्वादिष्टेत्यर्थः अस्तीति शेषः, **सुवर्ण०-सुवर्णस्य**=हेम्नः **दण्डः**=यष्टिः (ष० तत्पु०) च एकं च तत् **सितम्**=श्वेतम् **आतपत्रम्**=छत्रञ्च इति सुवर्ण...पत्रे (द्वन्द्व), ० पत्रे कृते इति सुवर्ण...पत्रिते **प्रतापस्य आवलिः** प्रतापावलिः (ष० तत्पु०) **ज्वलन्ती** चासौ **प्रतापावलिः** (कर्मधा०) **कीर्त्तेः मण्डलं** कीर्तिमण्डलम् (ष० तत्पु०) ज्वलत् प्रतापावलिश्च कीर्त्ति-मण्डलञ्च ज्वलत्–मण्डले (द्वन्द्व), सुवर्ण...पत्रिते ज्वलत्...मण्डले येन तथाभूतः (ब० व्री०) अर्थात् येन यशोमण्डलं श्वेतछत्रम्, उज्ज्वलः प्रतापश्च सुवर्णदण्डः कृतः **स भूजानिः**=भूपतिः **नलः गुणैः अद्भुतः** (तृ० तत्पु०) शौर्याद्यद्भुतगुणशालीत्यर्थः **अभूत्**=अभवत् ॥ २ ॥

व्याकरण—० **धीरिणी**=√अवधीर+णिन् (ताच्छील्ये)+ङीप्। **सुवर्ण०**—यहाँ भी पिछले श्लोक की तरह 'आतपत्र' शब्द से करोतीति अर्थ में णिच् करके आतपत्रयति नामधातु बनाकर निष्ठा में क्त प्रत्यय से 'आतपत्रित' रूप सिद्ध होता है। **ज्वलत्**—√ज्वल् से शतृ। **प्रतापः**—प्र+√तप्+घञ् (भावे)। भूजानिः भूः जाया यस्य सः इस ब० व्री० में जाया शब्द को निङ् आदेश हो जाता है ('जायाया निङ्' पा० ५।४।१३४)। **अभूत्**—√भू+लुङ्।

हिन्दी—जिसकी कथा (अपने) स्वाद से अमृत को नीचा दिखा देने वाली (है), उज्ज्वल

प्रताप-पुंज एवं यश-मंडल को (क्रमशः) सुवर्ण-दंड और एक (अनुपम) श्वेत-छत्र बनाये हुए वह राजा नल गुणों में अद्भुत था ॥ २ ॥

टिप्पणी—'रसैः' का नारायण ने शृङ्गार आदि काव्यीय रस अर्थ किया है अर्थात् जो कथा शृङ्गार आदि रसों से अमृत को भी नीचा दिखा देती है। साहित्य दृष्टि से काव्यीय रस 'आनन्दमय' होते हैं, जिनसे विभोर हो सहृदय अमृत को तुच्छ समझने लगते हैं। किन्तु कवि ने यह पुनरुक्ति ही की है, क्योंकि पिछले श्लोक में ही वह 'तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि' यह बात शब्दान्तर में कह ही चुका था। **सुवर्ण०**—यहाँ कवि ने राजा नल हेतु एक विचित्र छत्र की कल्पना कर रखी है। वैसे राजों का सोने के दण्डवाला श्वेत रेशमी छत्र हुआ करता है, लेकिन कवि ने नल के प्रताप को ही सोने का दंड और कीर्ति को ही श्वेत-वसन छत्र बना दिया है। ध्यान रहे कि कवि जगत् में यश आदि गुण श्वेत माने गये हैं, और तेज अग्नि की तरह पीला। सोना भी पीला होता है, इस तरह गुणसाम्य से नल के प्रताप पर पीत स्वर्णदंड का और यश-मंडल पर श्वेतछत्र का आरोप कर दिया है। दोनों आरोपों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने से यह साङ्ग रूपक है। क्रमशः अन्वय होने से यथासंख्यालंकार भी है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि कवि ने यश पर छत्रत्वारोप पिछले श्लोक में कर ही रखा है, अतः पुनरुक्ति दोष है। इसका मल्लिनाथ 'इह कीर्त्तेः सितातपत्रत्वरूपणं पूर्वोक्तमपि सुवर्ण-दण्डवैशिष्ट्यात् न पुनरुक्तिदोषः' यह कहकर और नारायण 'पूर्वश्लोके सुधासितच्छत्रे अविशेषेणै-वोक्ते, अत्र तु विशेषेणेति न पौनरुक्त्यम्' कहकर समाधान कर रहे हैं अर्थात् पिछले छत्रत्वारोप में दंड नहीं बताया गया था, अतः वह अधूरा ही था। यहाँ उस पर दंड भी लगाकर कवि ने कमी पूरी कर दी है, इसलिए पुनरुक्ति दोष कोई नहीं है। हाँ, यहाँ समाप्तपुनरात्तत्व दोष अवश्य है, क्योंकि 'भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः' में वाक्य समाप्त हो जाने के बाद कवि ने सुवर्ण० यह विशेषण पीछे से और जोड़ कर समाप्त हुए वाक्य का पुनरादान किया है ॥२॥

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥३॥

अन्वयः—यत्कथा अत्र युगे स्मृता (सती) जगत् रस-क्षालनया इव पवित्रम् आतनुते, सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्-गिरं कथं न पवित्रयिष्यति।

टीका—**यस्य**=नलस्य कथा (ष० तत्पु०) **अत्र युगे**=अस्मिन् कलि-युगे **स्मृता**=स्मृति-विषयं नीता सती **जगत्**=संसारम् **रस०—रसेन**=जलेन (देह-धात्वम्बु-पारदाः इति रसपर्याये विश्वः) **क्षालना**=प्रक्षालनम् तया (तृ० तत्पु०) इवेत्युत्प्रेक्षायाम् **पवित्रम्**=शुद्धम् **आतनुते**=करोति अर्थात् कलौ नल-कथास्मरणेन लोकानां पापानि नश्यन्ति, **सा**=नल-कथा **आविलाम्**=मलिनां सदोषामित्यर्थः **अपि स्वं**=नलं सेवते इति स्वसेविनी ताम् (उप० तत्पु०) स्ववर्णनपराम् एव मम गिरम् **मद्गिरम्** (ष० तत्पु०) मे वाचम् **कथं न पवित्रयिष्यति**=पवित्रां करिष्यति अपितु पवित्रां करिष्यत्येवेति काकुः ॥ ३ ॥

व्याकरण—क्षालना—√क्षल्+युच् (भावे) यु को अन् । **०सेविनीम्**—√सेव्+णिन्+ङीप् । **पवित्रयिष्यति**—पवित्रां करिष्यतीति 'पवित्रा' शब्द को पुंवद्भाव करके णिजन्त नाम धातु है।

हिन्दी—जिस (नल) की कथा इस (कलि) युग में स्मरण की जाती हुई जगत् को ऐसा पवित्र कर देती है मानो वह जल से धो दिया गया हो, दोष-पूर्ण होती हुई भी अपना (नल का) ही वर्णन करनेवाली मेरी वाणी को वह क्यों न पवित्र करेगी ? ॥ ३ ॥

टिप्पणी--**पवित्रमातनुते**—नल का नाम स्मरण और कीर्तन कलियुग में पाप-नाशक बताया गया है, जैसे:—'**कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च । ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्**' ॥ एवं '**पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिरः । पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दनः**' ॥

आविलामपि—कवि अपने काव्य में सर्वथा निर्दोष होने की डींग नहीं मारता है, उसमें दोषों का होना स्वाभाविक है, किन्तु 'रस-क्षालना' शृङ्गारादि रसों की उत्कृष्टता—उन्हें नगण्य कर देती है। इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने रस को ही काव्य की 'आत्मा' मानकर दोषों के सम्बन्ध में 'सर्वथा निर्दोषत्वस्यैकान्तमसम्भवात्' लिखा है। उक्त श्लोक में श्रीहर्ष भी काव्य के सम्बन्ध में अपने इसी व्यक्तिगत विचार की ओर संकेत करते प्रतीत हो रहे हैं।

उक्त श्लोक में 'क्षालनयेव' में उत्प्रेक्षा और 'कथं न पवित्रयिष्यति' में काकु-वक्रोक्ति होने से संसृष्टि अलंकार है। मल्लिनाथ के अनुसार 'जो कथा स्मृतिमात्र से पवित्र कर देती है, वह वर्णन से भी करेगी—यह तो कहना ही क्या ? इस तरह अर्थापत्ति है। विद्याधर ने 'नल की कथा छोड़ मेरी वाणी अन्य का प्रतिपादन नहीं करती' इस तरह राजविषयक रतिभाव माना है ॥३॥

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ॥४॥

अन्वयः—अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीति...रणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् स्वयं चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान्–(इत्यहं) न वेद्मि।

टीका—**अयम्** एषः नलः **चतुर्दशसु**=चतुर्भिः अधिकाः दश इति चतुर्दश तासु (मध्यमपदलो० स०) **विद्यासु अधीति०**—**अधीतिः**=अध्ययनम्, च **बोधः**=ज्ञानं च **आचरणम्**=कर्मानुष्ठानं क्रियान्वयनमिति यावत् च **प्रचारणम्**=अध्यापनं चेति ०प्रचारणानि तैः (द्वन्द्वः) **उपाधिभिः**=विशेषणैः ('**उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवेऽपि विशेषणे**' इति विश्वः) विशेषैः प्रकारैः इति यावत् **चतस्रः दशाः**=अवस्थाः **प्रणयन्** कुर्वन् **स्वयम्**=आत्मना **चतुर्दशत्वम्**=चतुर्दशसंख्याकत्वम् **कुतः**=केन हेतुना **कृतवान्**=अकरोत् (इति अहं कविः) **न वेद्मि**=जानामि। अयं भावः विद्यासु चतुर्दशत्वं तु स्वतः एवास्ति नलेन कथं चतुर्दशत्वं कृतम्—इत्याश्चर्यम् ॥ ४ ॥

व्याकरण—अधीतिः—अधि+इङ्+क्तिन् (भावे) **बोधः**—√बुध्+घञ् (भावे), **आचरणम्, प्रचारणम्**—√चर्+ल्युट् (भावे) **उपाधि**—उप+आ+√धा+कि (भावे)।

यहाँ शंका हो सकती है कि अधीति शब्द की अपेक्षा बोध शब्द अल्पाच् होने के कारण द्वन्द्व में पहले आना चाहिए था, पीछे नहीं, किन्तु स्मरण रहे कि इसका अपवाद 'अभ्यर्हितं च' है अर्थात् मुख्य चीज अल्पाच् से पहले आ जाती है, मुख्य तो अध्ययन ही है, ज्ञान तो बाद की बात है। प्रणयन्—प्र—नी+शतृ।

हिन्दी—यह (नल) 'चतुर्दश' (चौदह) विद्याओं में अध्ययन, ज्ञान, आचार और प्रचार—(इन चार) प्रकारों से चार अवस्थाएँ बनाता हुआ स्वयं 'चतुर्दशत्व' (चौदह संख्या कैसे कर बैठा—(यह बात मैं) समझ नहीं पा रहा हूँ ॥ ४ ॥

टिप्पणी—चतुर्दशत्वम्—यहाँ कवि ने चतुर्दश शब्द में श्लेष रखकर एक पहेली-सी खड़ी कर दी है। विद्यायें चतुर्दश=चौदह होती हैं ("अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा-न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥") जो स्वयं ही 'चतुर्दश' हैं, उन्हें फिर 'चतुर्दश' करना पिष्टपेषण न्याय से विरुद्ध बात है। इस विरोध का परिहार 'चतुर्दश' शब्द का 'चतस्रः दशा यासां ता.' इस तरह ब० व्री० करके किया जा सकता है अर्थात् उसने चौदह विद्याओं को चौदह संख्या वाला नहीं, अपितु (अधीति आदि) चार अवस्थाओं वाला बनाया—स्वयं पढ़ा, समझा, आचरण में लाया और प्रचार भी किया। इस तरह यहाँ विरोधाभास अलंकार है। जहाँ विरोध-जैसा हो, वास्तविक विरोध न हो, वहाँ विरोधाभास होता है। यह हमेशा श्लेषगर्भित रहता है। किन्तु नरहरि एक नया ही विकल्प देकर यहाँ विरोधाभास की जड़ ही काट गये। उनका कहना है—"यद्वा चतुर्दशसु विद्यासु चतुर्दशत्वं कुतो न कृतवान्=कया युक्त्या न कृतवान्, अपि तु सर्वथापि कृतवान् इति वेद्मि"। वे "न शब्द का वेद्मि से अन्वय नहीं करते, काकु बना देते हैं अर्थात् क्या नल ने चौदह (चतुर्दश) विद्याओं की 'चतुर्दशता' चार अवस्थायें—नहीं बनाईं ? अपि तु बनाईं। इस तरह यह काकु वक्रोक्ति है। प्रथम पाद के 'चरण' 'चारणै' में छेकानुप्रास और तीसरे एवं चौथे पाद के 'स्वयं' 'स्वयम्' में यमक है ॥४॥

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥५॥

अन्वयः—रसनाग्र-नर्तकी अमुष्य विद्या अङ्ग-गुणेन विस्तरं नीता त्रयी इव नव···श्रियां जिगीषया अष्टादशताम् अगाहत।

टीका—रसना०—रसनायाः अग्रम् (ष० तत्पु०) तस्मिन् **नर्तकी** (ष० तत्पु०) जिह्वाग्र-भागे स्फुरन्तीत्यर्थः, **अस्य**=नलस्य **विद्या**=पूर्वोक्ता चतुर्दशप्रकारा, **अङ्ग०—अङ्गानाम्** 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्द एव च। ज्यौतिषञ्च षडङ्गानि वेदस्याहुर्मनीषिणः" इत्यात्मकानाम् **गुणेन**=गुणनेन (ष० तत्पु०) **विस्तरम्**=विस्तारम् वृद्धिमिति यावत् **नीता**=प्रापिता **त्रयी**=वेदत्रयी इव **नव०—नवानां द्वयम्** (ष० तत्पु०) अष्टादशेत्यर्थः च ते द्वीपाः (कर्मधा०) तेषां **पृथग्**=भिन्नाः या जयश्रियः (ष० तत्पु०) जयसूचिकाः श्रियः जयश्रियः (मध्यमपदलो० स०) तासाम् **जिगीषया**=जेतुमिच्छा जिगीषा तया जयेच्छयेत्यर्थः **अष्टादशानां भावः अष्टादशता**

अष्टादशसंख्याकता ताम् अगाहत=प्राप अर्थात् नलेन पूर्वोक्त-चतुर्दश-विद्याभिः सह 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चार्थशास्त्रकम्' इत्युक्त-चतुर्विद्यानाम् अपि परिशीलनेन अष्टादश-विद्या-पारंगतत्वं लब्धमासीत् ॥ ५ ॥

व्याकरण—**रसना**-रस्यते अनयेति√रस्+युच् (करणे)+टाप् । **नर्तकी**—नृत्यतीति √नृत्+ष्वुन् (कर्तरि)+ङीप् । **विस्तरम्**—वि+√स्तृ+अप् (भावे) । **त्रयी**—त्रयोऽवयवा अत्रेति त्रि+अयच्+ङीप् । जिगीषा=जेतुमिच्छेति√जि+सन्+अ+टाप् । **द्वयम्**—द्वौ अवयवौ अत्रेति द्वि+अयच् । **जयः**—√जि+अच् (भावे) ।

हिन्दी—जिह्वा की नोक पर नाचनेवाली उस (नल) की विद्या अङ्गों के गुणने से विस्तार को प्राप्त हुई वेद-त्रयी की तरह अठारह द्वीपों की पृथक्-पृथक् विजयलक्ष्मियों को जीतने की इच्छा से (मानो) अट्ठारह हो गई ॥ ५ ॥

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक में बताई हुई १४ विद्याओं में आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व और अर्थ-शास्त्र—इन चारों को जोड़कर विद्याओं की संख्या १८ हो जाती है जो नल की जिह्वा की नोक पर थी। इसकी तुलना त्रयी से की गई। त्रयी तीन वेदों को कहते हैं। उनमें प्रत्येक के अपने-अपने पृथक् छः-छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष—होते हैं। 'इस तरह' त्रयी भी छः से गुणा करके अठारह है। यहाँ मल्लिनाथ ने यह शंका उठाई है कि वेद तो चार होते हैं, आथर्वण चौथा वेद है। इसलिए—"अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्याथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयीत्व-हानिः, त्रय्यनन्तर्भावे नाष्टादशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम्" अर्थात् त्रयी में आथर्वण जुड़ जाने से उसके भी छः अङ्गों के साथ त्रयी २४ हो जायेगी, अट्ठारह नहीं। इसे मल्लि० ने 'चिन्त्यम्' कहकर छोड़ दिया है, समाधान कोई नहीं किया। वस्तुतः देखा जाय, तो वेद चार ही हैं, त्रयी के साथ उसका कोई विरोध नहीं। कारण यह है कि संहिताओं की दृष्टि से विचारें, तो वेद की संहितायें चार हैं, किन्तु यदि चारों का वाक्य-निर्माण देखा जाय, तो वह पद्य, गद्य और पद्य-गद्योभयात्मक—तीन प्रकार का मिलेगा। ऋक् और साम पद्यात्मक हैं, यजुः गद्यात्मक है तथा आथर्वण उभयात्मक है, इसलिए वाक्य-निर्माण की दृष्टि से चार वेदों को 'त्रयी' कह देते हैं। प्रकृत में त्रयी के भीतर आथर्वण स्वतः आया हुआ ही है, अतएव कवि का १८ कहना कोई 'चिन्त्य' नहीं।

नारायण ने 'रसना' शब्द के आधार पर विद्या से पाक-विद्या का भी ग्रहण किया है जिसमें नल पारंगत थे और उसके १८ भेद बताये, किन्तु यह खींचातानी है।

नवद्वयद्वीप०—वैसे यदि बड़े-बड़े द्वीपों को लें तो पृथिवी को 'सप्त-द्वीपा वसुन्धरा' कह रखा है। पुराणानुसार सात द्वीप हैं—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर। इनमें से सब से बड़ा जम्बूद्वीप (एशिया) है, जिसमें भारतवर्ष स्थित है। लेकिन छोटे-मोटे ११ द्वीप और मिलाकर अट्ठारह हो जाते हैं। वे ११ हैं—कुरु, चन्द्र, वरुण, सौम्य, कुमारिक, गभस्तिमान्, रम-णान, ताम्रपर्ण, कशेरु और इन्द्र।

इस श्लोक में नल की विद्या का त्रयी से सादृश्य बताया गया है, इसलिए उपमा और जिगीषया में गम्योत्प्रेक्षा होने से दोनों की संसृष्टि है ॥५॥

दिगीशवृन्दांशविभूतिरीशिता दिशां स कामप्रसरावरोधिनीम् ।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—दिगी...विभूतिः दिशाम् ईशिता सः शास्त्राणि काम...नीम् निज...धिकाम् द्वयाधिकाम् दृशम् बभार ।

टीका—**दिगी०** **दिशाम् ईशाः** (ष० तत्पु०) इन्द्रादयोऽष्टदिक्पालाः तेषां **वृन्दम्** (ष० तत्पु०) समूहः तस्य **अंशैः** (ष० तत्पु०) मात्राभिः **विभूतिः** (तृ० तत्पु०) = उत्पत्तिः यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) **दिशाम्** = आशानाम् **ईशिता** = ईश्वरः शासितेत्यर्थः, **सः** = **नलः** **शास्त्राणि** = निगमागमात्मकानि **काम०**–**कामस्य** = इच्छायाः स्वेच्छाचारस्येति यावत्, मदनस्य च यः **प्रसरः** = विस्तारः प्राबल्यमित्यर्थः (ष० तत्पु०) तम् **अवरुणद्धि** = निवारयति अन्यत्र समापयति दहतीत्यर्थः इति तथोक्ताम् (उप० तत्पु०) **निज०**—त्रीणि नेत्राणि यस्य सः (ब० व्री०) त्रिनेत्रः = शिवः तस्य **अवतरः** = अवतारः (ष० तत्पु०) निजश्चासौ त्रिनेत्रावतरः (कर्मधा०) तस्य भावः तत्त्वम् तस्य **बोधिकाम्** (ष० तत्पु०) ज्ञापिकाम् अर्थात् स साक्षात् शिवावतारः इत्यस्य सूचिकाम् **द्वयात् अधिका** अतिरिक्ता ताम् तृतीयामित्यर्थः (पं० तत्पु०) **दृशम्** = चक्षुः **बभार** = दधौ । शिवो त्रिनेत्रः अस्यापि तृतीयं नेत्रं शास्त्रमिति भावः ॥ ६ ॥

व्याकरण—**ईशाः**—ईष्टे इति √ईश् + क (कर्तरि) **विभूतिः** = वि + √भू + क्तिन् (भावे) । **ईशिता** = ईश् + तृच् (कर्तरि) । **प्रसरः**—प्र + √सृ + अप् (भावे) । **०रोधिनीम्**—√रुध् + णिन् (ताच्छील्ये) । **अवतरत्व**—यहाँ अव पूर्वक तृ धातु से 'अवे तॄ-स्त्रोर्घञ्' (पा० ३।३।१२०) से घञ् का विधान होने से 'अवतारः' बनेगा, 'अवतरः' नहीं, अतः यहाँ तॄ धातु से ऋदोरप् (पा० ३।३।५७) से भाव में अप् प्रत्यय करने के बाद 'अव' उपसर्ग का 'तरः' से 'सुप्सुपा' से समास करके 'अवतरः' बनाइये ।

हिन्दी—दिक्पालों के समूह के अंशों से उत्पन्न, दिशाओं के स्वामी उस (नल) ने अपने को महादेव का अवतार बनाने वाली दो से अधिक (अर्थात् तीसरी) आँख शास्त्रों के रूप में धारण कर रखी थी ॥ ६ ॥

टिप्पणी—**दिगीश०**—नारायण ने यहाँ 'दिगीशवृन्दे अंशेन विभूतिः (ऐश्वर्यम्) यस्य सः' ऐसा विग्रह करके यह विकल्पार्थ सिद्ध किया है कि नल तो 'दिशाम् ईशिता' था जब कि दिक्पाल एक-एक दिशा के ईशिता थे, उनमें नल का आंशिक ऐश्वर्य ही था। इस तरह नल में अधिकता बताने के कारण यहाँ व्यतिरेकालंकार है । विद्याधर ने 'अत्रोपमालङ्कारः' कहा है, क्योंकि नल की महादेव से तुलना की गई । महादेव त्रिनेत्र हैं, नल भी शास्त्ररूपी नेत्र रखकर त्रिनेत्र है, महादेव काम (मदन) का प्रसर उसे भस्म करके रोक देते हैं, नल भी काम (इच्छा) अर्थात् शास्त्र-ज्ञान के कारण अपना और लोगों का भी स्वेच्छाचार रोक देता है । शास्त्रों पर नेत्रत्वारोप होने से रूपक है । लोकपालों का अंश लेकर उत्पन्न होने वाले राजा के सम्बन्ध में देखिये मनुस्मृतिः—'यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः' । अपि च—'अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः' ॥६॥

पदैश्चतुर्भिः सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥७॥

अन्वयः—अमुना कृते सुकृते चतुर्भिः पदैः स्थिरीकृते (सति) के तपः न प्रपेदिरे ? यत् कृशः अधर्मः अपि एकाङ्घ्रिकनिष्ठया भुवम् स्पृशन् तपस्वितां दधौ ॥

टीका—**अमुना**=अनेन नलेनेत्यर्थः **कृते**=सत्ययुगे (युग-पर्याप्तयोः कृतम्' इत्यमरः) **सुकृते**=धर्मे ('स्याद् धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः' इत्यमरः) **चतुर्भिः**=चतुःसंख्यकैः **पदैः**=पादैः **स्थिरीकृते**=निश्चलीकृते इति यावत् (सति) **के** जनाः **तपः**=तपस्यां **न प्रपेदिरे**=प्रापुः अपि सर्वे एव तपश्चरन्तो धर्मपरा बभूवुः, **यत्**=यतः **कृशः**=दुर्बलः क्षीण इति यावत् **अधर्मः** अपि **एका०-एकः अङ्घ्रिः**=पादः (द्विगु) यस्याः तथाभूता (ब० व्री०) या **निष्ठा**=स्थितिः तया एकचरणस्थित्या इति यावत् **भुवम्**=पृथिवीम् **स्पृशन्**=स्पर्शविषयीकुर्वन् **तपस्विताम्**=तापसत्वम् अथ दीनत्वम् ('मुनि-दीनौ तपस्विनौ' इति विश्वः) **दधौ**=दधार । अधर्मोऽपि तपस्यति स्म अन्येषां तु वार्तैव का इति भावः ॥ ७ ॥

व्याकरण-**स्थिरीकृते**=अस्थिरे स्थिरे सम्पद्यमाने कृते इति स्थिर+च्वि+√कृ+क्त (कर्मणि) । **प्रपेदिरे**=प्र+√पद्+लिट् ब० व० । **निष्ठा**—नि+√स्था+अङ्+टाप् । **तपस्विताम्**=तपः अस्यास्तीति तपस्+विन् (मतुबर्थ)+तल् (भावे) ।

हिन्दी—उस (नल) के द्वारा सत्य-युग में धर्म के चारों पैरों पर स्थिर कर दिये जाने पर कौन तप नहीं करने लगे थे ? क्योंकि दुर्बल हुआ पड़ा अधर्म भी एक पैर से खड़ा है । पृथिवी को छूता हुआ तपस्वी (तापस, दीन) बन बैठा था ॥ ७ ॥

टिप्पणी—सत्युग में धर्म के चार पैर होते हैं, जिन्हें नारायण ने इस तरह गिनाया है :— सत्य, अस्तेय, शम और दम अथवा तप, दान, यश और ज्ञान । अधर्म का एक ही पैर होने से उसका दुर्बल पड़ना स्वाभाविक ही है । उसपर कवि की कल्पना है कि वह भी एक पैर से खड़ा हो तप कर रहा था जैसे कि उस समय सभी किया करते थे । यहाँ मल्लि० ने 'एकाङ्घ्रि-कनिष्ठया' का एकाङ्घ्रेः कनिष्ठया=कनिष्ठिकया (छिगुनी से) अर्थ किया है । यहाँ 'कृते' 'कृते' में यमक है । विद्याधर के अनुसार यहाँ 'अधर्मोऽपि तपस्वितां दधौ' यह विरोधाभास है, जिसका परिहार 'तपस्विताम्' का 'दीनताम्' अर्थ करके हो जाता है अर्थात् कृश बना हुआ अधर्म लाचार बन गया । मल्लि० ने 'अधर्म भी जब तप करने लग गया तो औरों को तो बात ही क्या । इस तरह कैमुत्य-न्याय से अर्थापत्ति अलंकार माना है ॥७॥

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥८॥

अन्वयः—अस्य यात्रासु स्फुर...ञ्जिम बलोद्धतम् यत् रजः (आसीत्) तत् एव गत्वा सुधाम्बुधौ पतितम् पङ्कीभवत् विधौ अङ्कताम् दधाति ।

टीका—**अस्य**=नलस्य **यात्रासु**=दिग्विजयाभियानेषु इत्यर्थः । **स्फुर०-स्फुरन्**=प्रकाशमानः

प्रतापः=तेजः एव **अनलः**=वह्निः (कर्मधा०) तस्य यः धूमः (ष० तत्पु०) तस्य **मञ्जिमा**=सौन्दर्यम् (ष० तत्पु०) इव मञ्जिमा यस्य तथाभूतम् (ब० व्रो०) **बलेन**=सेनया **उद्धतम्**=उत्क्षिप्तम् यत् **रजः**=धूलिः (आसीत्) **तत् एव गत्वा**=प्रसृत्य **सुधायाः**=अमृतस्य **अम्बुधिः**=समुद्रः क्षीरसागरः तस्मिन् (ष० तत्पु०) **पतितम्**=च्युतम् **पङ्कीभवत्**=कर्दमरूपे परिणममानम् **विधौ**=चन्द्रे अङ्कस्य भावः **अङ्कता** ताम् चिह्नत्वमिति यावत् **दधाति**=धारयति अर्थात् क्षीरसागरात् उदयमानो विधुः कर्दमचिह्नितो भूत्वेव निस्सरति ॥ ८ ॥

व्याकरण—स्फुरत्-√स्फुर+शतृ । **मञ्जिमा**=मञ्जोः भाव इति मञ्जु=इमनिच् । ध्यान रहे कि इमनिच् से बने महिमा मञ्जिमा आदि सभी शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं, न कि स्त्रीलिंग । **अम्बुधिः**—अम्बु (जलम्) धीयते अत्रेति अम्बु+√धा+कि (अधिकरणे) । **पङ्कीभवत्**=अपङ्कः पङ्कः सम्पद्यमानं भवत् इति पङ्क+च्वि+√भू+शतृ ।

हिन्दी—इस (नल) की विजय-यात्राओं में चमकते हुए प्रताप-रूपी अग्नि के धुएँ की तरह मनोहर, सेना द्वारा उड़ाई हुई जो धूलि (थी) वहीं जाकर क्षीर-सागर में पड़ी (और) कीचड़ बनती हुई चन्द्रमा में कलंक का रूप धारण कर रही है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—**अङ्कताम्**—वैसे चन्द्रमा में काला धब्बा स्वभावतः रहता है, लेकिन कवि की अनोखी कल्पना देखिये कि मानो नल की सेना के चलने से उठी और समुद्र में गिरी धूलि से बना कीचड़ चन्द्रमा पर लग गया हो । सूर्य और चन्द्रमा अस्त-समय समुद्र में डूब जाते हैं और फिर समुद्र से ही उदय होते हैं—यह भारतीयों की धारणा है । किन्तु यहाँ कल्पना-उत्प्रेक्षा—का वाचक इव आदि शब्द कोई नहीं है, अतः यह गम्योत्प्रेक्षा है । प्रताप पर अनलत्व का आरोप होने से रूपक है । परस्पर निरपेक्ष होने से दोनों की हम यहाँ तिल तंडुल न्याय से संसृष्टि कहेंगे ॥८॥

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ।
निजस्य तेजःशिखिनः परश्शता वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे ॥९॥

अन्वयः—सङ्गरे परःशताः परे स्फुरद्...व्ययितस्य निजस्य तेजः-शिखिनः इङ्गालम् इव अयशः वितेनुः ।

टीका-सङ्गरे=संग्रामे ('प्रतिज्ञाजि-संविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः) परः०शतात् परे इति **परःशताः** (पं० तत्पु०) शतशः इत्यर्थः **परे**=शत्रवः **स्फुरद्०** धनुश्च निस्वनश्चेति **धनुर्निस्वनौ**=चापः तट्टंकारश्च (द्वन्द्व) अन्यत्र इन्द्रचापः, गर्जितश्च **स्फुरन्तौ**=प्रकाशमानौ धनुर्निस्वनौ (कर्मधा०) यस्य अथ च यत्र तथाभूतः (ब० व्रो०) चासौ **सः**=नलः (कर्मधा०) एव **घनः**=मेघः (कर्मधा०) तस्य **आशुगानाम्**=बाणानाम् (ष० तत्पु०) **प्रगल्भा**=महती वृष्टिः अन्यत्र आशु गच्छतीति **आशुगा**=शीघ्रगामिनी चासौ प्रगल्भा वृष्टिः (कर्मधा०) तया **व्ययितस्य**=निर्वापितस्य **निजस्य**=स्वकीयस्य **तेजः**=प्रतापः एव **शिखी**=अग्निः (कर्मधा०) तस्य **इङ्गालम्**=उल्मुकम् **अयशः**=अपकीर्तिम् **वितेनुः**=विस्तारयामासुः, अर्थात् यथा मेघः गर्जन् धारासारेणाग्निमुपशमयति, तथैव नलोऽपि स्वबाणपरम्पराभिः शत्रूणां शौर्याभिमानम् अभनक् ॥ ९ ॥

व्याकरण—परःशताः—'शतात् परे' में 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) से पर शब्द का पूर्व-निपात तथा पारस्करादित्वात् सुडागम। **निस्वनः**—नि+√स्वन्+अप् (भावे) **व्यथितस्य**—वि+√व्यथ्+क्त (कर्मणि)

हिन्दी—युद्ध में सैकड़ों शस्त्र चमकते हुए धनुष (चाप, इन्द्रधनुष) एवं निस्वन (टंकार, गड़गड़ाहट) वाले नल-रूपी मेघ के आशुगों (बाणों, जोर) की बड़ी भारी वर्षा से बुझे हुए अपने तेज-रूपी अग्नि के अंगारे-जैसे अपयश को फैला देते थे ॥ ९ ॥

टिप्पणी—स्फुरत्०—यहाँ कवि शब्दों में श्लेष रखकर नल को मेघ और शत्रुओं के तेज को आग बना रहा है। चमकते हुए इन्द्र धनुष और गर्जन को साथ लेकर मेघ जोर की वृष्टि से आग को बुझा देता है। नल भी चमकते हुए अपने चाप और उसकी टंकार-ध्वनि के साथ बाणों की बौछार से शत्रुओं का सारा तेज (शौर्य) ठंडा कर देता था। अग्नि के बुझ जाने पर जैसे काला कोयला शेष रह जाता है, वैसे ही नल द्वारा पराजित हो जाने पर शत्रुओं का तेज उनके अपयश (बदनामी) के रूप में परिणत हो जाता था। कवि-जगत में यश श्वेत और अपयश काला बताया गया है। यहाँ नल पर मेघत्व के आरोप का और शत्रुओं के तेज पर अग्नित्व आरोप का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव है, अतः यह साङ्गरूपक है और वह भी श्लेषगर्भित। 'इङ्गालमिव' में उत्प्रेक्षा होने से रूपक और उत्प्रेक्षा नीर-क्षीरन्याय से अङ्गाङ्गिभाव संकर है ॥९॥

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयञ्ज्वलद्भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥१०॥

अन्वयः—राजघः सः अनल्प...उज्ज्वलैः निज-प्रतापैः ज्वलद् भुवः वलयम् प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज।

टीका—राजघः=राज्ञां हन्ता न तु क्षुद्राणामित्यर्थः **सः**=नलः **अनल्प०**—अनल्पानि बहूनि **दग्धानि**=प्लुष्टानि च तानि **अरिपुराणि**=शत्रुनगराणि (कर्मधा०) शत्रूणां पुराणि (ष० तत्पु०) यैः तथाभूतैः (ब० व्री०) अथ च **अनलवत्**=अग्निवत् उज्ज्वलैः (उपमान तत्पु०) **निजाः**=स्वीयाः **प्रतापाः**=प्रभावाः तैः (कर्मधा०) **ज्वलत्**=दीप्यमानम् **भुवः**=पृथिव्याः **वलयम्**=मण्डलम् **प्रदक्षिणीकृत्य**=परिक्रम्य भ्रमित्वेत्यर्थः (गृहागमने) **जयाय**=कृतसर्वभूविजयनिमित्तमित्यर्थः **सृष्टया**=कृतया पुरजनैः पुरोहितैर्वा **नीराजनया**=आरात्रिकया **रराज**=शुशुभे। दिग्विजये शत्रुनगराणि प्रज्वाल्य भृशतरमुज्ज्वलो नलप्रतापो नीराजनाकार्यं करोति स्मेति भावः ॥ १० ॥

व्याकरण—राजघः—राज्ञो हन्तीति राजन्+√हन् 'राजघ उपसंख्यानम्' इति निपातनात् साधु। **प्रदक्षिणीकृत्य**=अप्रदक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वेति प्रदक्षिण+च्वि+ल्यप्।

हिन्दी—राजाओं का वध करने वाला वह (नल) बहुत से शत्रु-नगरों को जला देने वाले एवं अग्नि-जैसे उज्ज्वल अपने प्रतापों के रूप में, देदीप्यमान भू-मण्डल का (विजय हेतु) चारों ओर चक्कर काटकर विजयोपलक्ष्य में (पुरोहितों एवं प्रजाजनों के द्वारा) की हुई आरती से शोभित होता था ॥ १० ॥

टिप्पणी—अनल०—अनल्पदग्धारिपुराश्रते अनलाः (कर्मधा०) तैः उज्ज्वलैः ऐसा विग्रह भी किया जा सकता है अर्थात् शत्रु-नगरों को जला देने से नल का प्रताप और भी बढ़ गया जिससे सारा भूमण्डल दीप्त हो उठा। यहाँ प्रताप पर नीराजनात्व का आरोप होने से व्यस्त रूपक किसी ने माना है। लेकिन हमारे विचार से यहाँ गम्योत्प्रेक्षा मानना अधिक अच्छा रहेगा। कवि की कल्पना यह है कि अपने देदीप्यमान प्रताप से नल ऐसा लग रहा था मानो उसकी आरती की जा रही हो। अनलोज्ज्वलैः में लुप्तोपमा है। नीराजना—विजय, विवाह आदि करके लौट आने पर पुरोहित अथवा कहीं महिलाजन मांगलिक क्रिया के रूप में विजेता अथवा वर-वधू आदि की आरती उतारा करते हैं। यह प्रथा देश में सर्वत्र प्रचलित है। शब्दालंकारों में 'राज' 'राज' 'राज' में यमक, 'ल' और 'न' की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास है ॥१०॥

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यविश्रमाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥११॥

अन्वयः—तेन अखिले महीतले निरीतिभावं गमिते (सति) निवारिताः अतिवृष्टयः अनन्य-संश्रयाः (सत्यः) प्रतीपभूपाल-मृगीदृशां दृशः न तत्यजुः नूनम् ॥

टीका—**तेन** = नलेन **अखिले** = सकले **महीतले** = मह्याः तले (ष० तत्पु०) **निरी०**—निर्गता **ईतयः** = अतिवृष्ट्यादयो विपत्तयः यस्मात् तथाभूतस्य (प्रादि ब० व्री०) भावः = तत्त्वम् निरीतित्वमिति यावत् (ष० तत्पु०) तम् **गमिते** = प्रापिते सति **निवारिताः** = प्रतिषिद्धाः **अतिवृष्टयः** = ईतिविशेषाः **अनन्य०**—न **अन्यः संश्रयः** = आश्रयः यासां ताः (ब० व्री०) सत्यः **प्रतीप०**—प्रतीपाः = विरुद्धाः शत्रव इत्यर्थः च ते **भूपालाः** = राजानः (कर्मधा०) तेषाम् **मृगीदृशाम्** = मृगीणां दृशौ इव दृशौ यासां ताः (ब० व्री०) तासाम् मृगनयनीनां स्त्रीणामित्यर्थः **दृशः** = नयनानि न **तत्यजुः** = अत्यजन् नलेन शत्रवो हताः तासां स्त्रियश्च सततं रुरुदुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

व्याकरण-**गमिते**—√गम् + णिच् + क्त कर्मणि निवारिताः—नि√वृ + णिच् + क्त (कर्मणि) **प्रतीप**—प्रतिगताः आपो यत्रेति (प्रादि ब० व्री०) प्रति + अप् + अच् अप् को ईप्। भूपाल०—भुवं पालयतीतिभू + √पाल् + अच् (कर्तरि)।

हिन्दी—उस (नल) के द्वारा सारे भूमण्डल के ईति-रहित कर दिये जाने पर, रोक दी गई अतिवृष्टियाँ अन्यत्र आश्रय न पाये हुए मानो शत्रु राजाओं की मृगनयनियों की आँखों को नहीं छोड़ती थी (अर्थात् वहाँ जा बस गईं) ॥ ११ ॥

टिप्पणी—ईति—ईति विपत्ति को कहते हैं। वे छः होती हैं—**अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः** ॥ अर्थात् अतिवृष्टि, सूखा, चूहे, टिड्डीदल, तोते और पड़ोसी (शत्रु) राजे। नल के राजत्व-काल में उसके पुण्य और प्रताप के कारण राज्य में कहीं भी किसी प्रकार की विपत्ति नहीं पड़ती थी। अतिवृष्टि को शत्रु-राजाओं की रानियों के नेत्रों में रहना पड़ा अर्थात् नल ने शत्रु मार दिए जिसके कारण उनकी विधवा रानियाँ रात-दिन आँखों से आँसुओं की बाढ़ बहाती रहती थीं। वह मानो अतिवृष्टि थी। इस श्लोक में

'नूनम्' उत्प्रेक्षा-वाचक है। इस सम्बन्ध में देखिये साहित्य-दर्पण—'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षा-व्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः॥' 'मृगीदृशाम्' में लुप्तोपमा रानियों के दिन-रात रोते रहने के रूप में घुमा-फिराकर (भंग्यन्तरेण) नल ने "राजाओं को मार दिया"—यह गम्य बात कह दी गई है, अतः पर्यायोक्त ('गम्यस्यापि भङ्गयन्तरेणाख्यानं पर्यायोक्तम्') भी है। 'रिता' 'रोति' 'दृशां दृशः' में छेकानुप्रास है। यह इन सबकी संसृष्टि है॥११॥

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी बहुम्।
दिगङ्गनाङ्गावरणं रणाङ्गणे यशःपटं तद्भटचातुरीतुरी॥१२॥

अन्वयः—महासि-वेम्नः सह-कृत्वरी तद्भटचातुरी-तुरी रणाङ्गणे सितांशु-वर्णैः तद्-गुणैः दिगङ्गनाङ्गाऽऽवरणं बहु यशःपटं वयति स्म॥

टीका—**महा०**—**महान्** चासौ **असिः**=खड्गः **महासिः** (कर्मधा०) स एव **वेमा**=वयन-दण्डः ('पुंसि **वेमा** वाय-दण्डः' इत्यमरः) (कर्मधा०) तस्य **सहकृत्वरी**=सहकारिणी **तद्भट०**—तस्य=नलस्य **भटाः**=सैनिकाः तेषां **चातुरी**=चतुरता युद्धनैपुण्यमित्यर्थः (ष० तत्पु०) एव **तुरी**=निष्पन्न वस्त्र-वेष्टन दण्डः **रणः**=युद्धम् एव **अङ्गणम्**=चत्वरम् (कर्मधा०) तस्मिन् **सितां०** **सिताः**=श्वेताः **अंशवः**=किरणाः (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः चन्द्र इत्यर्थः (ब० व्री०) तद्वत् **वर्णः** (उपमान तत्पु०) येषां तैः शुभ्रैरित्यर्थः (ब० व्री०) **तस्य**=नलस्य **गुणैः**=शौर्यादिभिः एव **गुणैः**=तन्तुभिः **दिग०**—**दिशः एव अङ्गनाः** (कर्मधा०) तासाम् **अङ्गानाम्**=अवयवानाम् **आवरणम्**=आच्छादकम् (ष० तत्पु०) **बहु**=विशालम् **यशः**=कीर्तिः एव **पटः**=वस्त्रम् (ष० तत्पु०) **वयतिस्म**=ततान। नल-शौर्यं विनैव तद्भटैः शत्रून् विजित्य तद्-यशश्चतुर्दिक्षु विस्तारितमिति भावः॥ १२॥

व्याकरण—**सहकृत्वरी**=सह करोतीति सह+√कृ+क्वनिप्+ङीप्। **चातुरी**—चतुरस्य भाव इति चतुर+अण्-ङीप्। **आवरणम्**—आवृणोतीति आ+√वृ+ल्यु (कर्तरि)।

हिन्दी—विशाल खड्गरूपी करघे की सहयोगिनी उस (नल) के सैनिकों की चतुरतारूपी तुरी (माकु, ढरकी) रणाङ्गण में चन्द्रमा जैसे (श्वेत) उस (नल) के गुणों (शौर्यादि) रूपी गुणों (तन्तुओं) से दिशा-रूपी अंगनाओं के अङ्गों को ढकने वाला विशाल यश-रूपी पट बुनती थी॥१२॥

टिप्पणी—नल के सैनिक ही इतने शूर-वीर थे कि वे स्वयं ही शत्रुओं का नाश करके उसके यश पर चार चाँद लगा देते थे। कुछ टीकाकार यहाँ 'तद्-भट', में 'सः=नलश्चासौ भटः' यों (कर्मधा०) विग्रह करके तत् शब्द से नल को ही लेते हैं, क्योंकि प्रकरण नल के शौर्य का चल रहा है, न कि उसके सैनिकों का अर्थात् स्वयं वह योधा नल अपने शौर्य कर्म से यश-अर्जन करता था। यहाँ, पर वेमा, चातुरी पर असितुरी, दिशाओं पर अङ्गनाओं, स्वगुणों पर गुणों (सूत्रों) और यश पर पट का आरोप है। उनमें मुख्य यश-पट है, शेष उसके अङ्ग हैं इसलिए यह साङ्ग-रूपक है, गुण-शब्द में श्लेष है। 'तुरी' 'तुरी' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है॥१२॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद्विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत॥१३॥

अन्वयः—प्रतीप-भूपैः इव विरुद्ध-धर्मैः अपि यतः भिया भेत्तृता उज्झिता किम् ? यत् सः ओजसा अमित्रजित् (अपि) मित्रजित्, (अथ च) विचार-दृक् अपि चार-दृक् अवर्तत ।

टीका—**प्रतीपाः**=विरुद्धाश्च ते **भूपाः**=नृपाः तैः (कर्मधा०) इव **विरुद्धाश्च ते धर्माः**=स्वभावाः तैः (कर्मधा०) अपि ततः=तस्मात् (नलात्) भिया=भयेन **भेत्तृता**=भेदकत्वम्, उपजापः नल-प्रजासु अन्तर्भेद इति यावत् **उज्झिता**=त्यक्ता किमिति प्रश्ने उत्प्रेक्षायां वा, **यत्**=यतः सः=नलः **ओजसा**=तेजसा **अमित्रान्**=शत्रून् जयतीति तथोक्तः (उप० तत्पु०) अपि **मित्रजित्**=सुहृत्-जित्, यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजित् इति विरोधः, तत्परिहारश्च ओजसा **मित्रम्**=सूर्यं जयतीति तथोक्तः, अर्थात् नलः स्व-प्रतापेन शत्रूनपि जयति स्म, सूर्यमपि च जयति स्म। **विचार०**—विगताः चाराः=गूढ-पुरुषाः ('चारश्च गूढपुरुषः' इत्यमरः) एव दृग् यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) अपि चारदृग् यः खलु विचार-दृग् स कथं चारदृग् इति विरोधः तत्परिहारश्च **विचारः**=विवेकः शास्त्रमिति वा दृग् यस्य सः अर्थात् स शास्त्र-चक्षुषा, चार-चक्षुषा च पश्यति स्म, यथोक्तम्—"चारैः पश्यन्ति राजानः" **अवर्तत**=आसीत् ।

व्याकरण—ततःभिया—यहाँ भय-हेतु में पञ्चमी है। **भेत्तृता**=भिनत्तीति√भिद्+तृच्+तल्+टाप्। **उज्झिता**—√उज्झ्+क्त (कर्मणि) **अमित्रजित्**—√जि+क्विप् (कर्तरि) **चारः** चरतीति√चर+अच् (कर्तरि) चर एव चारः (अण् स्वार्थे)।

हिन्दी—विरोधी राजाओं की तरह नल की डर से विरुद्ध धर्मों ने भी विरोधिता छोड़ दी है क्या ? क्योंकि वह (नल) तेज से अमित्र-विजेता (शत्रु-विजेता) भी था और मित्र विजेता (१) **सुहृत्**—विजेता (२) (सूर्य—विजेता) भी था) एवं विचार-दृक् ((१) बिना चारों=गुप्तचरों—के देखने वाला (२) विचार=विवेक—से देखने वाला) भी था, और चार-दृक् [चारों से देखने वाला) भी था ॥ १३ ॥

टिप्पणी—यहाँ कवि ने अमित्र, मित्र एवं विचार, चार शब्दों में श्लेष रखकर विरोधाभास की अनोखी छटा दिखा रखी है। जो व्यक्ति अमित्र—शत्रु—को जीतता है, वह भला मित्र—सुहृत्—को क्यों जीतेगा ? वह तो उसका स्नेह-पात्र होता है। अतः यह बिलकुल विरुद्ध बात है, लेकिन मित्र शब्द का सूर्य अर्थ करके विरोध-परिहार हो जाता है अर्थात् नल अपने तेज से सूर्य का जीतने वाला था। इसी तरह विचार-दृक्—बिना—चारों—गुप्तचरों-के देखने वाला होता हुआ भी चार-दृक्—चारों से देखने वाला था। यह भी विरुद्ध बात है। किन्तु विचार का अर्थ विवेक करके समाधान हो जाता है। इस बात की तुलना विरोधी राजाओं से की गई है, जिन्होंने नल से भय खाकर उसकी प्रजा में भेत्तृता—उसके विरुद्ध प्रजा में फूट डालना—छोड़ दिया था। यहाँ उपमा है जो 'किम्' शब्द द्वारा वाच्य उत्प्रेक्षा की भूमि बना रही है, उत्प्रेक्षा भी विरोधाभास का अङ्ग बनी हुई है—इस तरह यहाँ इन सभी का अङ्गाङ्गिभाव—संकर है। उसका भी 'मित्र' 'मित्र' 'चार' 'चार' से बने यमक के साथ एकवाचकानुप्रवेश संकर है ॥१३॥

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा ।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥१४॥

अन्वयः—विधिः यदा यदा तदोजसः तद्-यशसः (च) स्थितौ इमौ वृथा—इति चित्ते कुरुते, तदा (तदा) भानोः विधोः अपि परिवेष-कैतवात् कुण्डलनाम् तनोति ।

टीका-**विधिः**=ब्रह्मा **यदा-यदा**=यस्मिन् यस्मिन् समये तस्य=नलस्य **ओजसः**=तेजसः (ष० तत्पु०) **तस्य**=नलस्य **यशसः**=कीर्तेः (ष० तत्पु०) (च) **स्थितौ**=विद्यमानत्वे सत्तायामिति यावत् **इमौ**=सूर्य-चन्द्रौ **वृथा**=व्यर्थौ इति **चित्ते कुरुते**=विचारयतीत्यर्थः **तदा तदा**=तस्मिन् तस्मिन् समये **भानोः**=सूर्यस्य **विधोः**=चन्द्रस्य **अपि**=च **परि०** **परिवेषः**=परिधिः ('परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यक-मण्डले' इत्यमरः) एव **कैतवम्**=व्याजः तस्मात् (कर्मधा०) ('कपटोऽस्त्री व्याज-दम्भोपधयश्छद्म-कैतवे' इत्यमरः) **कुण्डलनाम्**=वैयर्थ्य-सूचकं रेखा-मण्डलमित्यर्थः **तनोति**=करोति अर्थात् यत् कार्यं सूर्य-चन्द्रौ कुरुतः तत् नलस्य तेजो यशश्चैव कुरुतः तस्मात् तौ व्यर्थाविव । नलस्य प्रतापः यशश्च सूर्यं चन्द्रमपि च विजयेते इति भावः ॥ १४ ॥

व्याकरण—**परिवेषः**=परि+√विष्+घञ् **कैतवम्**=कितवस्य भावः इति कितव=अण् । **कुण्डलना**=कुण्डलं करोतीति कुण्डल+णिच् कुण्डलयति (नाम धा०) बनाकर √कुण्डल्+युच् (भावे+टाप्) ।

हिन्दी—ब्रह्मा जब-जब यह सोचते हैं कि उस (नल) के तेज और यश के रहते-रहते सूर्य और चन्द्रमा बेकार हैं, तब-तब वह परिवेश के बहाने उनके इर्द गिर्द गोल घेरा बना देते हैं ॥ १४ ॥

टिप्पणी—**परिवेष** (ग)—हम देखते हैं कि कभी-कभी सूर्य और चन्द्रमा के इर्द-गिर्द दीप्ति-रेखा (halo) बनी रहती है, जो कि एक प्राकृतिक दृश्य (Phenomenon) होता है । इस पर कवि की कल्पना है कि मानो वह व्यर्थता-सूचक गोल रेखाचिह्न है, क्योंकि सूर्य का काम नल का तेज और चन्द्र का कार्य उसका यश ही कर देते हैं, फिर उनकी क्या आवश्यकता है । लिखते समय जब हम किसी अक्षर को दो बार लिख बैठते हैं, तो एक पर आज-कल तो क्रास (×) का चिह्न बना देते हैं, लेकिन अतीत में उसके इर्द-गिर्द गोल रेखा-चिह्न बनाने की प्रथा थी । इससे यह ध्वनि निकली कि नल का तेज सूर्य की तरह उज्ज्वल और यश चन्द्रमा की तरह धवल है । यहाँ परिवेष पर कुण्डलना की कल्पना करने से उत्प्रेक्षा है जो वाचक पद के न होने के कारण गम्य है, वह भी परिवेष के अपह्नव करने से हुई है, इसलिए यह कैतवापह्नुत्युत्थापित उत्प्रेक्षा कहलाई । 'विधिः' 'विधोः' आदि में अनुप्रास है ॥१४॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नलः ॥१५॥

अन्वयः—अल्पित-कल्पपादपः नृपः दारिद्र्य-दरिद्रतां प्रणीय 'अयम् दरिद्रः भविता' इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतीम् वैधसीम् लिपिम् मृषा न चक्रे ।

टीका—**अल्पि०**—**अल्पितः**=अल्पीकृतः अधःकृत इति यावत् चासौ **कल्प-पादपः**=कल्पवृक्षः (कर्मधा०) येन तथाभूतः (ब० व्री०) नृपः=राजा **नलः** **दारिद्र्यस्य**=निर्धनतायाः **दरिद्रताम्**=अभावमित्यर्थः **प्रणीय**=कृत्वा अर्थात् अर्थिजनाय धनं दत्त्वा तस्य धनाभावं निराकृत्य

अयम् एषः = अर्थिजनः दरिद्रः = धन-रहितो भविता = भविष्यति" इति अर्थिजनस्य = याचकजनस्य ललाटे = मस्तके जाग्रतीम् = प्रकाशमानामित्यर्थः वैधसीम् = वेधस्सम्बन्धिनीम् ब्रह्मण इति यावत् लिपिम् = लेखम् मृषा = मिथ्या न चक्रे = कृतवान् अर्थात् दरिद्राणां ललाटे ब्रह्मलिखिता दारिद्र्य-रेखा नापाकृता अपि तु दरिद्रताया दारिद्र्यं कृत्वा सा रक्षितैव। नलराज्ये कोऽपि दरिद्रो नासीदिति भावः ॥ १५ ॥

व्याकरण—अल्पित = अल्पं करोतीति अल्प + णिच् (नामधा०) अल्पयति बनाकर निष्ठा में क्त (कर्मणि) दारिद्र्यम् = दरिद्रस्य भावः इति दरिद्र + ष्यञ्। दरिद्रता दरिद्रस्य भाव इति दरिद्र + तल् + टाप्। प्रणीय = प्र + √नी + ल्यप्। जाग्रतीम् = √जागृ + शतृ + ङीप्। वैधसीम् = वेधस इयम् इति वेधस् + अण् + ङीप्।

टिप्पणी—अल्पित०—दान में नल ने कल्प वृक्ष को भी नीचा दिखा दिया था क्योंकि कल्पवृक्ष तो माँगने पर ही देता है, किन्तु नल बिना माँगे ही दे देता था। यहाँ उपमान कल्पवृक्ष का तिरस्कार किया गया है, अतः प्रतीपालंकार है। दारिद्र्य०—नल ने दरिद्रों के माथे पर ब्रह्मा द्वारा लिखी दरिद्रता की रेखा नहीं मिटाई, उसे बनाये ही रखा, लेकिन वह दरिद्रता दारिद्र्य की थी, धन की नहीं अर्थात् उसने कहीं भी धनाभाव नहीं रहने दिया, सबको संपन्न बना दिया। अल्पित-कल्पपादप, दारिद्र्य-दरिद्रता आदि में अनुप्रास है। १५॥

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरुः।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरःस्थितम् ॥१६॥

अन्वयः—यत् (मया) मेरुः विभज्य न अर्थिसात्कृतः, सिन्धुः उत्सर्ग-जल-व्ययैः मरुः (न कृतः), तत् तेन द्वि-फाल-बद्धाः, चिकुराः शिरः-स्थितम् निजायशो-युगम् अमानि।

टीका—यत् = यस्मात् कारणात् (मया) मेरुः-सुमेरुः हेमाद्रिरिति यावत् विभज्य = भङ्क्त्वा खण्डशः कृत्वेत्यर्थः न अर्थि०—अर्थिनां = याचकानाम् अधीनीकृतः अर्थात् याचकेभ्यो न दत्तः, सिन्धुः = समुद्रः उत्सर्गार्थं जलम् उत्सर्ग-जलम् (च० तत्पु०) तस्य व्ययैः = प्रक्षेपैः (ष० तत्पु०) मरुः = मरुस्थलं निर्जलदेश इति यावत् च न कृतः = दान हि जलोत्सर्गपूर्वकमुच्यते, तत् = तस्मात् कारणात् तेन = नलेन द्वयोः फालयोः = भागयोः बद्धाः रक्षिता इति यावत् चिकुराः = केशाः ('चिकुरः कुन्तलो बालः' इत्यमरः)। शिरसि = मूर्धनि स्थितम् = आसीनम् निज०—अयशसः = अपकीर्तेः युगलम् = द्वयम् (ष० तत्पु०) निजं च तत् अयशोयुगम् (कर्मधा०) अमानि मेने अर्थात् "सुमेरु-पर्वतं खण्डशः कृत्वा सुवर्णं याचकेभ्यो न दत्तम्, दान-समये च संकल्पार्थं जलमुद्धृत्य समुद्रो न शोषितः"—इति केशफालद्वयरूपे मे मूर्ध्नि अपकीर्तिद्वयं तिष्ठति ॥ १६ ॥

व्याकरण—अर्थि०—अर्थिनाम् अधीनीकरोतीति अर्थिसात्करोति इति अर्थिन् + सात् + √कृ, निष्ठा में क्त (कर्मणि) (तदधीनवचने पा० ५।४।५२)। उत्सर्गः उत् + √सृज् + घञ् (भावे)। व्ययः — वि + अच् (भावे) अमानि √मन् + लुङ् प्र० पु० ए०।

हिन्दी—"क्योंकि (मैं) सुमेरु-पर्वत के टुकड़े-टुकड़े करके (उसका सारा सोना) याचक-

समूह के अधीन नहीं कर पाया (और) दान (के संकल्प) में जल छोड़कर समुद्र को (खाली करके) मरुस्थल नहीं बना पाया"—इस कारण उस (नल) ने दो भागों (पट्टियों) में बँधे बाल सिर पर स्थित अपने दो अपयश समझे ॥ १६ ॥

टिप्पणी—निजायशोयुगम्—संस्कृत में लोकोक्ति है—'अकीर्तिः शिरसि स्थिता' अर्थात् कलंक सिर पर लगता है। अपयश कलंक ही होता है जिसका कविजगत में काला रूप माना जाता है—'मालिन्यं व्योम्नि पापे'। नल के सिर के बाल काले और दो भागों में विभक्त थे। नल समझ रहा था मानो मेरे सिर पर ये दो कलंक हैं। हम पीछे बता आए हैं कि 'मन्ये, ध्रुवम्' आदि शब्द उत्प्रेक्षा-वाचक होते हैं, अतः यहाँ उत्प्रेक्षा है, साथ ही निन्दा के व्याज से यहाँ नल की स्तुति हो रही है कि वह बड़ा भारी दानी था, अतः व्याज-स्तुति का उत्प्रेक्षा के साथ संकर है। किन्तु विद्याधर का कहना है कि यहाँ द्विफाल-बद्ध-केशों का प्रतिषेध करके उनपर अयशोयुगत्व की स्थापना से अपह्नुति है जबकि मल्लिनाथ ने केशों पर कार्ष्ण्य-साम्य से अयश का आरोप होने के कारण रूपक माना है ॥१६॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥१७॥

अन्वयः—पटीयान् दिनेश्वर-श्रीः अयम् देवः अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना बुधेन च समम् मुदा एव समयम् नयन् दिने दिने उदयं दधौ ।

टीका—पटी०—अतिशयेन पटुः=निपुणः कवित्वाद्यभ्यासवान् इत्यर्थः, अन्यत्र अन्धकार-निवारणसमर्थः तेजस्वीत्यर्थः। दिने०—दिनस्य ईश्वरः (ष० तत्पु:) सूर्यः तस्य या श्रीः=कान्तिः तेज इति यावत् तद्वत् श्रीः यस्य तथाभूतः (ब० व्रीο) अयम् देवः=राजा नल इत्यर्थः अन्यत्र देवः=भगवान् अजस्रम्=निरन्तरम् अभ्यासम्=काव्य-निर्माण-व्यसनम् शास्त्रमनन-व्यसनञ्च अन्यत्र सान्निध्यम् (अभ्यासो व्यसनेऽन्तिके इत्यमरः) उपेयुषा=प्राप्तवता, कविना=काव्यकर्त्रा, अन्यत्र शुक्रेण, बुधेन विदुषा अन्यत्र चन्द्रपुत्रेण ग्रहविशेषेणेति यावत् समम्=सह मुदा एव=प्रसन्नतया एव समयम्=कालम् नयन्—यापयन् अन्यत्र कुर्वन् दिने दिने=प्रति-दिनम् उदयम्=अभ्युदयम् अन्यत्र गगने उद्गमनम् दधौ=धारयामास ॥ १७ ॥

व्याकरण—पटीयान्—अतिशय अर्थ में पटु शब्द से ईयसुन् प्रत्यय है। उपेयुषा—उप+√इण् से उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (पा० ३.२.१०९) सूत्र द्वारा भूतकाल के अर्थ में उपेयिवान् निपात—अनियमित रूप—से बनता है। उसका यह तृतीयान्त रूप है। मुद्=√मुद्+क्विप् (भावे)।

हिन्दी—जिस तरह अतिपटु (तेजस्वी) सूर्यदेव निरन्तर (अपने) समीप में रह रहे कवि (शुक्र) और बुध (ग्रह-विशेष) के साथ प्रसन्नता पूर्वक समय का निर्माण करते हुए प्रतिदिन उदय होते हैं, उसी तरह सूर्य की सी कान्तिवाला (काव्यादि में) अति पटु यह राजा नल भी निरन्तर (काव्य और शास्त्र के) अभ्यास में लगे हुए कवियों (काव्यकारों) तथा बुधों (विद्वानों) के साथ प्रसन्नता-पूर्वक समय काटता हुआ प्रतिदिन उदय (अभ्युदय) रख रहा था ॥ १७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने श्लेषालङ्कार का चमत्कार भर रखा है। पटीयान् कवि,बुध आदि सारे शब्द द्वयर्थक हैं। नल के 'पक्ष में कवि और बुध शब्द को 'जातावेकवचनम्' समझकर बहुर्थक लेना है जबकि सूर्य की तरफ वे एक-एक ही ग्रह हैं। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार 'बुध-शुक्रौ सदा पूर्वोत्तर-राशिस्थितौ' होते हैं और सूर्य के समीप रहते हैं। नल के समीप भी कवियों और विद्वानों का जमघट लगा रहता था। तेज में नल का सूर्य के साथ आर्थिक सादृश्य रहते हुए भी अन्यत्र शाब्दिक सादृश्य ही है अतः यह श्लिष्टोपमा कहलाती है। 'दिनेश्वरश्रीः' में लुप्तोपमा भी है ॥१७॥

अधोविधानात् कमलप्रवालयोः शिरःसु दानादखिलक्ष्माभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पदं किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥ १८॥

अन्वय:—कमल-प्रवालयोः अधोविधानात् अखिल–क्ष्माभुजाम् शिरस्सु दानात् (च) 'इदम् पुरा ऊर्ध्वं भवति' इति (कारणात्) वेधसा अस्य पदम् ऊर्ध्व–रेखया अङ्कितम् किम् ?

टीका—**कमल०**—कमलं च प्रवालं चेति **कमल–प्रवाले** (द्वन्द्व) तयोः=**अधोविधानात्**=नीचैः करणात् अरुणत्व-स्निग्धत्वयोः निर्जितत्वात् इत्यर्थः तथा **अखि०—अखिलाश्च ते क्ष्माभुजः**=राजानः (कर्मधा०) तेषाम् **शिरस्सु**=मूर्धसु **दानात्**=विधानात् स्थापनादित्यर्थः= '**इदम्**=नल-पदम् **पुरा**=अग्रे भविष्यत्काले इति यावत् ऊर्ध्वम्=उत्कृष्टम् उपरि च भवति= भविष्यति' इति कारणात् **वेधसा**=ब्रह्मणा **अस्य**=नलस्य **पदम्**=पादम् **ऊर्ध्वा**=उपरि गता **रेखा**=पंक्तिः तया (कर्मधा०) **अङ्कितम्**=चिह्नितम् किम् इत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ १७ ॥

व्याकरण—क्ष्माभुजाम्—क्ष्माम् (पृथिवीम्) भुञ्जन्ति इति क्ष्मा+√भुज्+क्विप् (कर्तरि) पुरा ऊर्ध्वं भवति' यहाँ 'यावत्–पुरा–निपातयोर्लट्' (पा० ३।३।४) से 'पुरा' के योग में भविष्यदर्थ में लट् हुआ है।

हिन्दी—कमल और किसलय को नीचे कर देने (तथा) सभी राजाओं के सिरों पर रखने से 'यह (पैर) आगे ऊपर (ही) होगा' इस कारण ब्रह्मा ने इस (नल) का पैर ऊर्ध्व रेखा से चिह्नित कर दिया था क्या ? ॥ १८ ॥

टिप्पणी—सामुद्रिक शास्त्रानुसार 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमान्'। अर्थात् जिस व्यक्ति के पैर पर ऊपर को रेखा जाती है, वह बड़ा उत्कर्षशाली होता है। इसी तथ्य पर कवि ने कल्पना की है। नल का पैर कमल और किसलय को नीचे किये हुए अर्थात् उनसे ऊपर (उत्कृष्ट) था, साथ ही राजाओं के सिरों के भी ऊपर था। यहाँ 'किम्' शब्द के उत्प्रेक्षा-वाचक होने से उत्प्रेक्षा है उपमान कमल और प्रवाल का तिरस्कार करने से साथ में प्रतीप भी है।

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवाञ्शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—शैशवशेषवान् अयम् जगज्जयम् तेन च कोशम् अक्षयम् प्रणीतवान्। अथ यथा *रतीशस्य सखा ऋतुः वनम् (आलिङ्गति) तथा यौवनम् अस्य वपुः आलिङ्गत्।*

टीका—**शैश०** शिशोः भावः **शैशवम्** तस्य **शेषः** (ष० तत्पु०) अस्मिन् अस्तीति तथोक्तः

ईषदवशिष्टशैशव इत्यर्थः **अयम्**=नलः **जगतः जयम्**=विजयम् (ष० तत्पु०) तेन= जयेनेत्यर्थः **कोशम्**=निधिम् **अक्षयम्**=परिपूर्णमित्यर्थः **प्रणीतवान्**=कृतवान् **अथ**=एतदनन्तरम् **यथा रत्याः ईशः**=पतिः कामदेव इति यावत् (ष० तत्पु०) **सखा**=मित्रम् **ऋतुः**=वसन्तः **वनम् तथा यौवनम्**=तारुण्यम् **अस्य**=नलस्य **वपुः**=शरीरम् **आलिङ्गत्**=आश्लिष्यत् असमाप्त-शैशव एव नलो दिग्विजयं कृत्वा यौवनमारूढ इत्यर्थः।

व्याकरण—शैशवम्—शिशोः भाव इति शिशु+अण्। **रतीशस्य ऋतुः**—यहाँ गुण प्राप्त था किन्तु 'ऋत्यकः' (पा० ६।१।१२८) से विकल्प में प्रकृतिभाव हो गया है।

हिन्दी—शैशव शेष रहते-रहते उस (नल) ने जगत्-विजय (कर लिया) और उससे कोश अक्षय कर दिया। तदनन्तर यौवन ने उसके शरीर का इस तरह आलिंगन किया जैसे कामदेव का मित्र वसन्त वन का आलिंगन किया करता है ॥ १९ ॥

टिप्पणी—यहाँ वसन्त से उपमा देकर कवि की यह वस्तुध्वनि है कि वसन्तागमन से जैसे वन सौन्दर्य से जगमगा जाता है, वैसे ही यौवन आने से नल के शरीर का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो उठा। शत्रुओं का सफाया हो गया है; कोष भी अक्षय हो गया है; अब दमयन्तीलाभ शेष है। यहाँ उपमालंकार है। पहले—दूसरे पादों के अन्त में 'अयम्' 'अयम्' में अन्त्यानुप्रास, तीसरे चौथे पादों के अन्त में 'वनम्' 'वनम्' में यमक है ॥१९॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विक[1] शर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

अन्वयः—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि, पल्लवे तच्छय-च्छाय-लवः=अपि क्व? शारदः पार्विक-शर्वरीश्वरः तदास्य-दास्ये अपि अधिकारिताम् न गतः।

टीका—तस्य=नलस्य **अङ्घ्रिणा**=पादेन (ष० तत्पु०) **पद्मेषु**=कमलेषु **घृणा**=जुगुप्सा **अधारि**=अकारि पादस्य पद्मापेक्षया अधिकसुन्दरत्वात्। **पल्लवे**=नव-किसलये **तस्य**=नलस्य **शयः**=हस्तः ('पञ्चशाखः शयः पाणिः'—इत्यमरः) तस्य या **छाया**=कान्तिः तस्य **लवः**=लेशः (सर्वत्र ष० तत्पु०) क्व ? लेशोऽपि नास्त्येवेत्यर्थः। **शारदः**=शरत्कालीनः **शर्वर्याः**—रात्र्या **ईश्वरः**=स्वामी (ष० तत्पु०) शर्वरीश्वरः पार्विकः=पर्वणि भवः पौर्णमासीय इत्यर्थः पार्विकश्चासौ शर्वरीश्वरः इति पार्वि० (कर्मधा०) पूर्णिमा-चन्द्रः **तस्य**=नलस्य यत् **आस्यम्**=मुखम् तस्य **दास्यम्** भृत्यत्वम् तस्मिन् (ष० तत्पु०) **अधिकारिताम्**=योग्यतामित्यर्थः **न गतः**=प्राप्तः अर्थात् दास्य-योग्योऽपि नासीत्। नलस्य पाद-पाणि-मुखम् निरुपममिति भावः ॥ २० ॥

व्याकरण—तच्छय०—यहाँ शयस्य छाया इति विभाषा सेना० (पा० २।४।२५) से छाया शब्द को विकल्प से नपुंसक हो गया है। शारदः शरदि भव इति शरद्+अण्। पार्विकः=पर्वणि भव इति पर्वन्—ठञ्। **दास्यम्**=दासस्य भाव इति दास+ष्यञ्। **अधिकारिता**=अधिकारोऽस्यास्तीति अधिकार+इन् अधिकारी तस्य भाव इति अधिकारिन्+तल्+टाप्।

हिन्दी—उस (नल) के पैर ने कमलों से घृणा रखी; नव किसलय में उस (नल) के हाथ

[1]—पर्वण।

की कान्ति का लेश भी कहाँ ? शरद् की पौर्णमासी का चाँद उस (नल) के मुख की दासता का भी अधिकारी नहीं था ॥ २० ॥

टिप्पणी—यहाँ नल के पैर, हाथ और मुख के सामने क्रमशः पद्म, पल्लव एवं शरच्चन्द्र का तिरस्कार किया गया है, अतः प्रतीप है, किन्तु मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अंघ्रि आदि में छाया आदि का असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है, इसलिए यह असम्बन्धे सम्बन्धाति-शयोक्ति है 'च्छय' 'च्छय' 'दास्य' 'दास्ये' में छेकानुप्रास है ॥२०॥

किमस्य लोम्नां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न लेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ॥ २१ ॥

अन्वयः—विधिः रोम्णाम् कपटेन कोटिभिः रेखाभिः अस्य गुणान् न अजीगणत् किम् ? जगत्कृता रोम···षात् दूषण···वः (च) न कृताः किम् ?

टीका—विधिः = ब्रह्मा रोम्णाम् = लोम्नाम् कपटेन = व्याजेन कोटिभिः = कोटि-संख्याभिः सार्धत्रिकोटिभिरित्यर्थः यथोक्तम्—'तिस्रः कोटयोऽर्धकोटी च यानि रोमाणि मानुषे'। रेखाभिः = लेखाभिः अस्य = नलस्य गुणान् = शौर्यौदार्यादीन् न अजीगणत् = गणितवान् किम् अपितु गणित-वान् एव। जगत्कृता = जगत्करोति = सृजतीति तथोक्तः तेन (उपपद तत्पु०) ब्रह्मणेत्यर्थः रोम॰ = रोम्णाम् = लोम्नाम् ये कूपाः = विवराणि तेषां यः ओघः = समूहः तस्य मिषात् = व्याजात् (सर्वत्र ष० तत्पु०) दूषण॰—दूषणानाम् = दोषाणाम् यानि शून्यानि = अभावाः तेषां बिन्दवः तज्ज्ञापका वर्तुलरेखा इत्यर्थः न कृताः किम् अपि तु कृता एव। नलः सर्वगुणसम्पन्नः सर्वदोषरहितश्चासी-दिति भावः।

व्याकरण—विधिः—विदधाति = सृजति इति वि + √धा + कि (कर्तरि) अजीगणत् = √गण् (चुरा०) लुङ् जगत्कृता = जगत् + √कृ + क्विप् (कर्तरि)।

हिन्दी—ब्रह्मा ने रोमों के बहाने करोड़ों रेखाओं से इस (नल) के गुण नहीं गिने क्या ? जगत् स्रष्टा रोम-कूपों के समूह के बहाने दोषों के अभाव-सूचक बिन्दु—गोल-रेखायें—नहीं बना गया क्या ?

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि नल के रोमों और रोम-कूपों में उसके गुणों एवं दोषाभाव की गिनती की कल्पना कर बैठा है। उसमें करोड़ों गुण है और दोष सर्वथा शून्य है। 'किम्' शब्द यहाँ उत्प्रेक्षा का वाचक है साथ ही काकु वक्रोक्ति भी बना रहा है। उत्प्रेक्षायें दो हैं, काकु भी दो हैं। इनका एकवाचकानुप्रवेश—संकर कह सकते हैं। उसके साथ दो अपह्नुतियों की संसृष्टि भी है जो कपट और मिष शब्दों द्वारा अभिहित है। 'गण' 'गुणा' में छेक और 'कृता' 'कृता' में यमक भी है।

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्भ्याम् अरि–दुर्ग–लुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता, तत्र उरःश्रिया च गोपुर···रिता गृहीता ध्रुवम्।

टीका:—**अमुष्य**=नलस्य **दोर्भ्याम्**=भुजाभ्याम् **अरि०-अरीणाम्**=शत्रूणाम् **दुर्गाणाम्**=कोटानाम् **लुण्ठने**=अपहरणे (ष० तत्पु०) **अर्गल०** **अर्गलम्**=विष्कम्भः कपाटरोधककाष्ठ-दण्डविशेष इति यावत् ('तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः) तत् इव **दीर्घम्** (उपमान तत्पु०) च **पीनं** च (कर्मधा०) तस्य भावः तत्ता तद्वत् दीर्घता पीवरता चेत्यर्थः, **तत्र**=लुण्ठने **उरसः**=वक्षसः **श्रिया**=कान्त्या (ष० तत्पु०) च **गोपुर०—गोपुरेषु**=पुरद्वारेषु ('पुरद्वारं तु गोपुरम्' इत्यमरः) **स्फुरन्ति**=दीप्यमानानि (स० तत्पु०) यानि **कपाटानि**=अरराणि द्वारावरक-काष्ठफलकानीत्यर्थः (कर्मधा०) **दुर्धर्षाणि**=अप्रधृष्याणि कठिनानीति यावत् च **तिरःप्रसारीणि**=विशालानीत्यर्थः च (कर्मधा०) तेषां भावः तत्ता **गृहीता**=अपहृता, अवलम्बिता **ध्रुवम्**=ननु। नलस्य भुजौ अर्गलवत् दीर्घौ पीनौ च वक्षःस्थलं च कपाटवत् दुर्धर्षं विशालञ्चासीदिति भावः ॥२२॥

व्याकरण—**दुर्धर्ष**=दुःखेन धर्षितुं योग्यम् इति दुर्+√धृष्+खल् । **तिरःप्रसारिता**=तिरस्+प्र+√सृ+णिन्+तल्+टाप् ।

हिन्दी—उस (नल) की भुजाओं ने शत्रुओं के किलों को लूट में आगल की लंबाई-मोटाई और वक्षःस्थल की कान्ति ने पुरद्वार के देदीप्यमान किवाड़ों की दृढ़ता-विशालता-ले ली हो जैसे।

टिप्पणी—शत्रु-नगर को जीतने पर विजेता सेना लूट-मार पर उतारू हो जाती है—यह आम बात है। नल के अंग भी क्यों पीछे रहते। उसकी भुजाओं ने अर्गल से लम्बाई मोटाई छीन ली जबकि उसकी छाती ने पुरद्वार के किवाड़ों की मजबूती और चौड़ाई ले ली। जड़ अगों ने भला क्या लूट करनी है। यह तो कवि की कल्पना-मात्र है, इसलिए यहाँ दो उत्प्रेक्षाओं की संसृष्टि है। ध्रुव शब्द उत्प्रेक्षावाचक होता है, इसके लिए देखिए साहित्यदर्पण—'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षा-व्यञ्जकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः॥' भावार्थ यह निकला कि नल 'आजानुबाहुः' और 'व्यूढोरस्क' था।

स्वकेलिलेशस्मितनिन्दितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥२३॥

अन्वयः—स्वकेलि...न्दुनः निजांश...सम्पदः, तन्मुखस्य अतद्...न्तरे चराचरे प्रतिमा न (आसीत्)।

टीका—**स्वकेलि०**—**स्वा**=स्वीया **केलिः**=क्रीडा (कर्मधा०) तस्याः **लेशः**=लवः (ष० तत्पु०) यत् **स्मितम्**=मृदुहासः (कर्मधा०) तेन **निन्दितः**=तिरस्कृतः (तृ० तत्पु०) **इन्दुः**=चन्द्रः (कर्मधा०) येन तथाभूतस्य (ब० व्री०) **निजांश०**—**निजः**=स्वकीयः **अंशः**=भागः भाग-रूपे इत्यर्थः (कर्मधा०) ये **दृशौ**=नयने (कर्मधा०) ताभ्याम् **तर्जिता**=भर्त्सिता (तृ० तत्पु०) **पद्म-सम्पत्**=कमल-सौन्दर्यम् (कर्मधा०) (पद्मानाम् सम्पत् ष० तत्पु०) येन तथाभूतस्य (ब० व्री०) **तस्य**=नलस्य **मुखस्य**=आननस्य (ष० तत्पु०) **अतद्०**—**तयोः** **द्वयी**=युगम् तस्याः **जित्वरम्** (ष० तत्पु०) **सुन्दरान्तरम्**=अन्यत् सुन्दरं (वस्तु) (कर्मधा०) यस्मिन् तथाभूते (ब० व्री०) न तद्द्वयी० इति अतद्द्वयी० (नञ् तत्पु०) **चराचरे**=स्थावर—जङ्गमात्मक-संसारे **प्रतिमा**=उपमानम् नासीदिति शेषः। नलस्य मुखं निरुपममिति भावः ॥ २३ ॥

व्याकरण-द्वयी = द्वौ अवयवौ अत्रेति द्वि + अयच् + ङीप्)। **जित्वर** = जयती + ति √जि क्वरप् (कर्तरि) **सुन्दरान्तरम्** = न अन्यत् सुन्दरम् इति सुन्द० यह अस्वपद-विग्रही समास मयूरव्यंसकादयश्च (पा० २।१।७२) इस सूत्र से निपातित है।

हिन्दी—अपने ही विलास के एक लघु अंश (भूत) मन्दहास से चन्द्रमा को तिरस्कृत किये (तथा) अपने ही अंश (-रूप) नयनों द्वारा कमलों के सौन्दर्य को नीचा दिखाये हुए उस (नल) के मुख की बराबरी करनेवाला, उन दोनों (चन्द्र और कमल) को जीतने वाले दूसरे सुन्दर (पदार्थ) से रहित चराचरात्मक संसार मे (कोई) था ही नहीं ।। २३ ।।

टिप्पणी—साधारणतः कवि-जगत् में मुख का उपमान या तो चन्द्रमा बनता है या फिर कमल किन्तु नल के मुख के एक छोटे से अंश मुसकान ने चन्द्र को दुत्कार दिया तो दूसरे अंश नयन ने कमल को पछाड़ दिया, ऐसी स्थिति में सारे मुख की बराबरी का संसार में कोई रहा ही नहीं। यहाँ उपमान-भूत चन्द्र और कमल का तिरस्कार कर दिया गया है, इसलिए दो प्रतीपों की संसृष्टि है किन्तु मल्लिनाथ ने मुख के निरौपम्य का चन्द्र और कमल-विजय कारण बताने से यहाँ काव्यलिंग माना है ।।२३।।

सरोरुहं तस्य दृशैव निर्जितं[1] जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥२४॥

अन्वयः—तस्य दृशा एव सरोरुहम् निर्जितम्; (तस्य) स्मितेन एव विधोः अपि श्रियः जिताः परं भव्यम् कुतः ? (अतः) तदाननस्य उपमितौ महती दरिद्रता-अहो ।। २४ ।।

टीका-तस्य = नलस्य **दृशा** = नयनेन एव **सरोरुहम्** = कमलं **निर्जितम्** = परास्तम, 'तर्जितं' पाठे धिक्कृतम्, (तस्य) **स्मितेन** = स्मयेन **एव विधोः** = चन्द्रस्य अपि **श्रियः** = कान्तयः **जिताः**, **परम्** = सरोरुह-विध्वतिरिक्तम् **भव्यम्** = सुन्दरम् (वस्तु) **कुतः** = कुत्र न कुत्रापीत्यर्थः, (अत एव) **तस्य** = नलस्य **आननस्य** = मुखस्य **उपमितौ** = उपमाने तुलनायामिति यावत् **महीयसी** = अतिमहती **दरिद्रता** = अभावः अत्यन्ताभाव इत्यर्थः इति **अहो** = आश्चर्यम् ।। २४ ।।

व्याकरण—सरोरुहम् = सरसि रोहतीति सरस् + √रुह् + अच् (कर्तरि । **स्मितम्** = √स्मि + क्त (भावे)। **भव्यम्** = भव्य-गेय० (पा० ३।४।६८) से निपातित अर्थात् अनियमित रूप। **उपमितिः** = उप + √मा + क्तिन् (भावे)।

हिन्दी—उस (नल) की आँख ने ही इन्दीवर को परास्त कर दिया; (उसके) स्मित ने ही चन्द्रमा की कान्ति जीत ली; (इन दोनों से) परे सुन्दर कहाँ है ? (अतः) उस (नल) के मुख की तुलना में बड़ी भारी दरिद्रता हो गई है—यह आश्चर्य है ।। २४ ।।

टिप्पणी—यहाँ कवि ने शब्दान्तर में यही बात कही जो पिछले श्लोक में आई हुई है। इसे हम स्पष्टतः पुनरुक्ति ही कहेंगे। अलंकार पहले-जैसे ही हैं ।।२४।।

स्वबालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैः समं चमर्येव तुलाभिलाषिणः।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥२५॥

१—तर्जितं।

अन्वयः—चमरी एव तदुत्तमाङ्गजैः समं स्वयं तुलाभिलाषिणः स्व-बाल-भारस्य अनागसे पुनः-पुनः पुच्छ-विलोलन-च्छलात् बाल-चापलम् शंसति ।

टीका—**चमरी**=मृगीविशेषः **एव**=अपि 'एवशब्दोऽप्यर्थः' इति नारायणः, **तदु०**=तस्य-नलस्य **उत्तमाङ्गजैः**=शिरोरुहैः **समम्**=सह **स्वयम्**=आत्मना **तुलाम्**=तुलनाम् **अभिलषति**=इच्छतीति तथोक्तस्य (उप० तत्पु०) **बालानाम्** भारः (ष० तत्पु०) **स्वः**=स्वीयः चासौ **बाल-भारः**=केशनिचयः (कर्मधा०) **अनागसे**=न **आगः**=अपराधः तस्मै (नञ् तत्पु० अत्र अभाव-परकः) अर्थात् अपराधाभावे **पुनः पुनः** **पुच्छ०**=**पुच्छस्य**=लाङ्गूलस्य **विलोलनम्**=चालनम् (ष० तत्पु०) तस्य **छलात्**=(ष० तत्पु०) **बाल०**-**बालानाम्**=केशानाम् अथ च **बालस्य**=**बालकस्य** **चापलम्**=चाञ्चल्यम् अथ च चपलताम् **शंसति**=कथयति, अर्थात् स्वचपलबालकम् **स्वयं महतां** साम्यं कर्तुमिच्छन्तं दृष्ट्वा तन्माता यथा हस्तचालनेन 'बालोऽयम्, नास्त्यस्यापराधः' क्षम्यतामयम्' इति ब्रूते तद्वत् चमरी अपि ॥ २५ ॥

व्याकरण—**उत्तमाङ्गजैः**—उत्तमं च तत् अङ्गम् शिर इत्यर्थः तस्मिन् जायन्ते इति उत्तमाङ्ग+√जन्+ड (सप्तम्यर्थे) । **विलोलनम्**—वि+√लुल्+णिच्+ल्युट् (भावे) **चापलम्**=चपलस्य भाव इति+चपल+अण् ।

हिन्दी—चमरी गाय भी उस (नल) के केशों से स्वयं बराबरी चाहनेवाले अपने बाल-समूह के अपराधाभाव हेतु बार-बार पूँछ हिलाने के बहाने बाल-चपलता ((१) बालों की चञ्चलता (२) बालक का मनचलापन) कह रही है ॥ २५ ॥

टिप्पणी—यहाँ कवि ने बाल शब्द में श्लेष रखकर बड़ा चमत्कार दिखाया है । वैसे किसी के घने बालों की तुलना चमरी-गाय के पुच्छ से दी जाती है किन्तु नल के बाल उससे कहीं अधिक घने थे। फिर भी पुच्छ के बाल समानता करने की ढिठाई कर ही बैठे तो इस पर चमरी गाय पुच्छ हिलाने लगी मानो क्षमा माँग रही हो कि यह बाल (बच्चे) की चञ्चलता है, अपराध नहीं, अज्ञान-वश बाल ऐसा किया ही करते हैं । यहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द न होने से गम्योत्प्रेक्षा है, साथ ही दो भिन्न-भिन्न बालों (केश, बालक) में अभेद दिखाकर भेदे अभेदातिशयोक्ति, और पुच्छचालन का छल बताकर अपह्नुति भी मिलकर संकर बना रहे हैं । शब्दालङ्कार यहाँ वृत्त्यनुप्रास है ।।२५।।

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया ।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥ २६॥

अन्वयः—तस्य महीभृतः मन्मथः-श्रिया च तम् प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्-त्रयीभुवाम् नत-भ्रुवां द्विधा मन्मथ-विभ्रमः अभवत् ॥

टीका—तस्य **महीभृतः**=राज्ञः नलस्येत्यर्थः **मन्मथः**=कामः तस्य श्रीः=कान्तिः (ष० तत्पु०) इव श्रीः तया च **तम्**=नलं **प्रति** **निजस्य**=स्वकीयस्य **चित्तस्य**=मनसः **इच्छया**—**अभिलाषेण** **तत्र**=तस्मिन् नृपे=राज्ञि नले **जग०**—त्रयोऽवयवा अत्रेति त्रि+अयच्+ङीप्=त्रयी **जगतः**=संसारस्य **त्रयी**=त्रित्वसंख्या स्वर्ग-मर्त्य-पातालानीत्यर्थः (ष० तत्पु०) **भूः**=उत्पत्ति-

स्थानं यासां तासाम् (ब० व्री०) त्रिलोकवर्तिनीनामिति यावत् **नते**=नम्रे भ्रुवौ यासां तासाम् (ब० व्री०) सुन्दरीणामित्यर्थः **द्विधा**=द्वि-प्रकारेण **मन्मथस्य**=कामदेवस्य अथ च कामविकारस्य **विभ्रमः**=विशिष्टो भ्रमः भ्रान्तिरित्यर्थः अथ च विलासः, कामचेष्टा (**'चेष्टालङ्कारे भ्रान्तौ च विभ्रमः'** इत्यमरः) नलं दृष्ट्वा त्रिलोकसुन्दरीणां 'अयं कामदेवः' इति भ्रान्तिः अथ च कामावेश-चेष्टाऽभूदित्यर्थः ॥ २६ ॥

व्याकरण—**महीभृत्**=महीं बिभर्तीति मही+√भृञ्+क्विप् कर्तरि । **मन्मथः**—मननम्=मत् शास्त्राद्यभ्यासज्ञानम् तस्य **मथः**=मथ्नातीति√मथ+क (मूलविभुजादिभ्यः कः) (ष० तत्पु०) **त्रयी**=त्रयोऽवयवा अत्रेति त्रि+अयच्+ङीप् । **विवृण्वते**—वि-√वृ+लट् प्र० ब० ।

हिन्दी—उस राजा (नल) की कामदेव की-सी कान्ति के कारण तथा उसके प्रति अपनी अभिलाषा होने के कारण तीनों लोकों की सुन्दरियों को दो प्रकार का विभ्रम (भ्रान्ति, कामावेश-चेष्टा) हो उठा ॥ २६ ॥

टिप्पणी—यहाँ भी कवि ने मन्मथ और विभ्रम शब्दों में श्लेष रखा है । मन्मथ का एक अर्थ है कामदेव और दूसरा कामविकार; विभ्रम का भी एक अर्थ है बड़ी भारी भ्रान्ति और दूसरा काम-चेष्टा । क्योंकि नल कामदेव-जैसा अतिसुन्दर था इसलिए स्त्रियाँ उसे कामदेव ही समझ बैठीं, इस कारण उन्हें उसकी चाह हो गई और वे काम-चेष्टायें करने लगीं । **मन्मथश्रिया** में लुप्तोपमा है । पहले कामदेव का भ्रम तब काम-चेष्टा—इस तरह क्रमिक अन्वय से यथासंख्यालंकार है । विभ्रम शब्द में श्लेष होने से उसका यथासंख्य से संकर है, किन्तु लुप्तोपमा से संसृष्टि ही रहेगी ॥२६॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥२७॥

अन्वय···त्रिदशीभिः निमीलन-भ्रंशजुषा दृशा तम् भृशम् निपीय यः (अभ्यास-भरः) अर्जितः, अमूः अधुना अपि निमेष-निःस्वैः लोचनैः तम् अभ्यास-भरम् विवृण्वते ।

टीका—**त्रिदशीभिः**=सुराङ्गनाभिः (अमरा निर्जरा देवा त्रिदशाः' इत्यमरः) **निमील०**—**निमीलनम्**=निमेषः तस्य **भ्रंशः**=अभावः इत्यर्थः (ष० तत्पु०) तम् **जुषन्ते**=सेवन्ते इति तयोक्तया (उप० तत्पु०) निमेष-रहितयेत्यर्थः **दृशा**=नयनेन तम् नलम् **भृशम्**=अतिमात्रम् यथा स्यात्तथा **निपीय**=सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः यः=**अभ्यासभरः अर्जितः**=कृतः **अमूः**=इमाः त्रिदश्यः **अधुना अपि**=साम्प्रतम् अपि **निमेष०** निर्गतं स्वम्=धनम् येषां तानि निःस्वानि (प्रादि ब० व्री०) दरिद्राणीत्यर्थः **निमेषस्य** निःस्वानि (ष० तत्पु०) निमेषरहितानीत्यर्थः तैः **लोचनैः**=नयनैः समं **अभ्यासस्य भरम्**=अतिशयम् **विवृण्वते**=प्रकटयन्ति, पुरा सुराङ्गनाजनेन नलं द्रष्टुं यो *निर्निमेषत्वाभ्यासः कृतः सोऽद्यापि तस्मिन् तिष्ठतीति भावः* ॥ २७ ॥

व्याकरण—**त्रिदशीभिः**—यहाँ त्रिशब्द पूरणार्थ में लेकर तृतीया दशा यासां ताः (ब० व्री०) इस तरह विग्रह करना चाहिए । अन्य प्राणियों की बाल्य शैशव तारुण्य और वार्धक्य ये चार दशायें हुआ करती हैं, लेकिन देवताओं को तीसरी दशा अर्थात् तारुण्य ही होती है । वे सदा युवा ही

रहते हैं। ०भ्रंशजुषा =भ्रंशं जुषते इति भ्रंश+√जुष्+क्विप् कर्तरि **निपीय** इसके लिए आरम्भ का श्लोक देखिए।

हिन्दी—देवाङ्गनायें निमेष-रहित नयनों से उस (नल) को अच्छी तरह देखने का जो (अभ्यास) कर बैठी थीं, वे आज भी निमेष-रहित नयनों द्वारा उस अभ्यास के अतिशय को प्रकट करती जा रही हैं (भूली नहीं हैं)॥ २७॥

टिप्पणी—देवताओं के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि एक तो वे सदा युवा रहते हैं, दूसरे, उनकी आँखें स्वभावतः कभी नहीं झपकती। यहाँ स्वभावतः निमेष-रहित दृष्टि वाली देवाङ्गनाओं के विषय में कवि की यह कल्पना है कि उन्होंने पहले नल को जो एक-टक निगाह से कभी देखा था, उसका संस्कार उनमें अभी तक बना हुआ है, इसलिए वे आँखें नहीं झपकाती हैं। यहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द कोई नहीं है, अतः यह प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है॥२७॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम्।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः॥२८॥

अन्वयः—"अदः नः दृशोः द्वयम् तदाकर्णि (अतः) फलाढ्यजीवितम् (अस्ति), तदवीक्षि (अतः) अफलम् च"—इति चक्षुःश्रवसाम् प्रियाः नले आत्मनः तत् हृदा स्तुवन्ति, निन्दन्ति (च)।

टीका—**अदः**=इदम् **नः**=अस्माकम् **दृशोः**=नयनयोः **द्वयम्**=युगलम् **तम्**=नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि (उप० तत्पु०) अर्थात् नलगुणान् शृणोति सर्पाणाम् चक्षुःश्रवस्त्वात्, अतएव **फला०-फलेन आढ्यम्**=सम्पन्नम् (तृ० तत्पु०) **जीवितम्**=जीवनम् (कर्मधा०) यस्य तत् (ब० व्री०) अर्थात् सफलजीवितम् अस्ति, **तद०**=तम् न वीक्षितुं शीलमस्येति (उप० तत्पु०) तथोक्तम् अतएव **अफलम्**=न फलं यस्य तत् (ब० व्री०) निष्फलजीवितमित्यर्थः पातालस्थितानां तासां नलप्रत्यक्षीकरणासम्भवात् **इति**=हेतोः **चक्षुःश्रवसाम्**=नागानां **प्रियाः**=सुन्दर्यः **नले**=नलविषये **आत्मनः**=स्वस्य **तत्**—दृशोः द्वयम् **हृदा**=मनसा **स्तुवन्ति**=प्रशंसन्ति **निन्दन्ति**=कुत्सयन्ति च॥ २८॥

व्याकरण—**जीवितम्**=√जीव्+क्त भावे। **तदाकर्णि' तदवीक्षि** दोनों में ताच्छील्यार्थ में णिन् प्रत्यय। **चक्षुःश्रवसाम्**=चक्षुर्भ्यां शृण्वन्तीति पृषोदरादित्वात् साधुः।

हिन्दी—"हमारी दोनों आँखें उस (नल) को सुननेवाली हैं (अतः वे) सफल-जीवन हैं, उस (नल) को देखने वाली नहीं, (अतः) निष्फल हैं" इस तरह नागों की स्त्रियाँ नल के विषय में अपनी उन (आँखों) को प्रशंसा करती हैं और निन्दा (भी) करती हैं॥ २८॥

टिप्पणी—नल का यश त्रिभुवनों में व्याप्त हो रहा था। पातालवासी नाग-सुन्दरियों ने अपनी आँखों से उसके गुण तो सुन लिए थे, किन्तु मर्त्यलोक में होने से वे उसे देख नहीं पा रही थीं। सर्प को चक्षुःश्रवा इसलिए कहते हैं कि उसके कान नहीं होते, आँखों से ही वह सुनने का काम भी ले लेता है। यहाँ चक्षुःश्रव शब्द साभिप्राय है, इसलिए विशेष्य पद के साभिप्राय होने से 'कुवलयानन्दकार के अनुसार यहाँ परिकराङ्कुर अलंकार है। इसके अतिरिक्त, इस तरह प्रशंसा और निन्दा

का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध-प्रतिपादन से असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्ति भी होने से दोनों की संसृष्टि है। किन्तु विद्याधर ने यहाँ सफलत्व और विफलत्व गुणों तथा स्तुति-निन्दा क्रियाओं का विरोध होने से गुण-क्रियाविरोधालंकार माना है। तद्वीक्षि—यहाँ 'तं न वीक्षते इति' में प्रतिषेध की प्रधानता है, अतः 'नञ्'प्रसज्यप्रतिषेध है, किन्तु समास कर देने से वह 'पर्युदास'—गौण—बन गया है, विधेय नहीं रहा। इस कारण यह विधेयाविमर्श दोष है ॥२८॥

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्र[1]निमीलनेष्वपि।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥२९॥

अन्वयः—अजस्र-भावना-बलात् अमुम् नेत्रनिमीलनेषु अपि विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेष-निर्मितः विघ्नलेशः अपि न अलम्भि।

टीका—अज०—अजस्रा=निरन्तरा या **भावना**=ध्यानं चिन्तनं वा (कर्मधा०) तस्याः **बलात्**=वशात् (ष० तत्पु०) **अमुम्**=नलम् **नेत्रयोः**=नयनयोः **निमीलनेषु**=संकोचेषु (ष० तत्पु०) **अपि विलोकयन्तीभिः**=पश्यन्तीभिः **मर्त्याभिः**=मानुषीभिः **अमुष्य**=नलस्य **दर्शने**=विलोकनव्यापारे **निमेषैः**=नेत्रसंकोचैः **निर्मितः**=कृतः (तृ० तत्पु०) **विघ्नस्य**=बाधाया **लेशः**=लवः (ष० तत्पु०) अपि न **अलम्भि**—प्राप्तः। यो हि यं ध्यायति स्मरति वा स तद्-भावना-भावितः सन् नेत्र-निमीलनेऽपि तमेव पश्यतीति भावः ॥ २९ ॥

व्याकरण—भावना—√भू+णिच्+युच्+टाप्। **निमीलनम्**=नि+√मील्+ल्युट् भावे। **विलोकयन्ती**=वि+√लोक्+णिच्+शतृ+ङीप्। **निमेषः**—नि+√मिष्+क भावे। **विघ्नः**—विहन्तीति वि+√हन्+क। **अलम्भि**=√लभ्+लुङ् (कर्मणि), विकल्प से नुमागम।

हिन्दी—निरन्तर ध्यान-वश उस (नल) को आँख झपकने पर भी देखती रहती हुई मानुषियों ने उस (नल) के देखने में आँख झपकने से हुआ विघ्न का लेश भी नहीं पाया॥ २९॥

टिप्पणी—देवताओं के ठीक विपरीत मनुष्यों की आँखें झपकती रहती हैं। नल को देखकर मानव-लोक की स्त्रियाँ बराबर उसकी भावना करती रहती थीं, इसलिए आँखें झपकने का व्यवधान होने पर भी नल उनके आगे दिखाई देता ही रहता था, आँखें झपकें तो क्या, और न झपकें तो क्या। इसी को तन्मयता कहते हैं। यहाँ नेत्र निमीलन रूप न देखने का कारण होते हुए न देखना-रूप कार्य नहीं हो रहा है, इसलिए विशेषोक्ति अलंकार है। विशेषोक्ति उसे कहते हैं जहाँ कारण होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न हो। किन्तु मल्लिनाथ का कहना है कि मर्त्यों में सभी अवस्थाओं में देखने का असम्बन्ध होते हुए भी यहाँ सम्बन्ध बताया गया है, अतः यह असम्बन्धे-सम्बन्धातिशयोक्ति है॥२९।

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम्।
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ॥३०॥

अन्वयः—का निशि स्वप्न-गतम् तम् न ददर्श? का च गोत्र-स्खलिते तं न जगाद? का च वा रते तदा...धवा स्व-मनोभवोद्भवम् न चकार? ॥ ३० ॥

---

[1]—तत्र।

टीका—**का**—स्त्री **निशि**=रात्रौ **स्वप्ने गतम्** (स० तत्पु०) स्वप्न-प्राप्तम् **न ददर्श**=दृष्टवती अपितु सर्वाऽपि । का च **गोत्रम्**=नाम ('गोत्रं तु नाम्नि च' इत्यमरः) तस्य **स्खलिते**=व्यत्यये नाम भ्रान्तौ इत्यर्थः, **तम्**=नलम् **न जगाद**=कथयामास अर्थात् भर्तुः नाम्नि उच्चरितव्ये नलस्य नाम नोच्चारितवती ? अपि तु सर्वापि, का च वा **रते**=सुरते तदा०—**सः**—नलः **आत्मा**=स्वरूपं यस्य स तदात्मा (ब० व्री०) तस्य भावः तत्ता नलस्वरूपवत्तेत्यर्थः तया **ध्यातः**='चिन्तितः (तृ० तत्पु०) **धवः**=पतिः ('पति-शाखि नरा धवाः' इत्यमरः) (कर्मधा०) यया तथाभूता (ब० व्री०) पतिं नल-रूपेण ध्यातवेत्यर्थः **स्वस्य**=आत्मनः **मनोभवः**=कामः तस्य **उद्भवम्**=उद्भूतिम् (उभयत्र ष० तत्पु०) न **चकार**=कृतवती रमणं न चक्र इत्यर्थः । अपि तु सर्वापि ॥ ३० ॥

व्याकरण—**स्वप्नः**=√स्वप्+नक् (भावे) । **स्खलितम्**=√स्खल्+क्त (भावे) । **रतम्**=√रम्+क्त (भावे) । **उद्भवः**=उत्+√भू+अप् (भावे) ।

हिन्दी—कौन स्त्री रात को स्वप्न में आये नल को नहीं देखती थी ? कौन स्त्री नाम की गलती में उस (नल के नाम) को नहीं बोल पड़ती थी ? उस (नल) के रूप में पति का ध्यान लगाये कौन स्त्री संभोग में अपना कामावेश व्यक्त नहीं करती थी ? ॥ ३० ॥

टिप्पणी—नारायण के अनुसार यहाँ मुग्धा मध्यमा और प्रौढा—इन तीन प्रकार की नायिकाओं की ओर संकेत है । मुग्धा बेचारी प्रियतम का स्वप्न ही देखा करती है; मध्या के मुख में प्रतिक्षण उसका नाम चढ़ा रहता है और प्रौढा संभोग-रत रहा करती है । यहाँ तीनों वाक्यों में तीन काकु-वक्रोक्तियाँ हैं जिनकी परस्पर संसृष्टि है । 'भवो' 'भवम्' में छेकानुप्रास है । किन्तु मल्लिनाथ 'यहाँ भी स्वप्न में नल को देखने आदि का सभी स्त्रियों के साथ सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध बनाया गया है, इसलिए यह असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्ति है' ऐसा कहते हैं ॥३०॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ॥३१॥

अन्वयः—तम् आलोक्य 'श्रिया अहम् अस्य योग्या (किम् ?)' इति स्वम् ईक्षितुम् करे धृतः दर्पणः भैमीम् विहाय कया सुरूपया अपदर्पया (सत्या) श्वास-मलीमसः न कृतः ?

टीका—**तम्**=नलम् **आलोक्य**=(चित्रादौ) दृष्ट्वा **श्रिया** कान्त्या सौन्दर्येणेत्यर्थ; **अहम् अस्य**=नलस्य **योग्या**=सदृशी अस्मि किम् इति शेषः इति हेतोः **स्वम्**=आत्मानम् **ईक्षितुम्**=द्रष्टुम् **करे**=हस्ते **धृतः**=स्थापितः **दर्पणः**=आदर्शः **भैमीम्**=भीमपुत्रीम् दमयन्तीम् **विहाय**=विनेत्यर्थः **कया सु**=सुष्ठु रूपं यस्याः तया (प्रादि ब० व्री०) **अप०**=अपगतः दर्पः=सौन्दर्याभिमानो यस्याः तथाभूतया (प्रादि ब० व्री०) सत्या **श्वासैः**=दीर्घनिःश्वासैः **मलीमसः**=मलिनः (तृ० तत्पु०) **न कृतः** अपि तु सर्वया कृत इत्यर्थः । अयं भावः मम सौन्दर्यं नलसौन्दर्य-सदृशम् अस्ति न वेति यावत् वा कापि स्त्री स्वमुखं दर्पणे पश्यति तावत् तदसदृशं तत् दृष्ट्वा विषादे दीर्घनिःश्वासान् मुञ्चन्ती स्वसौन्दर्याभिमानमपि जहाति ॥ ३१ ॥

व्याकरण-**विहाय**—यह ल्यबन्त-जैसा रूप विना के अर्थ में प्रयुक्त निपात है । इसके योग में

'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' से द्वितीया हो गई है। **मलीमसः**—मलम् अस्मिन् अस्तीति मतुबर्थ में 'ज्योत्स्ना-तमिस्रा० (पा० ५।२।११४) से निपातित किया जाता है।

हिन्दी—उस (नल) को देखकर—'सौन्दर्य में मैं उस (नल) के योग्य हूँ ?' इस विचार से अपने (मुख) को दर्पण पर देखने हेतु हाथ में रखा दर्पण भैमी (दमयन्ती) को छोड़कर कौन सुन्दरी, (सौन्दर्य का) अभिमान खोये, श्वासों द्वारा मैला नहीं कर देती थी ? ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—नल के साथ सौन्दर्य की प्रतियोगिता में सभी सुरूपाओं का अभिमान चकनाचूर करके कवि रूप में सर्वातिशायी दमयन्ती की अवतारणा कर रहा है। यहाँ काकु-वक्रोक्ति है, जिसकी 'पया' 'पया', 'दर्प', 'दर्प' में यमक के साथ संसृष्टि है। यहाँ भी मल्लिनाथ के अनुसार सभी स्त्रियों का ऐसी क्रिया के साथ सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध प्रतिपादन से असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्ति है।

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनो नलावरुद्धं वयसैव वेशितः ॥३२॥

अन्वयः—यथा खलु भोग-भोजिना वयसा उह्यमानः मदनः वैरोचनिजस्य अनलावरुद्धं पत्तनं प्रसह्य वेशितः, तथा (भोगभोजिना वयसा एव ऊह्यमानः मदनः) विदर्भजायाः (नलावरुद्धम्) मनः (प्रसह्य वेशितः) ॥

टीका-यथा—येन प्रकारेण **खलु**=प्रसिद्धौ **भोगं**—सर्प-शरीरं भुङ्क्ते=भक्षयतीति तथोक्तेन (उप० तत्पु०) (**भोगः सुखे** स्त्र्यादिभृतावहेश्च **फण-काययोः**' इत्यमरः) **वयसा**=पक्षिणा ('**खग बाल्यादिनोर्वयः**' इत्यमरः) गरुडेनेत्यर्थः, **उह्यमानः**=नीयमानः **मदनः**=कामः प्रद्युम्न इति यावत् **वैरो०**—विरोचनस्य अपत्यं पुमान् **वैरोचनिः**=बलिः तस्मात् जायते इति तज्जः तत्पुत्रः बाणासुरस्येति यावत् **अनलेन**=अग्निना **अवरुद्धम्**=परिवेष्टितम् **पत्तनम्**=नगरम् शोणितपुरमित्यर्थः **प्रसह्य**=बलात् **वेशितः**=प्रवेशितः, तथा **भोगम्**=सुखम् भुङ्क्ते भोजयतीति वा तयोक्तेन **वयसा**=युवावस्थयेत्यर्थः एव **ऊह्यमानः**=तर्क्यमाणः अनुमीयमान इति यावत् **मदनः**=कामविकारः नलेन **अवरुद्धम्**=आक्रान्तम् नलासक्तमित्यर्थः (तृ० तत्पु०) मनः प्रसह्य—वेशितः चित्रादौ दृष्टम् लोक-मुखाच्च श्रुतं नलं मनसि निधाय दमयन्ती कामपीडिता बभूवेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

व्याकरण—भोगभोजी ताच्छील्य में णिन् है। **उह्यमानः**—√वह्+शानच् कर्मवाच्य। **वैरोचनिः**—विरोचनस्य अपत्यं पुमान् इति विरोच+इञ् (अपत्यार्थे)। **वेशितः**—√विश्+णिच्+क्त (कर्मणि)। **ऊह्यमानः**=ऊह्+शानच् (कर्मणि)। **विदर्भजा**=विदर्भ+√जन्+ड+टाप्। **प्रसह्य**=प्र+√सह्+ल्यप्, अव्यय-रूप में प्रयुक्त।

हिन्दी—जिस तरह भोग-भोजी (साँपों का शरीर खाने वाले) वय (पक्षी गरुड़) द्वारा ले जाया जाता हुआ मदन (प्रद्युम्न) अनल (आग) से अवरुद्ध (घिरे) बाणासुर के नगर (शोणितपुर) में बलात् प्रविष्ट कराया गया था, उसी तरह भोग-भोजी (विषय-सुख-भोग कराने वाले) वय (यौवन) द्वारा (और लोगों से) जाना जाता हुआ मदन (काम-विकार) नल से अवरुद्ध (आसक्त) दमयन्ती के मन में प्रविष्ट कराया गया ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—यहाँ कवि ने श्लेषानुप्राणित अप्रस्तुत-विधान कर रखा है। 'नल' और 'अनल' तथा 'यथा उह्यमानः' 'यथा ऊह्यमानः' में सभंग श्लेष है, जहाँ शब्दों का भंग अर्थात् तोड़-मरोड़ करना पड़ता है जब कि अन्यत्र अभंग श्लेष है। इसलिए यह श्लिष्टोपमा है। भाव यह है चित्र आदि में देखकर एवं चारणों के मुख से नल के विषय में सुनकर दमयन्ती नल पर आसक्त हो उठी और उसके युवा मन में कामविकार भड़क उठा।

मदन—विष्णुपुराण के अनुसार महादेव द्वारा कामदेव के भस्म कर दिए जाने पर जब उसकी पत्नी रति उनके आगे बहुत रोई-पीटी, तो उन्होंने आश्वासन दे दिया कि उसका पति फिर उत्पन्न हो जायेगा। तदनुसार कामदेव फिर भगवान् कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में अवतीर्ण हुआ। उसका पुत्र अनिरुद्ध हुआ, जो अत्यन्त सुन्दर था। एक दिन बाणासुर की पुत्री उषा स्वप्न में एक सुन्दर युवक देख बैठी, और तत्क्षण उस पर मोहित हो उसके हेतु तड़पने लगी। उसकी सखी चित्रलेखा ने जगत् के सारे सुन्दर युवकों के चित्र उसके आगे रख दिए कि बता तेरा मन-हर वह कौन-सा युवक है। उषा ने उसे बता दिया। वह अनिरुद्ध ही था। फिर चित्रलेखा आसुरी माया रचकर उसी रात द्वारिका में सोये पड़े अनिरुद्ध को उड़ा ले गई और उषा से मिला दिया। बाणासुर को इस बात का पता चल गया। उसने तत्काल शत्रु-पुत्र को बंदी बना दिया और नगर के चारों ओर आग लगा दी जिससे वह भाग न सके अथवा बाहर से आकर कोई उसे छुड़ा न ले जा सके। इधर नारद से श्रीकृष्ण को इस बात का पता चल गया। वे अपने भाई बलराम और पुत्र प्रद्युम्न को साथ लिये, गरुड़ पर सवार होकर शोणितपुर जा पहुँचे और युद्ध में बाणासुर को मारकर उषा सहित अपने पौत्र अनिरुद्ध को घर ले आये ॥३२॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसंपदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥३३॥

अन्वयः—सा भीम-नरेन्द्र-नन्दना बहुशः श्रुतिं गते निज-रूप-सम्पदाम् अनुरूपे तस्मिन् नृपे मनोभवाज्ञैकवशंवदम् मनः विशिष्य दिदेश।

टीका—**सा भीम**श्चासौ **नरेन्द्रः** (कर्मधा०) तस्य **नन्दना** पुत्री (ष०तत्पु०) दमयन्तीत्यर्थः **बहुशः** =बहुवारम् **श्रुतिं** =श्रवणं **गते** प्राप्ते =श्रवणेन्द्रिय-गोचरीभूते इत्यर्थः **निजम्** = स्वकीयम् यत् **रूपम्** =सौन्दर्यम् (कर्मधा०) तस्य **सम्पदाम्** अतिशयानाम् (ष० तत्पु०) **अनुरूपे** = योग्ये **तस्मिन् नृपे** नले इत्यर्थः **मनो०**—**मनोभवः** =कामः तस्या **आज्ञायाः** =आदेशस्य (ष० तत्पु०) **एकम्** =मुख्यं **वशं वदं** =वशवर्ति (कर्मधा०) **मनः** = स्वान्तम् **विशिष्य** राजान्तरेभ्य आकृष्येत्यर्थः **दिदेश**= निदधौ दमयन्त्याः कामाधीनं मनो नले आसक्तमभवदित्यर्थः ॥३३॥

व्याकरण—**नन्दना** नन्दयतीति √नन्द + ल्यु + टाप्। **बहुशः** बहु + शस्। **श्रुतिः** श्रूयते अनयेति √श्रु + क्तिन् (करणे)। **अनुरूपम्** रूपम् अनु इति। **मनोभवः** भवतीति भव इति √भू + अच् (कर्तरि) मनसिभव इति। **वशंवदः**—वश + √वद् + खच् + मुम्। **विशिष्य** वि + √शिष् + ल्यप्।

हिन्दी—वह भीम राजा की पुत्री (दमयन्ती) बार-बार सुनने में आये, और अपनी रूप-सम्पत्ति के योग्य उस नृप (नल) में कामदेव की आज्ञा के अधीन बना हुआ (अपना). मन विशेष-रूप से लगा बैठी ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—साहित्य के 'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पश्चात् पुंसस्तदिङ्गितैः' इस विधान के अनुसार पहले स्त्री का प्रेम बताना होता है, उसके पीछे पुरुष का। इसलिए दमयन्ती का नलविषयक अनुराग कवि ने पहले बताया है। प्रेम की भी क्रमशः दश दशायें कही गई हैं जिनमें सर्व प्रथम है 'चक्षुरागः' अर्थात् 'आँखें लड़ना।' यह उपलक्षणमात्र है, क्योंकि इसके भीतर प्रेमी के गुणश्रवणादि भी आ जाते हैं। यहाँ नल 'बहुशः श्रुतिगतः' है। दूसरी अवस्था मन के लगाव—आसक्ति—की है, वह 'मनः दिदेश' में बता दी गई है। यह श्रवणानुराग आगे के चार श्लोकों में चल रहा है। अलंकार यहाँ छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास है ॥३३॥

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु वन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

अन्वयः—सा दिने-दिने पितुः उपासनाम् एत्य वन्दिनाम् अवसरेषु रज्यते स्म; तेषु भूपतीन् प्रति पठत्सु (सत्सु) नलं शृण्वती (सा) अलं विनिद्र-रोमा अजनि ।

टीका—सा = दमयन्ती दिने-दिने = प्रतिदिनम् वीप्सायां द्वित्वम् पितुः = जनकस्य उपासनां = सेवाम् एत्य = आगत्य वन्दिनाम् = स्तुति-पाठकानाम् अवसरेषु = समयेषु रज्यते स्म प्रसीदति स्म वन्दिकृतस्तुतिषु एव नलगुणश्रवणसंभवात्; तेषु वन्दिषु भूपतीन् = अन्यनृपान् प्रति उद्दिश्य पठत्सु = स्तुतिपाठं कुर्वत्सु सत्सु नलं शृण्वती सती अलम् = अत्यधिकं विनिद्र-रोमा विगता निद्रा येषां तथाभूतानि (प्रादि ब० व्री०) रोमाणि शरीरलोमानि (कर्मधा०) यस्याः सा (ब० व्री०) अजनि—जाता, वन्दिमुखात् नलगुणाकर्णनात् सा रोमाञ्चिताऽभूदिति भावः ॥३४॥

व्याकरण—उपासना = उप + √आस् + युच् । दिने दिने इति वीप्सायां द्वित्वम् । एत्य = आ + √इ + ल्यप् । वन्दिन् = वन्दते इति । वन्द् + इन् । पठत्सु = √पठ् + शतृ (सत्सप्तमी) शृण्वती √श्रु + शतृ + ङीप् । अजनि—√जन् + लुङ् ।

हिन्दी—वह (दमयन्ती) प्रतिदिन पिता की सेवा में आकर स्तुतिपाठकों के समयों से लगाव रखा करती; (और) राजाओं के विषय में उनके स्तुति-पाठ करने पर नल के सम्बन्ध में सुनती हुई अत्यधिक रोमाञ्चित हो उठती ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में नायिका का श्रवण-काल बताया गया है जैसे रुद्रट ने भी कहा है—'देशे काले भङ्गयां साधु तदाकर्णनं च स्यात्'। यहाँ श्रवण में औत्सुक्य और श्रवणानन्तर रोमाञ्च नामका सात्त्विक भाव प्रतिपादित होने से भाव-शबलता अलंकार कह सकते हैं। तीसरे-चौथे पादों के नलं, नलं में यमक है ॥३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथः सखीमुखात् तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥३५॥

अन्वयः—मिथः कथा-प्रसङ्गेषु सखी-मुखात् नल-नामनि तृणे अपि श्रुते (सति) अनया तन्व्या अन्यत् द्रुतम् विधूय मुदा तदाकर्णन-सज्जकर्णया अभूयत।

टीका—**मिथः**=परस्परम् **कथायाः**=वार्तालापस्य **प्रसङ्गेषु**=अवसरेषु **सखीनाम्**=आलीनाम् **मुखात्**=वक्त्रात् (ष० तत्पु०) **'नलः' नाम** यस्य तथाभूते (ब० व्री०) अर्थात् नलाख्ये **तृणे**=घासे अपि **श्रुते**=आकर्णिते (प्रियतमे) सति **अनया तन्व्या**=कृशाङ्ग्या दमयन्त्या **अन्यत्**=कथान्तरं कार्यान्तरं वा **द्रुतम्**=झटिति **विधूय**=अपाकृत्य परित्यज्येति यावत् एताः सख्यः मम प्रियतमस्य राज्ञो नलस्य सम्बन्धे एव वार्तालापं कुर्वन्तीति बुद्ध्येति भावः, **मुदा**=हर्षेण **तस्य**=नलनाम्नः **आकर्णने**=श्रवणे (ष० तत्पु०) **सज्जौ**=लग्नौ (स० तत्पु०) **कर्णौ**=श्रोत्रे (कर्मधा०) यस्यास्तथाभूतया (ब० व्री०) **अभूयत**=भूतम्। सा तच्छ्रवण-संलग्ना जातेत्यर्थः॥ ३५ ॥

व्याकरण—**प्रसङ्ग**—प्र + √सञ्ज + घञ् भावे। **विधूय**—वि + √धूञ् + ल्यप्। **आकर्णनम्**—आ + √कर्ण् + ल्युट् भावे। **सज्जः**—सज्जतीति √सस्ज् + अच् कर्तरि। **अभूयत**—√भू + लङ् (भाववाच्य)।

हिन्दी—परस्पर बातचीत के प्रसंगों में सखियों के मुख से तृण के विषय में भी 'नल' नाम सुन लेने पर वह कृशाङ्गी (दमयन्ती) झट अन्य (काम अथवा बात) छोड़कर हर्ष में उसे सुनने हेतु कान खड़े किये रहती थी॥ ३५ ॥

टिप्पणी—नल नाम का एक घास भी होता है जिसे नरकुल या नरसल भी कहते हैं। दमयन्ती का नल राजा पर इतना अधिक अनुराग हो उठा कि यदि उसकी सखियाँ घास अर्थ में भी नल शब्द का प्रयोग करती; तो वह झट यह समझ बैठती कि उसके प्रियतम के सम्बन्ध में बातें हो रही हैं। यह औत्सुक्य भाव कहलाता है, इसके साथ ही हर्ष-भाव ही है, इसलिए भाव-संमिश्रण होने से यहाँ भाव-शबलता अलंकार है। 'तृणेऽपि' में अपि शब्द से कैमुतिक-न्याय से 'और बातों से तो कहना ही क्या ?' इस अर्थान्तर की प्रतीति होने से अर्थापत्ति अलंकार भी है। 'कर्ण', 'कर्ण' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार है॥३५॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत्॥३६॥

अन्वयः—"परासोः अनिमेष-लोचनात् स्मरात् (अहम्) बिभेमि, तत् भिन्नम् उदाहर इति सा यूनः स्तुवता जनेन तदास्पदे नैषधम् निदर्शनम् अभ्यषेचयत्।

टीका—**परा**=परागता **असवः**=प्राणा यस्य तथाभूतात् (प्रादि ब० व्री०) अर्थात् मृतात् अत एव न **निमेषः**=निमीलनम् ययोः तथोक्ते (ब० व्री०) **लोचने**=नयने (कर्मधा०) यस्य तस्मात् (ब० व्री०) **स्मरात्**=कामात् **बिभेमि**=अहं भीता भवामि, **तत्**=तस्मात् कारणात् **भिन्नम्** अन्यम् **निदर्शनम्**=दृष्टान्तम् **उदाहर**=कथय **इति** एवं प्रकारेण **सा** दमयन्ती **यूनः**=युवकान् **स्तुवता**=प्रशंसता **जनेन** सखीभिः **तस्य**=स्मरस्य **आस्पदे**=स्थाने (ष० तत्पु०) **नैषधम्** निषधानां राजानं नलमित्यर्थः **अभ्यषेचयत्**=स्थापयामासेत्यर्थः। अयं भावः—'अमुकोऽमुको युवा मदनसदृशः' इति समुदाहरन्तीः सखीः निषिध्य 'नल-सदृशं' इति सा ताभिः प्रत्यपीपदत्॥ ३६ ॥

व्याकरण—निमेषः—नि + √मिष् + घञ् भावे। **स्तुवता**—√स्तु + शतृ + तृ०। **स्मरात्** यहाँ भीत्यर्थ में पञ्चमी है। **नैषधम्**—यहाँ मल्लिनाथ 'निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८)" इस तरह जनपदवाचक निषध शब्द से अञ् प्रत्यय लाकर सिद्ध कर रहे हैं, किन्तु यह गलत है, क्योंकि निषध शब्द के आदि में नकार होने से अञ् का 'कुरु-नादिभ्यो ण्यः' (४।१।१७२) यह सूत्र बाधकर ण्य कर देता है जिससे 'नैषध्यः' बनेगा। इसीलिए भट्टोजी दीक्षित ने 'स नैषधस्यार्थपतेः' इत्यादौ तु शैषिकोऽण्' समाधान किया है। इस तरह निषधानाम् अयम् इति निषध + अण् से ही व्युत्पत्ति ठीक है। निषध-देशवासी सामान्य शब्द प्रकरणवश अथवा स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध से राजा नल का बोधक हो जाता है। **निदर्शनम्**—निदर्श्यते अनेनेति नि + √दृश् + णिच् + ल्युट् (करणे)। **अभ्यषेचयत्**—अभि + √सिच् + णिच् + लट्, उपसर्ग आदि में होने से 'स' का 'ष'।

हिन्दी—"मरे हुए (अतएव) बिना झपके (खुली) आँखों वाले कामदेव से मैं डरती हूँ, इस कारण दूसरा उदाहरण रखो" इस तरह वह (दमयन्ती) युवकों की प्रशंसा करती हुई सखियों द्वारा उस (कामदेव) के स्थान पर नल को उदाहरण-रूप में रखवाती थी॥ ३६॥

टिप्पणी—परासोः—कामदेव जगत में सौन्दर्य का सर्वोच्च प्रतिमान माना जाता है। यही कारण है कि सखियाँ जिस किसी सुन्दर युवक की तुलना करतीं, तो उपमान कामदेव को बनाती थीं। दमयन्ती को यह अच्छा नहीं लगता, क्योंकि कामदेव को महादेव ने फूक डाला था अतः मरे हुए तथा खुली पड़ी आँखों वाले से वह अब डरती थी। इसलिए सर्वोच्च प्रतिमान वह अपने प्रियतम नल को ही बनवाती थी। '**अभ्यषेचयत्**' शब्द से यह भी ध्वनित होता है कि जब सौन्दर्य-राज्य का एकच्छत्र सम्राट्—कामदेव—मर गया, तो उसके खाली पड़े स्थान में दूसरा सम्राट् गद्दी पर बैठेगा ही और वह नया सौन्दर्य-सम्राट् बना नल। विद्याधर के अनुसार 'अत्र गुणसंकीर्तनलक्षणा स्मरदशोक्ता' अर्थात् प्रियतम के गुणवर्णन नाम की कामदशा बताई गई है॥३६॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया॥३७॥

अन्वयः—निषधागताः दूत-द्विज-वन्दि-चारणाः मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टाः अथ तत्-कीर्ति-कथाम् निपीय अनया चिराय विमनायमानया तस्थे।

टीका—निषधेभ्यः = निषधदेशात् **आगताः** = आयाताः (पं० तत्पु०) **दूताः** = चाराश्च **द्विजाः** = ब्राह्मणाश्च **वन्दिनः** = स्तुति-पाठकाश्च **चारणाः** = देशभ्रमणजीविनश्चेति (द्वन्द्व) **मिषेण** = (केनापि) व्याजेन **नलस्य गुणान्** = सौन्दर्यादीन् **पृष्टाः** = अनुयुक्ता अर्थात् भवतां देशे को राजा के च तस्य गुणा इति व्याजेन दमयन्त्या नलविषये पृष्टा **अथ** प्रश्नानन्तरम् **तस्य** = नलस्य या **कीर्तिः** = यशः तस्य **कथाम्** = वर्णनमित्यर्थः (ष० तत्पु०) **निपीय** श्रुत्वेत्यर्थः **अनया** = दमयन्त्या **चिराय** चिरकालं = विगतं मनो यस्याः सा विमनाः (प्रादि ब० व्री०) तद्वत् आचरन्त्या = विमनीभवन्त्या व्याकुलचित्तयेति यावत् **तस्थे** = स्थितम्। एतादृशो गुणी राजा कथं मया लब्धव्य इति तद्—विमनस्कतायाः कारणम्॥ ३७॥

व्याकरण—गुणान् पृष्टाः—√प्रच्छ धातु द्विकर्मक है। क्त प्रत्यय गौण कर्म में होने से ०चारणाः प्रथमान्त हो गया और गुणान् द्वितीयान्त ही रहा। **निपीय—**नि+√पीङ्+ल्यप्, विशेष के लिए इसी सर्ग का प्रथम श्लोक देखिये। **विमनायमानया—**विमना इव आचरतीति विमना+क्यङ्, स लोप, शानच्+टाप् (नामधातु)।

हिन्दी—निषध देश से आये दूत, ब्राह्मण, स्तुतिपाठक और भाट (किसी) बहाने नल के गुणों के सम्बन्ध में (दमयन्ती द्वारा) पूछे जाते थे; बाद को उस (नल) के यश की कथा सुनकर वह देर तक अनमनी-सी खड़ी रह जाती थी ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—विमनाय०—दमयन्ती नल के गुणों को सुनकर सोच में पड़ जाती थी कि भला मैं उसे प्राप्त भी कर सकूँगी। इस तरह यहाँ चिन्ता नाम का व्यभिचारी भाव उदय हो रहा, अतः भावोदयालंकार है। तीसरे, चौथे चरण में 'नया' 'नया' में यमक है और अन्यत्र वृत्यनुप्रास।

उक्त पाँच श्लोकों में कवि ने दमयन्तीगत नल-विषयक श्रवणानुराग के चित्र खींचे हैं। अब आगे चित्र और स्वप्न आदि में दर्शनानुराग का चित्र खींचना है ॥३७॥

प्रिय प्रियां च त्रिजगज्जयश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

अन्वयः—"(हे कारुवर!) अधिलीलागृहभित्ति त्रिजगज्जयिश्रियौ कौ अपि प्रियम् प्रियाम् च लिख" इति सा कारुवरेण लेखितम् नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म।

टीका—लीलार्थं गृहम् **लीलागृहम्** (च० तत्पु०)=क्रीडागृहम् तस्य या **भित्तिः**=कुड्यम् तस्याम् इति अधिलीला० (अव्ययी भावः) लीलागृहभित्तौ इत्यर्थः, त्रयाणां जगतां समाहार इति **त्रिजगत्** (समाहार-द्विगुः) तत् **जयति**=अतिशेते इति **जयिनी** (उपपद तत्पु०) **श्रीः** शोभा (कर्मधा०) ययोः तथाभूतयोः (ब० व्री०) **कौ अपि**=अनिर्दिष्टनामानौ **प्रियम्**=नायकम् **प्रियाम्**=नायिकाञ्च **लिख**=चित्रय **इति** एवं **सा** दमयन्ती **कारुषु**=शिल्पिषु **वरः**=श्रेष्ठः निपुण इत यावत् तेन (स० तत्पु०) **लेखितं**=चित्रगतं कारित **नलस्य स्वस्या**=आत्मनश्च **सख्यम्** रूप-साम्य-मित्यर्थः **ईक्षते स्म**=पश्यति स्म अर्थात् रूपे यथा नलो मम समः तथाऽहमपि तेन समा ॥ ३८ ॥

व्याकरण—अधिलीला०—यहाँ सप्तम्यर्थ में 'अधि' के साथ अव्ययीभाव समास है अर्थात् (भित्ति पर) **लेखितम्**√लेख्+णिच्+क्त कर्मणि लिखाया अर्थात् चित्रित कराया हुआ। **सख्यम्** सखि+ष्यञ् भावे।

हिन्दी—("ओ कुशल कलाकार!) क्रीडा-गृह की दीवार पर तीनों लोकों को परास्त कर देने वाले सौन्दर्य को रखे हुए किन्हीं दो प्रिय और प्रेयसी का चित्र बना दो' इस तरह (आज्ञा देकर) वह चतुर कलाकार द्वारा चित्रित करवाया अपना और नल का साम्य देखती थी ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में दर्शनानुराग आरम्भ करता हुआ कवि पहले प्रतिकृति अर्थात् चित्र में प्रियतमा को प्रियतम का दर्शन करवा रहा है। रूप-साम्य देखकर दमयन्ती को निश्चय हो जाता है कि वह उसके सर्वथा योग्य है। '**सख्यम्**' में सखि शब्द यद्यपि मित्र का वाचक है, तथापि साहित्य

में अपने सादृश्य-रूप लाक्षणिक अर्थ में उसका आम प्रयोग मिलता है। यहाँ सम का सम के साथ योग बताया गया है, अतः समालंकार है।

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥३९॥

अन्वयः—स्वपती सा मनोरथेन स्वपतीकृतम् नलम् क्व निशि न पश्यति स्म ? सुप्तिः अदृष्टम् अपि अर्थम् अदृष्ट-वैभवात् जन-दर्शनातिथिम् करोति।

टीका—स्वपती शयाना **सा** दमयन्ती **मनोरथेन** इच्छया स्वस्याः पतिः **स्वपतिः** (ष० तत्पु०) अस्वपतिः स्वपतिः सम्पद्यमानः कृत इति स्वपतीकृतः तम् स्व-भर्तृत्वेन स्वीकृतमित्यर्थः **नलम् क्व** कस्यां **निशि** रात्रौ न **पश्यति** स्म अवलोकयति स्म अपितु सर्वस्यामपि रात्रौ पश्यति स्मेति काकुः। **सुप्तिः** स्वप्नः **अदृष्टम्** पूर्वं कदापि' नानुभूतमित्यर्थः **अर्थं** वस्तु **अदृष्टस्य** पूर्वजन्मीय-कर्मणः धर्माधर्म-रूपस्य **वैभवात्** सामर्थ्यात् **जनस्य** लोकस्य **दर्शनस्य** दृष्टेः **अतिथिम्** गोचरं करोति, दर्शयतीत्यर्थः पूर्वजन्मसंस्कारैः अदृष्टोऽप्यर्थः स्वप्ने दृश्यते इति भावः ॥ ३९ ॥

व्याकरण—स्वपती—√स्वप्+शतृ+ङीप्। **स्वपतीकृतम्** अभूत-तद्भाव में स्वपति+च्वि+√कृ+क्त कर्मणि। **सुप्तिः**—√स्वप्+क्तिन् भावे।

हिन्दी—सोती हुई वह (दमयन्ती) इच्छा से अपना पति बनाये हुए नल को कौन-सी रात में नहीं देखा करती थी? स्वप्न अदृष्ट अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मों के प्रभाव से न देखी हुई भी वस्तु को लोगों के दृष्टि-गोचर कर देता है ॥ ३९ ॥

टिप्पणी—दर्शनानुराग में नायक-दर्शन के "साक्षात् चित्रे तथा स्वप्ने तस्य स्याद् दर्शनं त्रिधा" ये तीन प्रकार बताये गये हैं। इनमें से पहला अर्थात् साक्षाद् दर्शन तो नल का दमयन्ती को कोई नहीं हुआ है, केवल चित्र और स्वप्न-दर्शन शेष हैं। चित्र दर्शन पिछले श्लोक में बताकर कवि इस श्लोक में स्वप्न-दर्शन बता रहा है। किन्तु स्वप्न-दर्शन में 'यद् दृष्टं दृश्यते स्वप्नेऽननुभूतं कदापि न' इस नियम के अनुसार आपत्ति यह आ रही है कि जब दमयन्ती ने नल को साक्षात् देखा ही नहीं, तो स्वप्न में कैसे देख सकती है, क्योंकि अनुभूत पदार्थ ही स्वप्न में आता है, अननुभूत नहीं। इसका उत्तर कवि के पास सिवा पूर्व जन्म के संस्कार के और कोई नहीं है। स्वप्न की तरह जीवन की अन्य भी कितनी ही ऐसी गुत्थियाँ हैं; जो पूर्व जन्म माने बिना हल ही नहीं हो सकतीं। दर्शन-शास्त्रों में इनका विस्तृत विवेचन मिलता है। यहाँ पूर्वार्ध-गत वाक्यार्थ का उत्तरार्धगत वाक्य से समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तर-न्यास अलंकार है। पूर्वार्ध के 'पत्ती', 'पत्ती', और उत्तरार्ध के 'दृष्ट', 'दृष्ट' में यमक है ॥ ३९ ॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात्।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ॥४०॥

अन्वयः—निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् बाह्येन्द्रिय-मौन-मुद्रितात् हृदः अपि च सङ्गोप्य कदा अपि अवीक्षितः महत् रहस्यम् सः महीपतिः अस्याः अदर्शि ।

टीका—**निद्रया निमीलितात्** मुद्रितात् निजव्यापार-विरतादित्यर्थः **अक्ष्णोः युगम्** द्वयम् इत्यक्षि-युगम् (ष० तत्पु०) तस्मात् **बाह्ये०-बाह्यानि** बहिर्भवानि **इन्द्रियाणि** चक्षुरादीनि अथवा बाह्येन्द्रियम् अत्र निमीलितं चक्षुरेव ग्राह्यं दर्शने इन्द्रियान्तराणामसम्बन्धात् (कर्मधा०) तस्य **मौनम्** वृत्त्यभावः स्वविषयग्रहणाभावः इति यावत् (ष० तत्पु०) तेन **मुद्रितात्** पिहितात् (तृ० तत्पु०) **हृदः** मनसः अपि **सङ्गोप्य** गोपयित्वा अर्थात् अक्षियुग—मनसोरपि द्रष्टुम् अदत्त्वा **कदाऽपि अवीक्षितः** न अवलोकितः **महत् रहस्यम्** अतिगोपनीयम् वस्तु **स महीपतिः** राजा नलः **अस्या** दमयन्त्या **अदर्शि** दर्शितः । अस्या इति सम्बन्ध-विवक्षायां षष्ठी ।। ४० ।।

व्याकरण—**निमीलितात्** नि+√मील्+क्त कर्मणि । **मौनम्** मुनेर्भाव इति मुनि+अण् । **मुद्रितात्** मुद्रां मुद्रायुक्तमिति यावत् ('सुखादयो वृत्तिविषये तद्वति वर्तन्ते') करोतीति मुद्रयति (नामधातु) बनाकर निष्ठा में क्त । **सङ्गोप्य**—सम्+√गुप्+ल्यप् । **अदर्शि**—√दृश्+णिच्+लुङ् प्र० पु० ।

हिन्दी—बन्द हुई पड़ी दोनों आँखों और बाहरी इन्द्रियों के मौन हो जाने से बन्द हुए पड़े मन से भी छिपाकर निद्रा ने उस (दमयन्ती) को पहले कभी देखने में न आया हुआ वह (नल) राजा-रूप महारहस्य दिखा दिया ।। ४ ।।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'निद्रया' शब्द सशयास्पद है । इसका यदि स्वप्न अर्थ लें, तो यह पुनरुक्ति-सी हो जाती है, क्योंकि पूर्व श्लोक में स्वप्न-दर्शन बता ही रखा है । दूसरी आपत्ति यह है कि स्वप्न में मन काम करता ही रहता है, इसलिए '०मुद्रितात् हृदोऽपि' संगोप्य वाली बात नहीं बनती है । इसका समाधान मल्लिनाथ ने यह दिया है—'अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषण-सामर्थ्यादिन्द्रियार्थसंप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव' अर्थात् मन के 'बाह्ये०' विशेषण के आधार पर यहाँ उस मन से अभिप्राय है, जो अर्थ से सन्निकर्ष ('संप्रयोग') रखने वाली बाह्येन्द्रियों से सन्निकृष्ट होकर देखा करता है । प्रकृत में चक्षु का नल रूप अर्थ से सन्निकर्ष ही नहीं; तो मन का भी चक्षु से सन्निकर्ष नहीं; फिर वह मन देखे तो कैसे देखे ? हाँ, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-निरपेक्ष स्वतन्त्र मन स्वप्न में देखा ही करता है और उसने नल को दिखा ही दिया है । किन्तु यह समाधान कुछ जँचता नहीं । यही कारण है कि नारायण और नरहरि यहाँ निद्रा से सुषुप्ति लेते हैं । दर्शनशास्त्रों में जीवन की तीन अवस्थायें—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—मानी गई हैं । जाग्रदवस्था में बाह्येन्द्रियों के साथ मन काम करता है, स्वप्नावस्था में बाह्येद्रियाँ 'मुद्रित' हो जाती हैं और केवल मन ही काम करता है, सुषुप्त्यवस्था गहरी नींद (Sound sleep) की होती है । जब स्वप्न भी नहीं होते हैं । जैसे माण्डूक्य उपनिषद् में लिखा है—'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्' । इसका कारण है सुषुप्ति में मन का पुरीतति नाम की नाड़ी में चला जाना । इसलिये

कोई ज्ञान नहीं होता। यहाँ भी प्रश्न उठता है कि जब सुषुप्ति में ज्ञान ही नहीं, तो सुषुप्ति ने दमयन्ती को नल कैसे दिखा दिया? इसका उत्तर हमारे पास यही है कि जब हम नींद से जाग जाते हैं, तो 'सुखमहम् अस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्' अर्थात् 'खूब आनन्द से सोया, कुछ भी पता न चला' यह प्रतीति सभी को हुआ करती है। इसका 'न किञ्चिदवेदिषम्' वाला अंश सुषुप्ति में बाह्य जगत् और स्वप्न-जगत् के ज्ञान का प्रत्याख्यान कर रहा है किन्तु 'सुखमहम् अस्वाप्सम्' इस अंश में सुषुप्ति में अहं पद वाच्य आत्मा और उसके सुख—आनन्द—स्वरूप का ज्ञान सर्वथा अप्रत्याख्येय है। शब्दान्तर में, सुषुप्त्यवस्था में आनन्द-स्वरूप आत्मा का भान बना रहता है, देखिए माण्डूक्य—'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञाघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः'। इसे हम अस्थायी मुक्तावस्था या क्षणिक मुक्ति कह सकते हैं। प्रकृत में दमयन्ती का नल के प्रति अनुराग इतनी ऊँची स्थिति में पहुँच चुका था कि जहाँ उसकी और नल की आत्मा परस्पर घुल-मिलकर एकीभूत हो बैठी थीं। अर्धनारीश्वर की तरह प्रिय और प्रेयसी का यह ऐकात्म्यभाव अथवा अद्वैत ही सच्चे प्रेम की कसौटी है। दमयन्ती ने सुषुप्ति में नल को स्वात्म-रूप में देखा। इस तरह सुषुप्ति में दमयन्ती द्वारा नल-दर्शन में कोई अनुपपत्ति नहीं आती। इसीलिए नरहरि का यह कहना ठीक है—'अत्र नलस्य स्वात्मभावेन प्रतिभासनात् न सुषुप्त्यवस्थात्वहानिः। पृथक्त्वेन प्रतिभासे तु स्वप्नत्वमेव स्यान्न सुषुप्तित्वमिति'।

इस श्लोक में नल पर महत्-रहस्यत्वारोप होने से रूपकालंकार है और 'महन्महीपतिः' में छेकानुप्रास। 'कदाप्यवीक्षितः' में प्रतिषेध की प्रधानता होने से नञ् को पृथक् रखकर 'कदापि न वीक्षितः' इस रूप में रखना चाहिए था, किन्तु यहाँ समास कर देने से उसकी विधेयता चली गई है, इसलिए विधेयाविमर्श दोष बन रहा है ॥४०॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम्।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसां भरा विभावरीभिर्बिभरांबभूविरे ॥४१॥

अन्वयः—अहोभिः हिमागमे अपि स्मरार्दिताम् ताम् प्रति महिमा अभिप्रपेदे; विभावरीभिः (च) तपर्तुपूर्तौ अपि मेदसां भरा बिभरांबभूविरे (इति) अहो!

टीका—**अहोभिः** दिवसैः **हिमस्य आगमः** आगमनम् तस्मिन् (ष० तत्पु०) अर्थात् हेमन्तेऽपि **स्मरेण** मदनेन **अर्दिताम्** पीडिताम् **ताम्** दमयन्तीम् **प्रति** लक्ष्यीकृत्य **महिमा** दैर्घ्यम् **अभिप्रपेदे** प्राप्तः, **विभावरीभिः** रात्रिभिः (च) **तपः** ग्रीष्मः चासौ ऋतुः (कर्मधा०) तस्य **पूर्तौ** पूर्णतायाम् (ष० तत्पु०) ग्रीष्मस्य पूर्णावस्थायामित्यर्थः अपि **मेदसाम्**—मज्जानाम् **भराः** राशयः **बिभरांबभूविरे** धृताः, रात्रयो दीर्घीभूता इत्यर्थः इत्यहो आश्चर्यम् ॥ ४१ ॥

व्याकरण—**महिमा** महतो भाव इति महत्+इमनिच्। ध्यान रहे कि इमनिच् प्रत्यय से बने महिमन्, लघिमन्, गरिमन्, द्रढिमन् आदि शब्द पुंल्लिंग रहते हैं। **आगमे** आ+√गम्+घञ् भावे, वृद्ध्यभाव। **अर्दिताम्** √अर्द+क्त+टाप्। **अभिप्रपेदे** लिट्+प्र+√पद्+अभि **पूर्तौ**—√पूर+क्तिन् भावे। **बिभरांबभूविरे**—√भृ+आम् भू+लिट् कर्मणि—('भीह्री भृ०' (६।१।१९२) से आम् द्वित्व)।

हिन्दी—आश्चर्य की बात है कि हेमन्त ऋतु में भी काम-पीडित उस (दमयन्ती) के लिए दिन लम्बाई अपना बैठे (और) भर-पूर ग्रीष्म ऋतु में भी रात्रियों ने ढेरों चर्बी धारण कर ली ॥४१॥

टिप्पणी—मेदसां भराः—रात्रि अमूर्त पदार्थ है, उस पर चर्बी चढ़ाने का सम्बन्ध बाधित है, अतः यहाँ लक्षणा करनी पड़ती है अर्थात् जिस तरह चर्बी चढ़ने से किसी व्यक्ति का शरीर फूलकर बढ़ जाया करता है, उसी तरह रात्रि भी बहुत बढ़ गई। यह सादृश्य-सम्बन्ध वाली लक्षणा है। काम-वेदना के कारण विरही कामी-कामिनियों के शीतकाल के दिन छोटे हुए भी लम्बे हो जाते हैं और ग्रीष्म काल की छोटी राते भी लंबी बन जाती है—यह स्वाभाविक है। यहाँ हिमागम-रूप कारण के होते हुए भी दिन का लघुत्व रूप कार्य और ग्रीष्म-रूप कारण होते हुए भी रात की लघुता रूप कार्य नहीं बताया गया है, अतः विशेषोक्ति अलंकार है। 'अहो' 'अहो' और 'हिमा' हिमा' में यमक, 'भाव' 'भुवि' में छेक तथा अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥ ४१ ॥

स्वकान्तकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादश्रृणोद् गुणोत्करम् ॥४२॥

अन्वयः—कदाचित् नलः अपि युव-धैर्यलोपिनम् स्वकान्ति...स्रजः अन्तः घटनागुण...श्रियम् श्रयन्तम् अस्याः गुणोत्करम् अशृणोत् ।

टीका—कदाचित् कस्मिंश्चित् समये नलः अपि यूनां तरुणानाम् धैर्यम् धीरताभावम् (ष० तत्पु०) लुम्पति विनाशयतीत्येवंशीलम् (उपपद तत्पु०) स्वकान्ति०—स्वस्याः आत्मनः भैम्या इत्यर्थः या कान्तिः सौन्दर्यम् तस्याः कीर्त्तेः यशसः यो व्रजः समूहः (सर्वत्र ष० तत्पु०) स एव मौक्तिकस्रक् (कर्मधा०) मौक्तिकानाम् स्रक् (ष० तत्पु०) शुभ्रत्वात् मुक्ताहारः तस्याः अन्तः—अभ्यन्तरे या घटना संयोजनम गुम्फनेति यावत् तस्यै यो गुणः सूत्रम् (च० तत्पु०) तस्य श्रियम् लक्ष्मीम् शोभामिति यावत् (ष० तत्पु०) श्रयन्तम् भजन्तम् अस्याः दमयन्त्याः गुणानाम् सौन्दर्यादीनाम् उत्करम् समूहम् (ष० तत्पु०) अशृणोत् कर्णगोचरीकृतवान्, नलो लोकमुखेभ्यः दमयन्त्याः सौन्दर्य-कीर्ति-राशिना सहान्यान् गुणांश्चापि श्रुतवान् इति भावः ॥ ४२ ॥

व्याकरण—कान्तिः √कम् + क्तिन् भावे । कीर्त्तिः √कृत् + क्तिन् भावे । मौक्तिकम् मुक्ता एवेति मुक्ता + ठक् स्वार्थे । ०लोपिनम्-√लुप् + णिन् शीलार्थे । उत्करः-उत् + √कॄ + अप् भावे ।

हिन्दी—किसी समय नल भी युवकों का धैर्य तोड़ देने वाला, तथा अपनी कान्ति के यश-समूह के रूप में मौक्तिक-माला गूँथने हेतु भीतरी सूत की शोभा रखे (अर्थात् सूत का काम देने वाला) दमयन्ती का गुण-समूह सुन बैठा ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—श्लोक का भावार्थ यह है कि नल दमयन्ती के सौन्दर्य-यश के साथ-साथ जुड़े उसके बहुत सारे *अन्य गुण सुन बैठा। कवि-जगत् में यश श्वेत होता है, इसीलिए उसपर श्वेत मौक्तिकहार* का तादात्म्य किया गया है। हमारे विचार से मूल में 'स्व' शब्द का सम्बन्ध दमयन्ती से न करके नल से करने में अधिक स्वारस्य रहेगा। अर्थ यह होगा कि नल के अपने सौन्दर्य-यश-रूपी मौक्तिक-हार के भीतर दमयन्ती का सौन्दर्य सूत का काम दे रहा है अर्थात् दोनों का सौन्दर्य आप से मेल

खा जाता है। शब्दान्तर में यों समझ लीजिये कि दमयन्ती का सौन्दर्य नल के सौन्दर्य के अनुरूप ही है। यहाँ कीर्ति-व्रज पर मौक्तिक-स्रक्त्व और गुणोत्कर पर गुम्फन-सूत्रत्व का आरोप होने से रूपक है और साङ्ग है। 'गुण' 'गुणो' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥४२॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥४३॥

अन्वयः—ततः शरीर...मत्सरः स्मरः तम् एवावसरम् लब्ध्वा मूर्तया निजया अमोघ-शक्त्या इव तया नैषधम् विनिर्जेतुम् इयेष।

टीका—**ततः** दमयन्तीगुणश्रवणानन्तरम् **शरीर०**—**शरीरस्य** देहस्य **शोभया** कान्त्या सौन्दर्येणेत्यर्थः (ष० तत्पु०) **जयेन** पराभवेन **जातः** समुत्पन्नः (उभयत्र तृ० तत्पु०) **मत्सरः** द्वेषः (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) **स्मरः**—कामदेवः **तम् एव अवसरम्** अवकाशम् समयमिति यावत् **लब्ध्वा** प्राप्य **मूर्तया मूर्तिमत्या** सशरीरयेति यावत् **निजया** स्वकीयया **अमोघा** अविफला या **शक्तिः** सामर्थ्यम् (कर्मधा०) तया इव **नैषधम्** नलम् **विनिर्जेतुम्** पराभवितुम् **इयेष** ऐच्छत्; 'जात-क्रोधो वैरी कमप्यवसरं प्राप्य शक्त्यायुधः सन् वैरिणं पराजेतुं प्रक्रमते' ॥ ४४ ॥

व्याकरण—**शोभा**√शुभ्+अ+टाप्। **जयः** √जि+अच्। **मूर्तया**—√मूर्च्छ्+क्त+टाप। **विनिर्जेतुम्** वि+निर्+√जि+तुम्। **इयेष**—√इष्+लिट्। **नैषधम्** इसके लिए श्लोक ३६ देखिए।

हिन्दी—तदनन्तर (नल) के शरीर की शोभा द्वारा पराजय से ईर्ष्या-भरे मदन ने वही अवसर पाकर अपनी साकार अमोघ शक्ति-जैसी उस (दमयन्ती) के द्वारा नल को जीतना चाहा ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—यहाँ कवि दमयन्ती पर कामदेव की साकार शक्ति की कल्पना कर रहा है, इसलिए उत्प्रेक्षालङ्कार है। हार खाकर कोई भी व्यक्ति उचित समय पर बदला लेना चाहता ही है। वही कामदेव भी कर रहा है ॥ ४३ ॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्ष्माभुजा भीमनृपात्मजालयः।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—तेन क्ष्मा-भुजा भीम-नृपात्मजालयः गुणः, तदुच्च...षुणा स्मरेण च स्वात्म-शरासनाश्रयः (गुणः) श्रवणातिथिः अकारि।

टीका—**तेन क्ष्मां** पृथिवीम् भुनक्ति शास्तीति तथोक्तेन भूपालेन नलेनेत्यर्थः (उपपद तत्पु०) **भीमश्चासौ नृपः** राजा (कर्मधा०) तस्य **आत्मजा** पुत्री (ष० तत्पु०) भैमी दमयन्तीति यावत् **आलयः** स्थानम्, आश्रयः (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) दमयन्ती-सम्बन्धीत्यर्थः **गुणः** सौन्दर्यादिः **श्रवणयोः** कर्णयोः **अतिथिः** प्राघुणिकः **अकारि** कृतः आकर्णित इत्यर्थः **तदुच्च०**—**तस्य** नलस्य **उच्चम्** उत्कृष्टम् (कर्मधा०) यत् धैर्यम् तस्य **व्ययः** विनाशः (उभयत्र ष० तत्पु०) तस्मै **संहितः** धनुषि आरोपितः (च० तत्पु०) **इषुः** बाणः (कर्मधा०) येन तथाभूतेन **स्मरेण** कामदेवेन **सु** शोभनम् **आत्मनः** स्वस्य यत् **शरासनं** धनुः (ष० तत्पु०) तत् **आश्रयः** आधारः, स्थानम्

(कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्रो०) गुणः प्रत्यञ्चा स्वधनुषो मौर्वीत्यर्थः श्रवणयोः अतिथिः कर्णस्पर्शी अकारि कर्णपर्यन्तमाकृष्ट इति यावत् । यदैव दमयन्ती-सौन्दर्यादिगुणः नलस्य कर्णगतः तदैव कामदेवस्य धनुर्गुणोऽपि (प्रत्यञ्चाऽपि) आकृष्टः सन् तत्कर्णं गतः इत्यर्थः, दमयन्ती-सौन्दर्यमाकर्ण्य नलः कामपीडितोऽभवदिति भावः ।। ४४ ।।

व्याकरण—क्षमाभुज् क्षमा+√भुज्+क्विप् कर्तरि । **आत्मजा** आत्मनो जायते इति आत्मन्+√जन्+ड+टाप् । **श्रवणम्** श्रूयतेऽनेनेति√श्रु+ल्युट् करणे । **व्यय:** वि+√इण्+अच् भावे । **संहित**—सम्+√धा+क्त कर्मणि । **आश्रयः** आ+√श्रि+अच् अधिकरणे ।

हिन्दी—उस महिपाल (नल) ने भीम नृप की पुत्री (दमयन्ती) में धर किया हुआ गुण (सौन्दर्यादि) कान का अतिथि बनाया (=सुना), और उसके उच्च धैर्य के विनाश हेतु बाण रखने वाले कामदेव ने (भी) अपने सुन्दर धनुष पर आश्रित गुण (डोरी) को कान का अतिथि बनाया (=कान तक खींचा) ।। ४४ ।।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'श्रवणातिथि' तथा 'गुण' शब्द श्लिष्ट हैं । नल-पक्ष में 'श्रवणातिथिः अकारि' का अर्थ है 'सुना' और कामदेव-पक्ष में अर्थ है 'कान तक खींचा' । इसी तरह पहले पक्ष में 'गुण' का अर्थ 'सौन्दर्यादि' है और दूसरे पक्ष में 'प्रत्यञ्चा' (धनुष की डोरी) । यहाँ नल का दमयन्ती का गुण (सौन्दर्य) सुनना और कामदेव का गुण (धनुष की डोरी) खींचना दोनों प्रस्तुत हैं । दोनों गुणों का एक ही धर्म अर्थात् श्रवणातिथि-करण से सम्बन्ध बताया गया है, इसलिए तुल्ययोगिता अलंकार है । तुल्ययोगिता वहाँ होती है, जहाँ दो प्रस्तुत-प्रस्तुतों अथवा अप्रस्तुत-अप्रस्तुतों का एक धर्म से सम्बन्ध हो । इसके अतिरिक्त नल ने दमयन्ती का सौन्दर्य पहले सुना, उसके बाद फल-स्वरूप कामदेव ने प्रत्यञ्चा खींची, किन्तु यहाँ कवि ने दोनों का एक ही साथ होना बताया है, इसलिए कारण को पहले और कार्य को पीछे न बताकर दोनों को युगपत् बताने से कार्य-कारण पौर्वापर्य-विपर्ययातिशयोक्ति भी है । इस तरह यहाँ दोनों का संकर है । किन्तु मल्लिनाथ ने उत्तरार्धगत वाक्यार्थ का पूर्वार्धगत वाक्यार्थ कारण बताने से काव्यलिंग माना है । 'स्वात्मशरा०' में 'स्व' और 'आत्म' शब्दों का आपाततः एक ही अर्थ प्रतीत होकर बाद में 'सु+आत्म' ऐसा सन्धि-च्छेद करने से भिन्न-भिन्न अर्थ होता है, अतः पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार है ।। ४४ ।।

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ।। ४५ ।।

अन्वयः—तदा साहसी स्मरः अमुष्य धीरस्य जयाय खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि (निज-) यशांसि संशये निमज्जयामास ।

टीका—**तदा** तस्मिन् समये **साहसम्**—हिताहितानपेक्षं कर्म अस्यास्तीति **साहसी** असमीक्ष्यकारीत्यर्थः **स्मरः** कामदेवः **अमुष्य** अस्य **धीरस्य** धैर्यगुणसम्पन्नस्य नलस्य **जयाय** विजयार्थं **खलु** निश्चयेन **ज्याम्** प्रत्यञ्चाम् **विशिखैः** बाणैः **सनाथयन्** सनाथां कुर्वन् संयोजयन्नित्यर्थः त्रयाणां लोकानां समाहारः **त्रिलोकी** (समाहारद्विगुः) तस्या **विजयेन** पराजयेन (ष० तत्पु०) **अर्जितानि** सम्पा-

दितानि (तृ० तत्पु०) अपि **यशांसि** कीर्तीः **संशये** सन्देहे **निमज्जयामास** पातयामास **अर्थात्** मया त्रिलोकी खलु जितास्ति, इदानीम् एतं धीरं नलमपि जेतुं शक्ये न वा, तस्याजये सर्वं जगज्जयार्जिता मे कीर्तिः नंक्ष्यतीति स्मरो द्वैधीभावे पतितः ॥ ४५ ॥

व्याकरण—साहसी साहस+इन् (मतुबर्थे) **सनाथयन्** नाथेन सहितः सनाथः तं करोतीति सनाथ+णिच्+शतृ (नामधातु) **त्रिलोकी** 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इस नियम से त्रिलोक+ङीप् ('द्विगोः' ४।१।२१)। **संशयः** सम्+√शी+अच् भावे । **निमज्जयामास**—नि+√मस्ज्+णिच्+लिट् ।

हिन्दी—तब साहसी कामदेव इस धीर (नल) के जय हेतु धनुष की डोरी पर बाणों को चढ़ाता हुआ, तीनों लोकों के विजय से अर्जित किये हुए भी (अपने) यशों को संशय में डाल बैठा ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—धैर्य के धनी नल पर बाण छोड़ने को तय्यार हुआ कामदेव मन में डगमगा रहा था कि भला मैं इसे जीत भी पाऊँगा या नहीं । न जीतकर जीवन भर का कमाया हुआ यश कहीं मिट्टी में न मिल जाय । सूद के लोभ से कहीं मूलधन को भी न गँवा बैठूँ । कामदेव का यह संदेह वास्तविक है, विच्छित्ति-पूर्ण नहीं, अतः यह संदेहालंकार का विषय नहीं बन सकता । हाँ, जैसे मल्लिनाथ ने भी मान रखा है, कामदेव के मन में ऐसे संशय का सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध बता दिया गया है, इसलिए यहाँ असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्ति हो सकती है ॥ ४५ ॥

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

अन्वयः—यत् पौष्पैः अपि तादृगनङ्ग-मार्गणैः अस्य धैर्य-कञ्चुकम् अभेदि, तत् अनेन भैमीम् घटयिष्यतः विधेः अवन्ध्येच्छतया तथा व्यलासि ।

टीका—यत् यस्मात् **पौष्पैः** पुष्परूपैः अपि **तादृशः** अतिमृदव इत्यर्थः ये **अनङ्गमार्गणाः** शराः (कर्मधा०) ('कलम्ब-मार्गण शराः' इत्यमरः) **अनङ्गस्य** मार्गणाः (ष० तत्पु०) न **अङ्गम्** शरीरम् यस्य तथाभूतः **अनङ्गः** कामः तच्छरीरस्य महादेवेन भस्मीकृतत्वात्; **अस्य** नलस्य **धैर्यम्** एव **कञ्चुकम्** कवचम् (कर्मधा०) **अभेदि**—भिन्नम् तत् तस्मात् **अनेन** नलेन **भैमीम्** भीमपुत्रीं दमयन्तीमित्यर्थः **घटयिष्यतः** संयोजयिष्यतः संयोजयितुमिच्छोरिति यावत् **विधेः** विधातुः न **वन्ध्या** मोघा इत्यवन्ध्या (नञ् तत्पु०) अवन्ध्या इच्छा (कर्मधा०) यस्य तथाभूत; (अवन्ध्येच्छः) (ब० व्री०) तस्य भावः तत्ता तया **तथा** तेन प्रकारेण **व्यलासि** विलसितम् चेष्टितमित्यर्थः अर्थात् अमूर्तस्यापि कामदेवस्य तादृशैः अतिकोमलैः पुष्प-रूप-बाणैरपि यत् नलस्य धैर्य-रूपं लौह-कञ्चुकं भिन्नम् तेनानुमीयते विधाता इन्द्रादि-देवान् परित्यज्य तेनैव सह दमयन्त्या विवाहं कर्तुमिच्छति ॥ ४६ ॥

व्याकरण—भैमी भीमस्य अपत्यं स्त्री इति भीम—अण्+ङीप् । **घटयिष्यतः**√घट्+णिच्+भविष्यदर्थे शतृ ('लृटः सद्वा ३।३।१४)। **व्यलासि** वि+√लस्+लुङ् भावे । **अभेदि** √भिद्+लुङ् कर्मणि **पौष्पैः** भेद-विवक्षा में पुष्पाणाम् इमे इति पुष्प+अण् अथवा पुष्पाणि एव पौष्पाः स्वार्थ में अण् । **धैर्यम्** धीर+ष्यञ् भावे ।

हिन्दी—कामदेव के वैसे (अतिमृदु) फूलों के बाण भी जो इस (नल) के धैर्य-रूपी कवच का भेदन कर गये, तो (यह) इस (नल) के साथ दमयन्ती का सम्बन्ध जोड़ना चाहने वाले विधाता की कभी विफल न जाने वाली इच्छा का (ही) काम है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—यहाँ धैर्य पर कञ्चुकत्वारोप होने से रूपकालंकार है, उसके साथ-साथ कञ्चुक के पौष्प बाणों द्वारा भेदन में विरोध है जिसका परिहार 'विधि-विलास' से हो जाता है अर्थात् विधाता चाहे लोहा ही क्या पुष्पों से वज्र का भी भेदन सम्भव हो जाता है।' जैसे कालिदास ने भी कहा है—'विषमप्यमृतं भवेत् क्वचित् अमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।' इस तरह रूपक और विरोधाभास का अङ्गाङ्गि भाव-संकर है। यहाँ अनङ्ग शब्द भी कवि का साभिप्राय है अर्थात् पहले तो बाण ही फूलों के हैं और वे भी जिसके हैं वह देखो तो अनङ्ग—बिना शरीर का अमूर्त है। इस तरह विशेष्य साभिप्राय होने से कुवलयानन्दानुसार परिकरांकुर अलंकार है ॥ ४६ ॥

अनङ्ग मार्गणैः—अनङ्ग के धनुष और बाण फूल होते हैं। उसके पाँच प्रसिद्ध बाण ये हैं—"अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमल्लिका। नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः॥" मतलब यह है कि विशेषतः इन फूलों के रूप और सौरभ से काम-वासना भड़क उठती है। यह काव्य-जगत् की मान्यता है ॥ ४६ ॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मनः शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥४७॥

अन्वयः—अन्यत् किम्, यदस्त्र-तापितः पितामहः अद्य अपि वारिजम् आश्रयति (इति) अहो! तम् स्मरम् सः नलः आत्मनः तनु—च्छायतया लङ्घितुम् न शशाक (इति) शङ्के।

टीका—**अन्यत्किम्** अन्यत् कामस्य किं वर्णनम्, अन्यस्य वार्तैव केति यावत् **यस्य** (कामस्य **अस्त्रैः** पौष्पैः वाणैरित्यर्थः (ष० तत्पु०) **तापितः** तापं प्रापितः (तृ० तत्पु०) **पितामहः** पितुः पिता ब्रह्मेत्यर्थः **अद्य अपि** अधुना अपि **वारिजम्**—कमलम् **आश्रयति** भजति (इव) **अहो!** आश्चर्यम् अर्थात् कामानल-दग्धो महावृद्धो ब्रह्मा अपि तापनिवारणाय शीतलं वारिजम् अधितिष्ठति, कामानल-दग्धस्य अन्यस्य तु वार्तैव का, **तम् स्मरम्** कामदेवम् **स नलः आत्मनः** स्वस्य **तन्वी** कृशा म्लानेत्यर्थः **छाया** कान्तिः (शरीरस्येति शेषः) (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) **तनुच्छायः** तस्य भावः तत्ता तया कामसन्तापकारणात् नलस्य सौन्दर्य-च्छटा म्लानिंगता तस्मात् इति भावः **लङ्घयितुं** पराजेतुम् न **शशाक** पारयामास, **शङ्के**—मन्ये। कामेन नलो विजित इति भावः॥४७॥

व्याकरण—**तापितः**√तप्+णिच्+क्त कर्मणि। **पितामहः** पितुः पितेति पितृ+डामहच् ('मातृ-पितृभ्यां पितरि डामहच्' वा०) **वारिजम्** वारिणि जायते इति वारि+√जन्+ड। **लङ्घितुं शशाक** अत्र शक्-योगे तुमुन्।

हिन्दी—और तो क्या, बाप रे! जिसके अस्त्रों से सन्तापित (दादा, बूढ़ा) ब्रह्मा आज तक भी (मानो) कमल का आश्रय ले रहा है, उस कामदेव को वह नल अपनी (शारीरिक) कान्ति स्वल्प (फीकी) पड़ जाने के कारण जीत नहीं सका—ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—वैसे स्वभावतः ही ब्रह्मा का आसन कमल हुआ करता है, इसलिए ब्रह्मा का नाम ही कमलासन है किन्तु यहाँ कवि की यह अनूठी कल्पना है कि वह काम का ताप मिटाने हेतु मानो ठंडे कमल पर जा बैठा है। ताप के कारण लोग शीतल वस्तुओं को अपनाते ही हैं। यहाँ काव्य के तृतीय सर्ग के तीसवें श्लोक में उल्लिखित ब्रह्मा का अपनी ही पुत्री सरस्वती पर कामासक्त होने की घटना की ओर संकेत है। **तनुच्छायतया**—'छाया त्वनातपे कान्तौ' (वैजयन्ती) के अनुसार छाया के छाँह और शोभा दो अर्थ होते हैं। कुछ टीकाकारों ने छाया का परछाईं अर्थ लिया है और तनोः शरीरस्य छाया तनुच्छायम् तस्य भावः तत्ता-तया, यों विग्रह करके यह अर्थ किया है—सौन्दर्य में कामदेव नल की क्या बराबरी कर सकता है, वह तो उसकी छाया—परिछाईं—है, इसलिए नल कामदेव का लंघन—अतिक्रमण नहीं कर सका। अपनी परिछाईं भला कौन लाँघ सकता है ?

यहाँ सन्तप्त-हुआ मानो ब्रह्मा कमल की शरण ले रहा है—यह उत्प्रेक्षा है, किन्तु वाचक शब्द न होने से वह प्रतीयमाना है। वृद्ध ब्रह्मा तक भी काम संतप्त हो उठते हैं, औरों को तो बात ही क्या, यह अर्थ प्राप्त हो जाने से अर्थापत्ति है। तनुच्छायता के कारण मानो नहीं लाँघ सका—यह हेतूत्प्रेक्षा है जिसका वाचक शब्द 'शङ्के' है। **वारिजम्** के साभिप्राय होने से परिकरांकुर है। इस तरह इन सबका संकरालंकार है। 'पितः' 'पिता' और 'न ल (ङ्घितुम्)' 'नलः' में छेकानुप्रास है।

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ।
त्रपासरिद् दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥४८॥

अन्वयः—यत् सा तन्वी त्रपा-सरिद्-दुर्गम् अपि प्रतीर्य नलस्य हृदयम् विवेश, (तत्) किम् वयस्कृतेन नवोपहारेण उरोभुवा कुम्भ-युगेन जृम्भितम् ?

टीका—यत् **सा तन्वी** कृशाङ्गी दमयन्तीत्यर्थः **त्रपा** लज्जा एव **सरिद्** नदी (कर्मधा०) तस्या **दुर्गम्** दुर्गस्थानम् दुस्तर-प्रवाहमिति यावत् (ष० तत्पु०) **प्रतीर्य** तीर्त्वा **नलस्य हृदयम्** स्वान्तम् **विवेश** प्राविशत् (तत्) किम् **वयसा** अवस्थया यौवनेनेत्यर्थः **कृतेन** जनितेन (तृ० तत्पु०) **नव** नूतनश्चासौ **उपहारः** उपायनम् तेन **उरः** वक्षःस्थलम् **भूः** उत्पत्ति-स्थानम् (कर्मधा०) यस्य तथा-भूतेन (ब० व्री०) **कुम्भयोः** कलशयोः **युगेन** द्वयेन **जृम्भितम्** विलसितम् चेष्टितमिति यावत्। यथा खलु काचित् नायिका। वक्षसि कुम्भद्वयं निधाय नदीं तरति प्रियसंकेतस्थलं च तथैव दमयन्त्यपि, वक्षोगत-कुचद्वय-रूप-कुम्भ-द्वयेन लज्जा-नदीं प्रतीर्य नल-हृदयं प्राविशत्; सा लज्जां विहाय नलं चकमे; नलोऽपि तद्-यौवनाकृष्टस्तां निजहृदये प्रतिष्ठापयामासेति भावः ॥ ४७ ॥

व्याकरण—**त्रपा**—√त्रप्+अङ् (भावे)+टाप्। **दुर्गम्** दुःखेन गन्तुं शक्यम् इति दुर्+√गम्+ड। **प्रतीर्य** प्र+√तॄ+ल्यप्। **विवेश**√विश्+लिट्। **उपहारः** उपह्रियते इति उप+√हृ+घञ् कर्मणि। **जृम्भितम्**√जृम्भ+क्त (भाव वाच्य)।

हिन्दी—वह कृशाङ्गी (दमयन्ती) लज्जारूपी दुर्गम नदी को पार करके जो नल के हृदय में जा पहुँची, उससे ऐसा लगता है मानो यौवन द्वारा (उसे) नये उपहार के रूप में दिये गये, वक्षःस्थल पर उभरे कलश-युगल ने (यह) काम किया हो ॥ ४८ ॥

टिप्पणी-अपासरिद्दुर्गम्—मल्लिनाथ तथा अन्य टीकाकार यहाँ 'अपा एव सरित् सा एव दुर्गम्' इस तरह विग्रह करके अपा पर सरित् का आरोप और फिर सरित् पर भी दुर्गत्व का आरोप करके दुर्ग का अर्थ किला (प्राकार) बता रहे हैं, किन्तु हमारे विचार से नदी पर भी दुर्गत्व के आरोप में कोई स्वारस्य नहीं है, किला तरा नहीं जाता है, नदी तरी जाती है। कवि का अभिप्राय 'दुर्ग' से दुर्गमस्थल अर्थात् दुर्गम—दुस्तर—नदी है। यहाँ 'कुम्भ-युग' पर नत्रोपहारत्व का और अपा पर नदीत्व का आरोप होने से रूपक है; स्तन-युग पर कुम्भ-युगत्व का अभेदाध्यवसाय होने से भेदे अभेदातिशयोक्ति है, 'किम्' शब्द उत्प्रेक्षावाचक होने से उत्प्रेक्षा है; इस तरह यहाँ इन सभी का संकर है। इसी तरह के भाव के लिए सर्ग २, श्लोक ३१ भी देखिये ॥ ४८ ॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

अन्वयः—निजाम् अधीरताम् जनाय अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतम्, तत् जागर-दुःख-साक्षिणी शशाङ्क-कोमला शय्या च (शशाङ्क कोमला) निशा च अबोधि।

टीका—निजाम् स्वकीयाम् **अधीरताम्** धैर्याभावं चञ्चलतामित्यर्थः **जनाय** लोकेभ्यः **अपह्नुवानस्य** गोपायतः अपलपत इति यावत् **अस्य** नलस्य सम्बन्धे षष्ठी (उपरि) **मनोभुवा** कामदेवेन **यत् कृतम्** जनितम् **तत् जागरस्य** निद्रा-क्षयस्येत्यर्थः **दुःखम्** कष्टम् (ष० तत्पु०) तस्य **साक्षिणी** प्रत्यक्षदर्शिनी **शशः** मृगविशेषः **अङ्कः** चिन्हं यस्मिन् तथाभूतः (ब० व्री०) चन्द्र इत्यर्थः तद्वत् **कोमला** मृदुः, अथवा **शशः**—मृगविशेषः तस्य **अङ्कः** उत्सङ्गः तद्वत् **कोमला** (उपमान तत्पु०) शय्या तल्पम्, अथ च **शशाङ्कः** चन्द्रः तेन **कोमला** रम्या (तृ० तत्पु०) **निशा** रात्रिः **अबोधि**—ज्ञानवती अर्थात् कामदेवेन रात्रौ नलोपरि यावान् क्लेशातिशय आपातितः तम् शय्या रात्रिरेव च जानाति, रात्रौ काम-वेदनया शय्यायामसौ विलुठतिस्म निद्रां च न लभते स्मेति भावः ॥ ४९ ॥

व्याकरण—अपह्नुवानस्य अप+√ह्नु+शानच् इसके योग में श्लाघह्नु० [पा० १।४।३४ से जन शब्द से पञ्चमी के स्थान में चतुर्थी। **जागर**√जागृ+घञ् भावे, गुणः **साक्षिणी** सह+अक्ष+इन्+ङीप् ('साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्' पा० ५।२।९१) **शय्या** शय्यतेऽत्रेति√शी+क्यप् अयङ्+टाप् **अबोधि** √ बुध्+ लुङ् [अत्र कर्तरि चिण्]।

हिन्दी—लोगों से अपनी अधीरता छिपाते हुए नल पर कामदेव ने जो (कुछ) किया उसे (रातभर उसके) जागते रहने के दुःख की साक्षी शश [खरगोश] के अङ्क (गोद के रोम) की तरह कोमल शय्या एवं शशाङ्क [चन्द्रमा] से कोमल (रमणीय) बनी रात जानती थी।।४९।।

टिप्पणी—यहाँ नल में लज्जा नाम का व्यभिचारी भाव तथा वियोग की जागर-अवस्था बताई गई है। निशा और शय्या दोनों प्रस्तुतों का शशाङ्क कोमलत्व-रूप एक धर्म से सम्बन्ध बताने से तुल्य-योगिता अलंकार है और वह भी श्लेष-गर्भित।।४९॥

स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराज तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसून् शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ ५० ॥

अन्वयः—**भृशम्** स्मरोपतप्तः अपि सः प्रभुः विदर्भराजम् तनयाम् न अयाचत। मानिनः **असून्** शर्म च वरम् त्यजन्ति, एकम् अयाचित-व्रतम् न त्यजन्ति।

टीका—भृशम् अत्यधिकं यथा स्यात्तथा **स्मरेण** कन्दर्पेण **उपतप्तः** तापं प्रापितः पीडित इति यावत् (तृ० तत्पु०) अपि स प्रभुः समर्थः नलः विदर्भाणां राजा इति **विदर्भराजः** तम् [ष० तत्पु०] भीम-मित्यर्थः **तनयाम्** पुत्रीम् दमयन्तीम् न **अयाचत** याचितवान्। **मानिनः** आत्माभिमानिनः उच्च-मनस्का इति यावत् असून् प्राणान् **शर्म** सुखं च **वरम्** मनाक् प्रियं यथा स्यात् तथा [**वरः** श्रेष्ठः त्रिषु क्लीवं **मनाक्**—प्रिये" इत्यमरः] **त्यजन्ति** मुञ्चन्ति एकम् अद्वितीयम् मुख्यमितियावत् **अयाचितम्** न **याचितम्** याचना एव **व्रतम्** नियमम् तु न **त्यजन्ति** अर्थात् आत्माभिमानिनः पुरुषाः याचनां न कुर्वन्ति, तेषां प्राणाः यदि गच्छन्ति, गच्छन्तु नाम ॥५०॥

व्याकरण—**विदर्भराजम्** राजन् शब्द **समास में** अकारान्त होकर राम की तरह चलता है (राजाहःसखिभ्यष्टच्' पा० ५।४।९१)। विदर्भराजम्, तनयाम् ये दो कर्म इसलिए हुए कि √ याच् धातु द्विकर्मक होता है। **अयाचितम्** न **याचितम्** √ याच् + क्त भावे।

हिन्दी—काम द्वारा अत्यधिक पीड़ित होते हुए भी उस राजा नल ने विदर्भराज से (उसकी) कन्या के लिए याचना नहीं की। आत्माभिमानी (लोग) भले ही प्राण और सुख को छोड़ दें, किन्तु न माँगना रूप एक व्रत को नहीं छोड़ते ॥ ५० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में राजा नल द्वारा दमयन्ती को न माँगने की बात का समर्थन उत्तरार्धगत सामान्य बात से किया गया है, इसलिए अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

असून् शर्म च—यहाँ शम शब्द को असून् से पूर्व आना चाहिये था, क्योंकि लोग पहले सुख को और तब प्राणों को छोड़ते हैं। पहले यदि प्राण ही छोड़ दिये तो, बाद में सुख छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए यह अक्रमता दोष है ॥ ५० ॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥ ५१ ॥

अन्वय—अयम् क्वचित् मृषा-विषादाभिनयात् वियोगजाम् निःश्वासततिम् जुगोप विलेपनस्य अधिक-चन्द्र-भागता-विभावनात् च पाण्डुताम् अपललाप।

टीका—**अयं** नलः **क्वचित्** कस्मिंश्चिद् वस्तुनि **मृषा** मिथ्या यः **विषादः** खेदः तस्य **अभिनयात्** प्रदर्शनात् (ष० तत्पु०) वियोगात् जायते इति वियोगजा ताम् [उपपद तत्पु०] **निःश्वासानाम्** दीर्घश्वासानामित्यर्थः **ततिम्** परम्पराम् (ष० तत्पु०) **जुगोप** तिरोदधे अयंभावः—मोहात् कारणात् नलेन कल्पित-दमयन्तीं दृष्ट्वा दीर्घ-निःश्वासांश्च स मुमोच किन्तु लोकेभ्यो निह्नुतमसौ गतं किमपि वस्त्वधिकृत्य प्रकाशं मृषैव एवमाह—'तद् वस्तु गतम्। मम महान् खेदो जायत' इति। **विलेपनस्य** चन्दनलेपस्य **अधिकः चन्द्रस्य** कर्पूरस्य ['घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमरः] भागः अंशः [ष० तत्पु०] यस्मिन् तथाभूतस्य (ब० ब्री०) भावः तत्ता तस्या **विभावनात्** ज्ञापनात् (ष० तत्पु०) **पाण्डुताम्** ईषत् पीतवर्णत्वम् **अपललाप** निह्नुतवान् अर्थात् वियोग-जनित-श्वेत-

वर्णत्व-सम्बन्धे 'एतद् तु चन्दन-लेपे कर्पूरस्याधिक-भागसंमिश्रणेन जातम्' इति कथयन् अपललाप ॥५१॥

व्याकरण—विषादः वि+√सद्+घञ् भावे । अभिनयः अभि+√नी+अच् भावे । निःश्वासः निस्+√श्वस् घञ् भावे । ततिः√तन्+क्तिन भावे । वियोगजाम् वियोग+√जन्+ड+टाप् । विभावनम् वि+√भू+णिच्+ल्युट् भावे । अपललापः अप+√लप्+लिट् ।

हिन्दी— यह (नल) (खोई हुई) किसी (वस्तु) पर झूठ मूठ का खेद प्रदर्शन से वियोग-जनित (अपनी) आहों का सिलसिला छिपा देता था; चन्दन-लेप में कपूर का अधिक भाग (मिला) बताने से (चेहरे की) सफेदी झुठला देता था ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—यहाँ विरह-जनित श्वासों तथा शरीर की सफेदी को मृषा-विषाद और कपूर की सफेदी द्वारा छिपाया गया है, इसलिए मीलित अलंकार है । यह वहाँ होता है, जहाँ दो समान धर्म वाले पदार्थों में से एक के द्वारा दूसरे का तिरोधान होता है । किन्तु विद्याधर का कहना है कि यहाँ व्याजोक्ति अलंकार है । व्याजोक्ति वहाँ होती है, जहाँ प्रकट हुई किसी बात को किसी छल से छिपा दिया जाय । यहाँ विरह-जनित खेद तथा सफेदी मृषा-विषाद और कपूर से छिपाये गये हैं । हमारे विचार से यहाँ इन दोनों का सन्देहसंकर है ॥ ५१ ॥

शशाक निह्नोतुमयेन[1] तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥ ५२ ॥

अन्वयः—अयम् (नलः) यत् अलीक-वीक्षिताम् प्रियाम् बभाषे, (यच्च) वैणिकैः पञ्चम-मूर्छनासु आलपितासु (सतीषु) समाजे एव मुमूर्छ, तत् अयेन निह्नोतुं शशाक ।

टीका—**अयम्** नलः यत् **अलीकम्** मिथ्यैव यथा स्यात् तथा **वीक्षिताम्** दृष्टाम् (सुप्सुपेति समासः) अर्थात् भ्रम-वशात् दृष्टिगोचरीभूताम् **प्रियाम्** दमयन्तीम् **बभाषे** लपितवान् भ्रमदृष्ट-दमयन्त्या सह वार्तालापं कृतवान् इति भावः, यत् च **वैणिकैः** वीणावादिभिः **पञ्चमस्य** पञ्चमस्वरस्य **मूर्छनासु** आरोहावरोहेषु (ष० तत्पु०] **आलपितासु** उच्चारितासु गीतास्वित्यर्थः सतीषु **समाजे** सभायाम् एव **मुमूर्छ** मूर्छां गतः **तत् अयेन** भाग्येन ('अयः सुखावहो विधिः' इत्यमरः) **निह्नोतुम्** **शशाक** अशक्नोत् । नलः पञ्चम-स्वरेण गीते गीयमाने मूर्छितोऽभवत्, यतः कोकिल-पञ्चम-स्वरवत् गीतस्य पञ्चम स्वरोऽपि कामोद्दीपको भवतीति भावः ॥ ५२ ॥

व्याकरण—बभाषे√भाष्+लिट् । **वैणिकैः** वीणा शिल्पमेषामिति वीणा+ठञ् । **समाजः** सम्+अज्+घञ् , मनुष्यभिन्न पशु-समुदाय में अप् होकर समजः बनता है ।

हिन्दी—यह (नल) जो झूठमूठ ही देखी गई प्रिया (दमयन्ती) से बात करता था तथा वीणावादियों द्वारा (गीत के) पञ्चम स्वर के स्वरारोहावरोहों में आलाप भरे जाने पर जो सभा में ही मूर्छित हो उठता था, उसे (वह) भाग्य से ही छिपा सकता था ॥ ५२ ॥

टिप्पणी-निह्नोतुमयेन—इस शब्द पर टीकाकारों की अपनी भिन्न-भिन्न व्याख्यायें हैं । नरहरि का कहना है—'अयं नलो मिथ्यादृष्टां प्रियां यद् बभाषे, तन्निह्नोतुं न शशाक । अये इति विषादे ।···

१. अये न; अनेन ।

पञ्चमस्य मूर्छनासु यन्मुमूर्छ तदयेन दैवेन कथञ्चित् निह्नोतुं शशाक, रागमूर्छना-जनित-सुखानुभव-पारवश्य-व्याजेन निह्नुतवानित्यर्थः" । चाण्डूपण्डित की व्याख्या इस प्रकार है—"अयं नलः अलीकेन भ्रान्त्या वीक्षितां प्रियां अये इति सम्बोध्य बभाषे तत् सभामध्ये निह्नोतुं न शशाक ···यत् पञ्चमरागस्य मूर्छनासु आलपितासु मुमूर्छ तदपलपितुं न शशाक । तत्र प्रत्यक्षे उत्तरं किमपि न शक्यते कर्तुम्" । नारायण एक और ही विकल्प दे रहे हैं—'यद्वा यत्किञ्चिद् बभाषे, तद् अये=कामाय निह्नोतुं न शशाक समाजाय त्वपलपितुं समर्थोऽभूत् यतः समाज एव मुमूर्छ । इः=कामः तस्मै 'इः कामे परुषोक्तौ च' इति विश्वः ।

यहाँ कवि ने वियोग की लज्जा त्याग, प्रलाप, उन्माद और मूर्छा की अवस्थायें बताई हैं । 'मूर्छे' 'मूर्छ' में यमकालङ्कार है ।। ५२ ।।

अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥ ५३ ॥

अन्वय—जितेन्द्रियाणाम् धुरि कीर्तितस्थितिः स भूपतिः तत्र असंवरे शंबर-वैरि-विक्रमे क्रमेण स्फुटताम् उपेयुषि (सति) सापत्रपताम् अवाप ।

टीका—*जितानि—नियन्त्रितानीत्यर्थः* **इन्द्रियाणि** *यैः तथाभूतानाम्* (ब० व्री०) **धुरि** *अग्रे प्रथमपंक्तावित्यर्थः* **कीर्तिता** *स्तुता* **स्थितिः** *स्थानं यस्य तथाभूतः* (ब० व्री०) स भूपतिः राजा नलः तत्र समाजे **असंवरे** न **संवरः**; निह्नवः रोध इत्यर्थः यस्य तस्मिन् (ब० व्री०) संवरितुमशक्ये इति यावत् **शंबर** असुरविशेषः तस्य **वैरी** शत्रुः कामः तस्य **विक्रमे** प्रभावे विकारे इत्यर्थः **क्रमेण** क्रमशः **स्फुटताम्** व्यक्तताम् **उपेयुषि** *प्राप्ते सति* **अपत्रपा** *लज्जा तेन सहितः* इति सापत्रपः (ब० व्री०) तस्य भावः तत्ता ताम् **अवाप** प्राप्तवान् लज्जितोऽभवदित्यर्थः ।।५३।।

व्याकरण—अपत्रपा अप+√त्रप्+अङ् (भावे)+टाप् । **संवरः** सम्+√वृ+अप् भावे । **उपेयुषि**—उप√इ+क्वसु (भूतार्थे) सप्तमी ।

हिन्दी—जितेन्द्रियों में जिसका स्थान सब से आगे कहा जाता है, ऐसा वह राजा नल वहाँ (सभा में) न छिपाये जा सकने वाले काम के प्रभाव के क्रमशः स्फुट हो जाने पर, लज्जा को प्राप्त हो बैठा ।।५३।।

टिप्पणी—**शंबर वैरी**—शंबर एक राक्षस था, जिसे भगवान् कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न ने मारा था । जैसा हम पीछे कह आये हैं, प्रद्युम्न कामदेव का अवतार था । यहाँ 'क्रमे' 'क्रमे' ये यमक और 'वरे' 'वैरि' में छेकानुप्रास है किन्तु अनुप्रास में 'श' 'स', 'व' 'व' तथा 'र' 'ल' में अभेद-नियम मानकर शंबर के 'ब' को भी ले लें तो छेक नहीं रहेगा, क्योंकि छेक में व्यञ्जनों को एक ही बार आवृत्ति का नियम है, अधिक बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास ही होता है ।। ५३ ।।

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन्गुणा विवेकप्रमुखा न चापलम् ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥५४॥

अन्वय—अमी विवेकप्रमुखाः गुणाः नलम् चापलम् रोद्धुम् अलम् न अभवन् किल, यत् सः स्मरः रत्याम् अनिरुद्धम् सृजति एव अयम् ईदृशः सर्ग-निसर्गः (अस्ति)।

टीका—अमी एते **विवेकः** उचितानुचितविचारः **प्रमुखः** येषु तथाभूताः (ब० ब्री०) विवेकादयो **गुणाः नलम् चापलम्** चञ्चलताम् **रोद्धुम्** निग्रहीतुम् **अलम्** समर्थाः **न अभवन्** किल खलु, यत् यतः **सः** प्रसिद्धः **स्मरः** कामः **रत्याम्** अनुरागे, सम्भोगे वा **अनिरुद्धम्** अनियन्त्रितम् चपलम् अवशमिति यावत् जनम् **सृजति** करोति—**अयम्** एष **ईदृशः** एतादृक् **सर्गस्य** सृष्टेः **निसर्गः** स्वभावः (ष० तत्पु०) अस्तीति शेषः। दुर्निरोधो हि प्रेम-मार्ग इति भावः ॥५४॥

व्याकरण—नलम्, चापलम्—ये दो कर्म इसलिए आये हैं कि रुध् धातु द्विकर्मक है 'रोद्धुम् अलम्' में पर्याप्ति वचनेष्वलमर्थेषु (पा० ३।४।६६) से तुमुन् प्रत्यय हुआ है। चापलम् चपलस्य भावः चपल + अण्। **रत्याम्** √रम् + क्तिन् भावे।

हिन्दी—ये विवेक आदि गुण वास्तव में नल की चपलता रोकने में समर्थ नहीं हुए। कारण यह है कि अनुराग होने पर काम (मनुष्य को) चञ्चल बना ही देता है—यह ऐसा सृष्टि का स्वभाव है ॥५४॥

टिप्पणी—रत्यामनिरुद्धम्—यहाँ कवि ने श्लेष का प्रयोग किया है। रति अनुराग और काम की पत्नी, एवं अनिरुद्ध चपल और अनिरुद्ध नामक कामदेव का पुत्र कहलाता है। अपनी पत्नी रति में प्रद्युम्न-रूप कामदेव अनिरुद्ध पुत्र को पैदा करता है—यह दूसरा अर्थ भी यहाँ निकल जाता है। साहित्यिक भाषा में इसे हम शब्दशक्त्युद्भव वस्तु ध्वनि कहेंगे। यहाँ श्लोक में पूर्वार्धगत सामान्य बात का उत्तरार्ध की विशेष बात द्वारा समर्थन किया गया है, इसलिए अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'सर्ग' 'सर्ग' में यमक और अलं नलं में वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार है ॥ ५४ ॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥५५॥

अन्वयः—सः यदा यत्नवान् (सन्) अपि संसदि अनङ्ग-चिह्नम् विना क्षणम् (अपि) आसितुम् न शशाक, तदा आराम-विहार-कैतवान् निर्जनम् देशम् निषेवितुम् इयेष।

टीका—सः नलः यदा यस्मिन् समये **यत्नवान् अपि** यत्नं कुर्वन्नपि **संसदि** सभायाम् **अनङ्गस्य चिह्नम्** प्रलापमूर्छादिकम् (ष० तत्पु०) **विना** अन्तरेण **क्षणम्** क्षणकालपर्यन्तमपि **आसितुम्** स्थातुम् न **शशाक** पारितवान्, **तदा** तस्मिन् समये **आरामे**—उपवने **विहारः** विचरणम् (ष० तत्पु०) तस्य **कैतवात्** व्याजात् (ष० तत्पु०) **निर्जनम्** निर्गता जनाः यस्मात् तथाभूतम् (प्रादि ब० ब्री०) **देशम्** स्थानम् **निषेवितुम्** सेवितुम् **इयेष** अकामयत सभां परित्यज्य देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः ॥५५॥

व्याकरण—०**चिह्नम्** यहाँ बिना के योग में द्वितीया है। **क्षणम्** में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा० २।३।५) से काल के अत्यन्त संयोग होने के कारण द्वितीया हुई है। **आसितुम्** √आस् + तुम्। **शशाक**—√शक् + लिट्। **विहारः** वि + √हृ + घञ् भावे। **कैतवात्** कितवस्य भाव इति कितव + अण् भावे। **निषेवितुम्** नि उपसर्ग होने से सेव् के स को ष हो जाता है।

हिन्दी—वह नल प्रयत्न करता हुआ भी जब सभा में काम-विकार के चिह्नों (प्रलाप-मूर्छा आदि) के बिना बैठ न सका तब उद्यान में विचरण करने के बहाने निर्जन स्थान सेवन करना चाहा ।।५५।।

टिप्पणी—यहाँ भ्रमण का बहाना बनाने से कैतवापह्नुति अलंकार है। शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है। क्षणम्—क्षण शब्द का अन्वय श्लोक के पूर्वार्ध से हो रहा है, इसलिए एक पद के श्लोक के दूसरे अर्थ में जाने से अर्धान्तरैकपदता दोष बन रहा है ।। ५५ ।।

अथ श्रिया[1] भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ।।५६।।

अन्वयः—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः (नलः) स्व-रहस्य-वेदिभिः वयस्यैः समम् पुरोपकण्ठोपवनम् ईक्षिता किल निदेशकारिणः यानाय दिदेश।

टीका—**अथ** अनन्तरम् **श्रिया** कान्त्या सौन्दर्येणेति यावत् **भर्त्सितः** तिरस्कृतः (कर्मधा०) **मत्स्यलाञ्छनः** कामदेवः येन सः (ब० व्री०) मत्स्यः लाञ्छनं चिह्नं यस्य सः (ब० व्री०) मत्स्यो हि कामदेवस्य ध्वजो भवति अतएवासौ मकर-ध्वजो मीन-केतनश्चापि कथ्यते, परम-सुन्दरो नलः काम-पीडितोऽपि सन् सौन्दर्ये कामदेव जितवान् इति भावः, **स्वं** स्वकीयं **रहस्यम्** मर्म (कर्मधा०) विदन्तीत्येवंशीलमेषां तथोक्तैः अर्थात् नलस्य दमयन्त्यामनुरागोऽस्तीति रहस्यज्ञैः **वयस्यैः** सखिभिः **समम्** सह **पुरस्य** नगरस्य यत् **उपकण्ठम्** सामीप्यम् (ष० तत्पु०) 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः) तस्मिन् यत् **उपवनम्** उद्यानम् तत् **ईक्षिता** द्रष्टा **किल** अलीकम् अनङ्गचिह्नगोपनाभिप्रायेणेति भावः **निदेशं** कुर्वन्तीतिशीलमेषां तथोक्तान् आज्ञा-पालकान् भृत्यानिति यावत् **यानाय** वाहनाय वाहनमानेतुमित्यर्थः **दिदेश** आज्ञापयामास ।।५६।।

व्याकरण—**लाञ्छनम्** लाञ्छ्यते चिह्नयते अनेनेति√लाञ्छ्+ल्युट् करणे। वयस्यः वयसा तुल्य इति (वयस्+यत्) **वयस्यैः समम्** समम् के योग में तृतीया हुई है। ईक्षिता यहाँ√ईक्ष् से तृन् प्रत्यय हुआ है, तृच् नहीं, इसीलिए षष्ठी न होकर द्वितीया हुई है। **यानाय** यानम् आनेतुम् इस तरह तुमुन्नर्थ में चतुर्थी हुई है। **यानम्** यान्त्यनेनेति√या+ल्युट् करणे। **दिदेश**√दिश्+लिट्।

हिन्दी—तदनन्तर सौन्दर्य में कामदेव को फटकारे हुए नल ने अपना रहस्य जानने वाले मित्रों के साथ झूठमूठ ही नगर के पास उद्यान देखने हेतु वाहन लाने को भृत्यों को आदेश दिया ।।५६।।

टिप्पणी—विद्याधर ने 'भर्त्सित०' में उपमा मानी है, किन्तु हमारे विचार में यह उपमा का विषय नहीं है, क्योंकि यहाँ उपमानभूत कामदेव से तुलना करके उसकी भर्त्सना-तिरस्कार किया गया है इसलिए यहाँ प्रतीपालंकार है। उपमान का तिरस्कार भी प्रताप का एक अन्यतम भेद है। इसके अतिरिक्त विद्याधर ने यहाँ 'समम्' पद होने से सहोक्ति भी मानी है किन्तु यहाँ सहोक्ति भी नहीं है, क्योंकि सहोक्ति हमेशा कार्य-कारणपौर्वापर्य-विपर्ययातिशयोक्ति को साथ लिये रहती है, जो यहाँ है ही नहीं। 'देश' 'देश' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ।। ५६ ।।

---

१. पृ० ४८ पंक्ति २ क्षोदित का फुट नोट समझें।

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

अन्वयः--ततः अमी 'तस्य' विभूषितम्, सितम्, जवे अपि माने अपि च पौरुषाधिकम्, अजस्र-चञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदित-मन्दुरोदरम् अश्वम् उपाहरन् ।

टीका--**ततः** आज्ञानन्तरम् **अमी** ते भृत्याः **विभूषितम्** अलंकृतम् सज्जितमिति यावत्, **सितम्** श्वेतवर्णम् **जवे** वेगे अपि **पौरुषेण** = बलेन अधिकम् वेगे पुरुषात् अधिकं बलशालिनमित्यर्थः (तृ० तत्पु०) **माने** परिमाणे अपि **पौरुषेण** पुरुष-परिमाणेन अधिकम् ऊर्ध्ववाहुपुरुषादप्युच्चमित्यर्थः **अजस्रम्** निरन्तरम् यथा स्यात्तथा **चञ्चलैः** चटुलैः **खुराणाम्** शफानाम् **अञ्चलैः** अग्रैः (ष०तत्पु०) **क्षोदितम्** चूर्णीकृतम् **मन्दुरायाः** अश्वशालायाः ('वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः) **उदरम्** मध्यम् (ष० तत्पु०) येन तम् (ब० व्री०) अश्वम् **उपाहरन्** आनीतवन्तः । ५७ ।

व्याकरण--**पौरुषाधिकम्**--यहाँ 'पौरुष' शब्द श्लिष्ट है, जिसका 'जव' और 'मान' दोनों से सम्बन्ध है। 'जव' के साथ लगता हुआ यह 'पुरुषस्य भाव इति + अण्' इस व्युत्पत्ति से बनकर विशेष्य-शब्द है अर्थात् जव में जो पौरुष—बल-से अधिक है, किन्तु 'मान के साथ लगता हुआ यह विशेषण-शब्द है अर्थात् पुरुषः = ऊर्ध्वीकृत—बाहुनुय प्रमाणमस्येति पुरुष + अण् ('पुरुष हस्तिभ्यामण् च' पा० ५।२।३८) दोनों हाथों को खड़ा किये हुए पुरुष को ऊँचाई वाले (परिमाण से अधिक), इसके लिए देखिए अमरकोश—'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु'। **क्षोदित**—क्षोदं = चूर्णं चूर्णवदित्यर्थः करोतीति क्षोद + णिच् लट् क्षोदयति ('सुखादयो वृत्ति-विषये तद्वति वर्तन्ते') नाम धातु बनाकर निष्ठा में क्त प्रत्यय ।

हिन्दी—तदनन्तर वे भृत्य नल का वह श्वेत घोड़ा ले आये, जो अच्छी तरह सजा हुआ था, वेग में भी (पुरुष से भी) बड़ा बलवान् तथा कद में भी दोनों हाथ खड़े किये पुरुष की ऊँचाई से (भी) ऊँचा था और निरन्तर चञ्चल बने खुरों के अग्र भागों से घुड़साल के भीतरी भाग को खोदे हुए था ।।५७।

टिप्पणी—**क्षोदित०**—खुर से जमीन खोदने वाला घोड़ा उत्तम कहा जाता है, देखिए शालिहोत्र—'खुरैः खनन् यः पृथिवीमश्वो लोकोत्तरः स्मृतः'। 'क्षोदित' का 'क्षोभित' पाठान्तर मिलता है किन्तु 'खुर से पृथिवी हिला देने वाला' अर्थ ठीक नहीं जँचता है। यहाँ 'चलैः' 'चलैः' में तथा 'ष' और 'स' को ऐक्य मानकर 'षितं' 'सितं' में यमक और 'दुरो' 'दर' में छेकानुप्रास है। 'उपाहरन् अश्वम्' में वाक्य समाप्त हो जाने पर भी फिर 'अजस्र···दरम्' विशेषण जोड़ने के लिए वाक्य का आदान करने से यहाँ समाप्तपुनरात्तत्व है ।।५७॥

अथान्तरेणावटुगामिनाध्वना निशीथिनीनाथमहः सहोदरैः ।
निगालगाद्देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥५८॥

अन्वयः—अथ अवटुगामिना आन्तरेण अध्वना निगालगात् देवमणेः उत्थितैः इव निशीथिनी—नाथ—महः सहोदरैः केसर-केशः-रश्मिभिः विराजितम् (हयम् स नलः आरुरोह) ।

टीका—अथ-तत्पश्चात् **अवटुः** कृकाटिका गलनिम्नप्रदेश इति यावत् ('अवटुर्घाटा कृकाटिका' इत्यमरः) तस्मात् गच्छतीति तथोक्तेन (उपपद तत्पु०) **आन्तरेण**—मध्यवर्तिना **अध्वना** मार्गेण **निगालः** गलप्रदेशः तत्र गच्छतीति तस्मात् (उपपद तत्पु०) गलस्थितादित्यर्थः **देवमणिः** कण्ठावर्त-रोमभ्रमर इति यावत् एव **देवमणिः** कौस्तुभः समुद्रमन्थने समुद्रादुद्गतो मणिविशेषः (यो विष्णुना धृतः) (देवमणिः शिवेऽश्वस्य कण्ठावर्ते च कौस्तुभे इति विश्वः) तस्मात् **उत्थितैः** उद्गतैः इवेत्यु-त्प्रेक्षायाम् **निशीथिनी** निशा तस्याः **नाथः** पतिः चन्द्र इत्यर्थः (ष० तत्पु०) तस्य यानि **महांसि** तेजांसि ('महस्तूत्सव-तेजसोः' इत्यमरः) किरणा इत्यर्थः (ष० तत्पु०) तेषां **सहोदरैः** सदृशैः (ष० तत्पु०) **केसराः** सटा एव **केशा** बालाः केसर-रूपकेशा इति यावत् एव **रश्मयः** किरणाः (कर्मधा०) तैः **विराजितम्** शोभितम् 'हयम्' स नल आरुरोहेति सप्तमश्लोकेन सम्बन्धः ।।५८।।

व्याकरण—०गामिन्√गम्=इन् (शीलार्थे) **आन्तरेण** अन्तरस्य मध्यभागस्येदमिति अन्तर+अण्। **उत्थितैः** उत्+√स्था+क्त कर्तरि । ०**सहोदरैः** यहाँ ('ओपसर्जनस्य' पा० ६।६। ८२) विकल्प से सह को 'स' आदेश नहीं हुआ ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (नल घोड़े पर चढ़ गया)—जो घुघुवी (अवटु) से लेकर (ऊपर जाने वाले) भीतरी मार्ग से गले पर के रोमावर्त्त रूपी कौस्तुभ मणि से निकली, चन्द्रमा की किरणों के समान केसर (अयाल) के बालों-रूपी किरणों से जैसे शोभित प्रतीत हो रहा था ।। ५८ ।।

टिप्पणी—यहाँ तथ्य तो यह है कि घोड़े के गले के नीचे घुघुवी के पास रोमावर्त (बालों का भौंरा) था (यह एक बड़ा शुभ लक्षण माना जाता है) और गले के ऊपर केसर (अयाल) चमक रहे थे । इस पर कवि-कल्पना यह है कि रोमावर्त रोमावर्त नहीं बल्कि गले में धारण किया कौस्तुभ मणि है । इसी तरह केसर के बाल बाल नहीं बल्कि नीचे की कौस्तुभ मणि से फूट रहीं किरणें गले के भीतरी मार्ग से ऊपर आई हुई हैं । इस कल्पना में 'देवमणि' शब्द का बड़ा योग है, क्योंकि वह रोमावर्त और कौस्तुभ—दोनों का वाचक है । इसलिए रोमावर्त पर कौस्तुभत्वारोप केसरों पर रश्मित्वारोप का कारण होकर यहाँ परम्परित रूपक बना रहा है और वह भी श्लिष्ट । इव शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक होने से उसका परम्परित रूपक के साथ अङ्गाङ्गिभाव संकर है । उसके साथ ०सहोदर-शब्द-वाच्य उपमा संसृष्ट हो रही है । सहोदर शब्द सादृश्य-वाचन में लाक्षणिक है। जैसे सहोदर भाई परस्पर समान होते हैं, वैसे ही चन्द्रमा और कौस्तुभ की श्वेत किरणें भी समान थीं। सहोदर शब्द को लाक्षणिक न मानकर यदि वाचक ही मानें तो उपमा नहीं बनेगी, क्योंकि कौस्तुभ की किरणें और चन्द्रमा की किरणें सहोदर ही हैं । चन्द्रमा और कौस्तुभ दोनों मन्थन के समय समुद्र में से निकलने के कारण सहोदर भाई हैं ही । 'केसर' 'केशर' (रश्मिभिः) में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार है ।

इस श्लोक से लेकर सातवें श्लोक तक घोड़े के विशेषण चल पड़े हैं । जहाँ एक ही वाक्य पाँच से लेकर पन्द्रह तक चला जाता है उसे 'कुलक' कहा करते हैं ।। ५८ ।।

अजस्रभूमीतटकुट्टनोत्थितैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥५९॥

अन्वयः—अजस्र...त्थितैः; रेणुभिः रय-प्रकर्षाध्ययनार्थम् आगतैः अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभिः इव चरणेषु उपास्यमानम् ।।५९।।

टीका—**अजस्रम्** निरन्तरम् तथा स्यात्तथा **भूम्या**; पृथिव्याः **तटस्य** तलस्येत्यर्थः कुट्टनेन क्षोदनेन (उभयत्र ष० तत्पु०) **उत्थितैः** उद्गतैः (तृ० तत्पु०) **रेणुभिः** धूलिभिः **रयस्य** वेगस्य **प्रकर्षः** अतिशयः तस्य **अध्ययनार्थम्** पठनार्थम् (उभयत्र ष० तत्पु०) **आगतैः** आयातैः **अणुनो भावः अणिमा** अणुत्वम् अत्यन्तलघुपरिमाणमिति यावत् तेन **अङ्कितैः** विशिष्टैः युक्तैरित्यर्थः अणु-परिमाणैरिति यावत् (तृ० तत्पु०) **जनस्य** लोकानाम् **चेतोभिः** मनोभिः **इवेत्युत्प्रेक्षायाम् चरणेषु** पादेषु **उपास्यमानम्** सेव्यमानम् (हयम्) ।।५९।।

व्याकरण—**उत्थितैः** उत् + √स्था + क्त कर्तरि । **प्रकर्षः** प्र + √कृष् + घञ् । **अध्ययनार्थम्** अध्ययनायेति चतुर्थ्यर्थ में अर्थ के साथ नित्य समास । **अणिमा** अणोः अणुनो वा भाव इति अणु + इमनिच् । ध्यान रहे कि भाव अर्थ में इमनिच् प्रत्यय से बनने वाले अणिमा, महिमा, गरिमा आदि शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं । **उपास्यमानम्** उप + √आस् + शानच् कर्मवाच्य ।

हिन्दी—जो (घोड़ा) लगातार (पैर से) भूतल को कूटते रहने के कारण उठी हुई धूलियों के अतिसूक्ष्म कणों से ऐसा लग रहा था मानो वेग की अधिकता सीखने हेतु आये हुए लोगों के अणु परिमाण वाले मन (उसके) चरणों की सेवा कर रहे हों ।।५९।।

टिप्पणी—यहाँ भी तथ्य यह है कि जमीन खोदते रहने से सूक्ष्म धूलि-कण उसके पैरों पर चिपके रहते थे, इस पर कवि की कल्पना यह है कि वे धूलि-कण नहीं हैं, प्रत्युत मानो घोड़े से अधिक वेग सीखने हेतु आये हुए मन हों । मन का वेग बड़ा तेज होता है । वह क्षण में कहीं का कहीं पहुँच जाता है । किन्तु नल का घोड़ा वेग में मन को भी परास्त किये हुए था । तभी तो मन उसके चेले बने,। इस तरह यहाँ उत्प्रेक्षालंकार से व्यतिरेकालंकार की ध्वनि निकल रही है । साथ ही यहाँ स्वभावोक्ति भी है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से कवि यहाँ एक त्रुटि कर बैठा है और वह यह कि उसने सूक्ष्म धूलि कण के लिए मन का अप्रस्तुत विधान कर दिया है । 'अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते' इस तर्क से मन अणु माना गया है । अणु परिमाण परमाणु और द्व्यणुक में ही रहा करता है और साथ ही अणु परिमाण वाले पदार्थ इन्द्रियातीत होते हैं, देखने में नहीं आते । घोड़े के पैरों पर लगे धूलि-कण दीख रहे हैं, अतः वे त्र्यणुक हैं, जो महत्परिमाण वाले होते हैं । दीखने वाले महत्परिमाण के धूलि-कणरूपी त्र्यणुकों पर न दीखने वाले अणु परिमाण वाले मनों की कल्पना में सामञ्जस्य नहीं बैठ रहा है ।।५९।।

चलाचलप्रोथतया महीभृते स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

---

१. नोद्गतै

अन्वयः—चलाचल-प्रोथतया महीभृते स्ववेग-दर्पान् वक्तुम् उत्सुकम् इव "गिरा अलम्, अयम् स्वयम् हयस्य आशयम् वेद" इति च मौनम् आस्थितम्।

टीका—चलाचलः अतिशयेन चञ्चलः प्रोथः घोणा, नासापुटम् (कर्मधा०) यस्य तथा भूतस्य भावः तत्ता तया (ब० व्री०) ('घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः) महीभृते नृपाय नलाय तत् प्रतीत्यर्थः स्वस्य आत्मनः वेगः रयः तस्य दर्पान्। अहंभावान् (उभयत्र ष० तत्पु०) वक्तुम् उत्सुकम् उत्कण्ठितम् इवेत्युत्प्रेक्षायाम् 'गिरा वाण्या वचनेनेत्यर्थः अलं वाचा कथनस्य नावश्यकतेति भावः, अयम् राजा नलः हयस्य (जातावेकवचनम्) अश्वानामित्यर्थः आशयम् अभिप्रायम् वेद जानाति किन्तु निश्चयेन' इति एतत्कारणात् एतद् विचार्य वा मौनम् तूष्णींभावम् आस्थितम् आश्रितम् प्राप्तमिति यावत् ॥६०॥

व्याकरण—चलाचलः अतिशयेन चल इति 'चरि-चलि पति वदीनां द्विर्वचनमाक् चाभ्यासस्य' इससे 'चल' को द्वित्व और पूर्व 'चल' को आक्। महीं 'विभर्तुं' शीलमस्येति मही + √भृ + क्विप् कर्त्तरि। गिरा अलम् वारणार्थ में तृतीया। वेद √विद् + लट् ('विदो लटो वा' (पा० ३।४।८३) लट् को णल्। आस्थितम् 'आ' उपसर्ग लगने से √स्था धातु सकर्मक बना हुआ है।

हिन्दी—जो (घोड़ा) नथुनों के खूब हिलते रहने से राजा को अपने वेग के दर्पों को कहने हेतु उत्सुक जैसा लग रहा था, (किन्तु) "यह निश्चय ही घोड़ों के मन का भाव स्वयं जान लेते हैं"—यह सोचकर चुप रह जाता था ॥६०॥

टिप्पणी—यहाँ नथुनों की चञ्चलता पर बोलने की उत्सुकता की कल्पना करने से उत्प्रेक्षा है; चुप रह जाने के हेतु की कल्पना 'स्वयं वेद' में है, किन्तु वाचक पद न होने से वह गम्य ही रह गई है। चलाचल में छेक है।

'स्वयं वेद'—राजा नल अश्वशास्त्र के बड़े वेत्ता थे और अश्वों का आशय समझ लेते थे; इस सम्बन्ध में कवि ने सर्ग ५ श्लोक ६० में इसीलिए उन्हें 'भाव-बोध-चतुरं तुरगाणाम्' कहा है ॥६०॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशः सितम्।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥६१॥

अन्वयः—महारथस्य चक्रवर्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्वहनात् यशःसितम् (अतएव) रदा···मिषात् महारथस्य चक्रवर्त्तिनः रवेः अध्वनि अनीदृशाम् अर्वताम् बलम् अन्तः हसन्तम् (हयम्)।

टीका—महारथः एकाकी दश-सहस्रधनुर्धारिभिः सह युद्धयमानो वीरः यथोक्तम्—'एको दश-सहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्र-प्रवीणश्च विज्ञेयः स महारथः' ॥ तस्य, चक्रवर्तिनः चक्रम् राष्ट्रम् वर्त्तयति संचालयति शास्ति वेति तथोक्तस्य सार्वभौमस्येत्यर्थः नलस्य अध्वनि मार्गे परेषाम् अन्येषाम् (अश्वानाम्) न अपेक्षा आवश्यकता यस्मिन् कर्मणि (ब० व्री०) यथा स्यात्तथा उद्वहनात् धारणात् (कारणात्) यशसा कीर्त्या सितम् श्वेतम् (हयम्), (अतएव) रदानाम् दन्तानाम् अवदाताः स्वच्छा ये अंशवः किरणाः (कर्मधा०) तेषाम् मिषात् व्याजात् (ष० तत्पु०) महारथस्य महान् विशालः रथो यस्य तस्य (ब० व्री०) चक्रवर्तिनः चक्रेण एकेन केवलेन रथाङ्गेन वर्तितुं शीलमस्येति तथोक्तस्य रवेः सूर्यस्य अध्वनि आकाशे इत्यर्थः अनीदृशाम् न ईदृशा-

नाम् अर्थात् परापेक्षोद्वहनात् ईदृशयशोरहितानाम् असितानाम् हरितामित्यर्थः **अर्वताम्** अश्वानाम् **बलम्** शक्तिम् **अन्तः** मुखमध्ये **हसन्तम्** हासविषयीकुर्वन्तम् (हयम्) । केवलम् आत्मना महारथिनं **चक्रमुद्वहन्** हयः सप्तमिलित्वा रविम् उद्वहतां तदश्वानामुपरि हसति स्मेति भावः ॥२१॥

व्याकरण—चक्रवर्तिनः चक्र+√वृत्+णिन् ताच्छील्ये । **ईदृशाम्** अयम् इव दृश्यते इति इदम्+√दृश्+क्विन् कर्मणि ।

हिन्दी—जो (घोड़ा) महारथ (महारथी), चक्रवर्ती (सार्वभौम) नल के मार्ग में बिना अन्य (घोड़ों) की आवश्यकता के (उसे) ले जाने के कारण (अर्जित) यश से सफेद बना हुआ था (और इसीलिए) जो महारथ (विशाल रथ वाले) चक्रवर्ती (एक चक्र से काम लेने वाले) सूर्य के मार्ग (आकाश) में (उसे) उसी तरह न ले जाने के कारण वैसे-जैसे (सफेद) न बने हुए घोड़ों के बल पर (अपने) दाँतों की निर्मल किरणों के बहाने भीतर ही भीतर हँस रहा था ॥६१॥

टिप्पणी-अध्वनि चक्र०—चाण्डू पण्डित ने सूर्य-पक्ष में अध्वनि शब्द को पृथक् न रखकर **अध्वनिचक्र०** एक समस्त पद बनाया है और अर्थ किया है—'अध्वनि ध्वनिरहिते चक्रे वर्तते इत्येवंशीलस्य' अर्थात् जिसका रथ-चक्र शब्द नहीं करता है । सूर्य के रथ के सात घोड़ों और एकही चक्र के लिए देखिये ऋ० वे०—**'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रम्'** । घोड़े भी हरे रंग के होते हैं । जिससे सूर्य का नाम ही हरिदश्व पड़ा हुआ है ।

इस श्लोक में नल के अश्व की सूर्य के अश्वों से तुलना करता हुआ कवि पहले तो साम्य बताता है कि सूर्य के घोड़े यदि महारथ और चक्रवर्ती को ले जाते हैं, तो नल का घोड़ा भी महारथ और चक्रवर्ती को ले जाता है, किन्तु ध्यान रखिये कि यह साम्य केवल शाब्दिक ही है, आर्थ नहीं । वैसे सूर्य का महारथत्व और चक्रवर्तित्व और ही है लेकिन कवि ने निपुणता के साथ दो भिन्न भिन्न अर्थों का समान शब्दों द्वारा अभेदाध्यवसाय कर रखा है, इसलिए इस अंश में यहाँ भेदे अभेदातिशयोक्ति है और वह भी श्लेष-गर्भित । साम्य के बाद कवि वैषम्य बताता है कि नल का घोड़ा जहाँ अकेले ही उन्हें ले जाता है जिसके कारण वह यश से धवलित बना हुआ है, वहाँ दूसरी ओर सूर्य को एक नहीं, बल्कि मिलकर सात घोड़े ले जाते हैं, जिससे वे कुछ भी यश अर्जित न कर पाते और धवल होने के स्थान में हरे के हरे ही रह जाते हैं । इस तरह नल के घोड़े में आधिक्य बताने से व्यतिरेकालंकार है । नल का घोड़ा सफेद तो स्वभाव से ही था, किन्तु कवि की कल्पना है कि मानो यश से सफेद हो गया हो, इस तरह यह उत्प्रेक्षा बन रही है जो वाचक शब्द न होने से गम्य ही है, वाच्य नहीं होने पाई । अपने विजयाभिमान में नल का घोड़ा सूर्य के घोड़ों की दुर्बलता पर हँस बैठता है । परन्तु घोड़े ने क्या हँसना है; हँसना तो केवल मनुष्य-मात्र की विशेषता है, अन्य कोई जीव नहीं हँसता । इस तरह घोड़े का हँसना केवल कवि-कल्पना है, जो यहाँ भी उत्प्रेक्षा बना रही है और वह भी गम्य, वाच्य नहीं । हँसने की कल्पना के पीछे जो तत्व काम कर रहा है वह है घोड़े के दाँतों की सफेद छटा । इस प्रस्तुत तथ्य का अपह्नव—प्रतिषेध—करके ही कवि ने हासत्व की स्थापना की है, इसलिए यह अपह्नुति है और वह भी कैतवापह्नुति । इस तरह इन सभी अलंकारों का संकर बनाकर कवि ने अपनी अलंकृत शैली का यहाँ अच्छा प्रदर्शन किया है । किन्तु फिर

भी फूलों में काँटे की तरह एक दोष घुस ही बैठा और वह है विधेयाविमर्श। 'अनीदृशाम्' का अर्थ है 'जो (घोड़े) ऐसे नहीं हैं' उनकी नल के घोड़े ने खिल्ली उड़ाई। यहाँ प्रतिषेध की प्रधानता है, इसलिए प्रतिषेध-वाचक नञ् का समास नहीं होना चाहिए था। समास होने से प्रतिषेध की प्रधानता अथवा विधेयता नष्ट हो रही है। इस तरह विधेय का विमर्श न होने के कारण यहाँ विधेयाविमर्श दोष है ।।६१।।

सितत्विषश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।

स्फुटं[1] चलच्चामरयुग्मचिह्नकै[2]रनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

अन्वयः—सित-त्विषः चञ्चलताम् उपेयुषः पुच्छस्य च केसरस्य च मिषेण चलच्चामर-युग्म-चिह्नैः निज वाजि-राजताम् अनिह्नुवानम् इति स्फुटम् ।

टीका—सिता=शुभ्रा **त्विट्**=कान्तिः (कर्मधा०) यस्य तथा भूतस्य ब० व्री०) **चञ्चलताम्**= चञ्चलस्य भावम् **उपेयुष** = प्राप्तस्य **पुच्छस्य**=लाङ्गूलस्य **केसरस्य**=स्कन्धगतकेशसमूहस्य सटाया इति यावत् **मिषेण**=व्याजेन **चामरयोः युग्मम्**=द्वयम् (ष० तत्पु०) चामर-युग्मम् **चलत्**= इतस्ततः प्रचलत् चामरयुग्मम् (कर्मध०) तस्य **चिह्नैः**=लक्षणैः (ष० तत्पु०) **वाजिनां राजा**= इति वाजिराजः (ष० तत्पु०) वाजिराजस्य भावः वाजिराजता **निजा**=चासौ वाजि० (कर्मधा०) ताम् **अनिह्नुवानम्** = प्रकटयन्तम् इति **स्फुटम्** =उत्प्रेक्षे । कस्यापि राज्ञो वीज्यमानं चामर-द्वयं चिह्नं भवति, नलस्य वाजिराजोऽपि केसर-पुच्छच्छलेन तद् राजचिह्नं धारयति स्मेति भावः ।।६२।।

व्याकरण—कान्तिः√कम्+क्तिन् भावे । **उपेयुषः** उप+√इ+क्वसुः (लिडर्थ) **चिह्नैः** चिह्नं करोतीति चिह्न+णिच् (नामधा०)+ल्युट् भावे । वीजन क्रिया बार-बार होती रहने से चिह्नैः यह बहुवचन हुआ । अन्यत्र **चिह्नकैः** पाठ मिलता है । वहाँ चिह्नानि एव चिह्नकानि इस तरह स्वार्थ में क प्रत्यय है, किन्तु चामर द्वय के साथ चिह्नकैः बहुवचन ठीक नहीं बैठता । **अनिह्नुवानम्** न नि+√ह्नु = शानच् कर्त्तरि ।

हिन्दी—जो (घोड़ा) सफेद छटा वाले एवं हिलते हुए पूँछ और केसर (अयाल) के बहाने (आगे-पीछे) डुलाये जा रहे दो चामरों के चिह्नों से मानो अपना वाजिराजत्व प्रकट कर रहा था ।।६२।।

टिप्पणी—यहाँ भी पूँछ और केसर के बहाने राज-चिह्न-रूप दो चामरों की कल्पना करने से अपह्नुति और उत्प्रेक्षा का संकर है । 'स्फुट' शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक है । अनिह्नुवानम् में भी नञ् की विधेयता बनाये रखने के लिए इसे समास में नहीं लाना चाहिए था । विधेयता नष्ट होने से यहाँ भी विधेयाविमर्श दोष है ।।६२।।

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुषक्तायतवल्गुवल्गया ।

उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥६३॥

अन्वयः—रय-स्मये प्रसभम् जितस्य गरुत्मतः मुखा···या द्विजिह्व···रुषे अपि प्रतिमल्लताम् उपेयिवांसम् (हयम्) ।

---

१. स्फुटां, २. चिह्नकैः ।

टीका—**रयस्य** =वेगस्य **स्मये**=अभिमाने (ष० तत्पु०) **प्रसभम्**=बलात् यथा स्यात् तथा **जितस्य**=पूर्वमेव पराभूतस्य **गरुत्मतः**=गरुडस्य **मुखा० मुखे** वक्त्रे **अनुषक्ता**=लग्ना (स० तत्पु०) **आयता**=दीर्घा **वल्गुः** मनोहरा च या **वल्गा** प्रग्रहः मुखरज्जुरित्यर्थः (सर्वत्र कर्मधा०) **द्विजिह्व०**—द्वे जिह्वे येषां ते (बं० व्री०) **द्विजिह्वाः** सर्पा तेषाम् **अभ्यवहारः** भक्षणम् (ष० तत्पु०) **तस्मिन्** यत् **पौरुषं** पुरुषकारः विक्रम इति यावत् तस्मिन् (स० तत्पु०) अपि प्रतिगतो मल्लः प्रतिमल्लः (प्रादि तत्पु०) तस्य भावः तत्ता ताम् प्रतिस्पर्धिताम् **उपेयिवांसम्** प्राप्तवन्तम् (हयम्)।' पूर्वं वेगाभिमाने बलात् गरुडं पराभूयेदानीं सर्पभक्षण-कार्येऽपि हयस्तं जितवानिति भावः ।।६३।।

व्याकरण—**स्मयः** √स्मि+अच् भावे। **गरुत्मतः** गरुतः पक्षाः अस्य सन्तीति गरुत्+मतुप् इति गरुत्मान् तस्य, अपदान्त होने के कारण 'त्' को 'द्' नहीं हुआ। **अनुषक्त** अनु+√संज्+क्त कर्तरि, अनु उपसर्ग पूर्व में होने से 'स्' को 'ष्'। **आयत** आ+√यम्+क्त कर्तरि। **अभ्यवहारः** अभि+अव+√हृ+घञ् भावे। ध्यान रहे कि √हृ धातु से अभि और अव इन दो उपसर्गों के लगने से 'खाना' अर्थ हो जाता है। **पौरुषम्** पुरुषस्य भाव इति पुरुष+अण् भावे। **उपेयिवांसम्**—उप+√इ+क्वसु (लिट् के अर्थ में उपेयिवान् तम्)।

हिन्दी—जो (घोड़ा) वेग के अभिमान में (पहले ही) परास्त किये हुए गरुड़ के साँपों को खाने की बहादुरी में भी (अब) मुख में लगी हुई लम्बी और सुन्दर लगाम (के ब्याज) से (मानो) प्रतिस्पर्धा कर रहा था ।।६३।।

टिप्पणी—इस श्लोक में यद्यपि न अपह्नुति का और न उत्प्रेक्षा का वाचक शब्द है, तथापि गम्योत्प्रेक्षा के साथ गम्य (आर्थ) अपह्नुति का संकर है। 'वल्गु' 'वल्गा' में छेकानुप्रास है ।।६३।।

स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम्।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥ ६४ ॥

अन्वय—जिताखिल-क्ष्माभृत् अनल्प-लोचनः स क्षिति-पाकशासनः सिन्धुजम् शीतमहस्सहोदरम् उच्चैः श्रवसः श्रियम् हरन्तम् तम् हयम् आरुरोह ।

टीका—**जिताः**=परास्ताः **अखिलाः**=सर्वे **क्ष्माभृतः**=राजानः (कर्मधा०) येन तथाभूतः (ब० व्री०) अथ च जिता अखिलाः **क्ष्माभृतः** पर्वता येन सः इन्द्रेण हि स्व-वज्रेण पर्वतानां पक्षाः छिन्ना आसन् इति पुराण वार्ता, **अनल्पे**=आयते **लोचने**=नेत्रे अन्यत्र **अनल्पानि**=बहूनि सहस्रमिति यावत् लोचनानि यस्य सः (ब० व्री०) स नलः **क्षितेः** पृथिव्याः=**पाकशासनः** इन्द्रः (**इन्द्रो** मरुत्वान् मघवा विडौजाः **पाकशासनः**, इत्यमरः) सिन्धुषु जायते इति **सिन्धुजम्**=(उपपद तत्पु०) सिन्धुदेशोद्भवमित्यर्थः अथ च **सिन्धोः**=समुद्रात् जायते इति **उच्चैः**श्रवा हि मन्थनसमये समुद्रादुद्भूतः **शीत०**=शीतं महः तेजो रश्मय इति यावत् यस्य तथा भूतस्य (ब० व्री०) चन्द्रस्य **सहोदरम्**=सदृशम् अथ च सोदरभ्रातरम् **उच्चैःश्रवसः**=इन्द्राश्वस्य **श्रियम्** कान्तिम् **हरन्तम्** चोरयन्तम् तत्समानमित्यर्थः **तम्** भृत्यैः आनीतम् **हयम्**=अश्वम् **आरुरोह**=आरूढवान् ।। ६४ ।।

व्याकरण—क्षमाभृत्=क्ष्मां पृथिवीं बिभर्तीति क्ष्मा+√भृ+क्विप् कर्तरि। **पाक-शासनः** **पाकस्य**=एतन्नाम्नो राक्षसविशेषस्य **शासनः**=शासिता पराजेतेत्यर्थः शास्तीति√शास्+ल्यु कर्तरि। **सिन्धुजम्**=सिन्धु+√जन्+ड। **आरुरोह**=आ+√रुह्+लिट्।

हिन्दी—सभी महीभृतों (राजाओं) को जीते हुये एवं अनल्प (विशाल) आँखों वाला वह नल जो पृथिवी का सभी महीभृतों (पर्वतों) को जीते और अनल्प (अनेक) आँखों वाला इन्द्र था सिन्धु (देश) में उत्पन्न तथा चन्द्रमा के सहोदर (समान) उस घोड़े पर चढ़ गया जो सिन्धु (समुद्र) में उत्पन्न तथा चन्द्रमा के सहोदर (भाई) उच्चैःश्रवा की कान्ति चुरा रहा था।

टिप्पणी—यहाँ नारायण ने नल के घोड़े और उच्चैःश्रवा के सादृश्य के आधार पर नल को 'पाकशासन इन्द्र इव' लिखकर इन्द्र का उपमेय बनाया है। किन्तु मल्लिनाथ 'क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्तिः' कह रहे हैं। अतिशयोक्ति इसलिये नहीं हो सकती कि आरोप का विषय नल यहाँ 'सः' शब्द से अनिगीर्ण अर्थात् शब्दोपात्त हो है, अभेदाध्यवसाय नहीं होने पाया है। नारायण की उपमा भो नहीं हो सकती, क्योंकि औपम्य-वाचक शब्द यहाँ मूल में कोई नहीं है, इसलिये यह स्पष्टतः रूपक का विषय है, नल पर इन्द्रत्व का आरोप है। वह 'क्ष्माभृद्' और 'अनल्प' में श्लिष्ट है। 'उच्चैः श्रवसः श्रियं हरन्तम्' में उपमा स्पष्ट है, क्योंकि दण्डी ने 'कान्ति चुराता है' 'टक्कर या लोहा लेता है' 'सामना करता है' 'एक साथ तराजू पर बैठता है' 'उसका सहोदर है।' इत्यादि सभी लाक्षणिक प्रयोगों का सादृश्य में ही पर्यवसान माना है, इसलिये इस अंश में उपमा है, जो 'सिन्धुज' और 'सहोदर' में श्लिष्ट है।

पुराणानुसार समुद्र-मन्थन से जो चौदह रत्न निकले उनमें चन्द्रमा और उच्चैःश्रवा भी है जिसे इन्द्र ने रख लिया था। इन्द्र के 'सहस्र लोचन' होने के सम्बन्ध में यह कथा आती है कि एक बार इन्द्र गौतम ऋषि की अनुपस्थिति में उनकी पत्नी अहल्या के साथ व्यभिचार कर बैठा। गौतम को पता चल गया। उन्होंने जहाँ अपनी पत्नी को शाप द्वारा पत्थर बना दिया वहाँ इन्द्र को भी शाप दिया—'सहस्र-भगो भव'। पीछे अनुनय-विनय करके इन्द्र ने ऋषि द्वारा 'भगों' को लोचनों में परिवर्तित करवा दिया ॥६४॥

निजा मयूखा इव तीक्ष्ण[1]दीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम्।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयुः ॥ ६५ ॥

अन्वय—निजाः प्रकाश-रूपा अश्ववारा स्फुटा...जम् जवनाश्वयायिनम् तम् मनुजेशम् (निजाः प्रकाश-रूपाः) मयूखाः (स्फुटा...जम् जवनाश्व०) तीक्ष्णदीधितिम् इव अन्वयुः।

टीका—**निजाः**=स्वकीयाः **प्रकाशम्**=उज्ज्वलम् **रूपम्**=आकारो येषां ते (ब० व्री०) परिहित-श्वेतवसना इत्यर्थः **अश्ववाराः**=अश्वारोहिणः **स्फुटा०—स्फुटम्** स्पष्टम् यथा स्यात्तथा अरविन्दैः कमलैः रेखारूपैरित्यर्थः **अङ्कितम्**=चिह्नितम् (तृ० तत्पु०) **पाणिः** हस्तः (कर्मधा०) **पङ्कजम्**=इव (उपमित तत्पु०) यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) अर्थात् यस्य हस्ते पद्मानां रेखा-चिह्नानि आसन् **जवनः**=अतिवेगवान् ('जवनस्तु जवाधिकः' इत्यमरः) **योऽश्वः** हयः (कर्मधा०)

१. तिग्म।

तेन यातुं—गन्तुं शीलमस्येति तथोक्तम्) (उपपद तत्पु०) तम् मनुजानाम् ईशम् (ष० तत्पु०) राजानं नलम् निजः प्रकाशः = तेजः रूपम् स्वरूपं (कर्मधा०) येषां ते प्रकाशात्मका इति यावत् मयूखाः = किरणाः स्फुटा-स्फुटम् = विकसितम् अरविन्दं तेन अङ्कितम् = सनाथं युक्तमिति यावत् 'कमलपाणिः सूर्यः' इत्यागमवचनात्। जवनैः अश्वैः सहस्रसंख्यकैः यातीति तथोक्तम् तीक्ष्णाः = कठोरा रश्मयः = किरणाः यस्य तम् (ब० व्री०) तीक्ष्णदीधितिम् सूर्यम् इव अन्वयुः = अनुगमनं चक्रुः। यथा मयूखाः सदैव सूर्यस्य सहचारिणस्तथैवं अश्वारोहिणोऽपि नलस्येति भावः ॥ ६५ ॥

व्याकरण—अश्ववाराः = अश्वान् वारयन्ति वृण्वते वेति अश्व + √वृ + अण् कर्तरि। मयूखाः मीनन्ति = हिंसन्ति तम इति √ मी + ऊख् (औणादिक)। जवनः जवतीति √जु + युच् कर्तरि। यायिनम् √ या + णिन् कर्तरि (शाला्थें)। अन्वयुः अनु + √या + लङ्।

हिन्दी—(राजा के) प्रकाश-रूप (उज्ज्वल आकार के निजी अश्वारोही स्पष्टतः कमलों (की रेखाओं) से चिह्नित कमल-सदृश हाथ वाले तथा तेज घोड़े से चलने वाले उस नरेन्द्र (नल) के पीछे-पीछे इस तरह चल दिये जैसे प्रकाश-रूप (तेजस्वरूप) किरणें खिले हुये कमल से चिह्नित (युक्त) हाथ वाले हाथ वाले तथा तेज़ घोड़ों से चलने वाले सूर्य के पीछे-पीछे (उसकी) निजी किरणें चला करती हैं ॥ ६५ ॥

टिप्पणी—यहाँ राजा नल की सूर्य से तुलना होने से उपमा है, किन्तु दोनों का सादृश्य स्वाभाविक नहीं, शाब्दिक है, अतः इसे हम श्लेषानुप्राणित उपमा कहेंगे ॥६५॥

चलन्नलंकृत्य महारयं हयं स[1]वाहवाहोचितवेषपेशलः।

प्रमोदनिःस्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर् व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥ ६६ ॥

अन्वय—वाह...पेशलः स नलः महारयम् हयम् अलंकृत्य चलन् प्रमोद...भिः नगरालयैः लोकैः व्यलोकि।

टीका—वाहवाहः = अश्वारोही तस्य उचितः = योग्यः (ष० तत्पु०) यो वेषः नेपथ्यम् परिधानादिकमित्यर्थः (कर्मधा०) तेन पेशलः सुन्दरः ('चारौ दक्षे च पेशलः' इत्यमरः) स नलः महान् रयो वेगः यस्य तम् (ब० व्री०) हयम् अश्वम् अलंकृत्य = सुशोभितं कृत्वा स्वयमश्वस्य भूषणं भूत्वेतियावत् चलन् = गच्छन् प्रमोदः = प्रकृष्टो मोदः प्रमोदः (प्रादि तत्पु०) आनन्दातिशयः तेन निस्पन्दतराणि (तृ० तत्पु०) निर्गतः स्पन्दः क्रिया येभ्यः इति (प्रादि ब० व्री०) निश्चलानीत्यर्थः अतिशयेन निस्पन्दानि इति ०तराणि अक्षिपक्ष्माणि (कर्मधा०) अक्ष्णाम् नेत्राणाम् पक्ष्माणि (ष० तत्पु०) रोमाणि येषां तथाभूतैः (ब० व्री०) निर्निमेषैरित्यर्थः नगरम् आलयः = स्थानं (कर्मधा०) येषां तैः (ब० व्री०) नगर-वासिभिः लोकैर्जनैः व्यलोकि दृष्टः ॥ ६६ ॥

व्याकरण—वाह-वाह; वहति पुरुषम् इति वाहः √वह् + घञ् (कर्तरि) अश्वः, तस्य वाहः = वाहयति सञ्चालयतीति √वह् + णिच् + घञ् कर्तरि। अर्थात् अश्वारोही अथवा वाहनं = वाहः सञ्चालनम् अश्वस्य वाहे सञ्चालने उचित०। अलंकृत्य अलम् √कृ + ल्यप्। नगरम् नगाः सन्त्यस्मिन्निति नग + रः। व्यलोकि वि + √लोक् + लुङ् (कर्मवाच्य)।

---

१. स्ववाह०

हिन्दी— अश्वारोही-योग्य वेष से सुन्दर बना हुआ वह नल बड़े वेग वाले घोड़े को सुशोभित करके जाता हुआ नगर के लोगों ने आनन्दातिशय के कारण बिना जरा भी पलक झपकाए आँखों से देखा ।। ६६ ।।

टिप्पणी—यहाँ 'वाह' 'वाहो', 'लोकि' 'लोकैः' में छेकानुप्रास और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। 'रयं' 'हयं में 'अयं' का तुक होने से अन्त्यानुप्रास भी है। यद्यपि अन्त्यानुप्रास पादान्त में हुआ करता है, तथापि साहित्यदर्पणकार के 'अयं पदान्तेऽपि भवति यथा 'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' इस उक्ति के अनुसार यह पदान्त-गत भी हो जाता है।.६६।।

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभः प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर् बहिः पुरोऽभूत्पुरुहूतपौरुषः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—अथ क्षणदा-पति-प्रभः पुरुहूत-पौरुषः एषः प्रभञ्जनाध्येय-जवेन वाजिना क्षणात् ताभिः जनदृष्टि-वृष्टिभिः सह एव पुरः बहिः अभूत् ।

टीका—**अथ**=एतदनन्तरम् **क्षणदा**=रात्रिः ['रात्रिस्त्रियामा क्षणदा क्षपा' इत्यमरः] तस्याः **पतिः**=स्वामी चन्द्र इत्यर्थः (ष० तत्पु०) तस्य **प्रभा इव प्रभा** कान्तिः (उपमान तत्पु०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) **पुरुहूतः** इन्द्रः तस्य **पौरुषम्** बलं (ष० तत्पु०) इव पौरुषम् (उपमान तत्पु०) यस्य सः (ब० व्री०) **एषः** नलः **प्रभञ्जनो** वायुः तेन **अध्येयः** अध्येतुं योग्यः (तृ० तत्पु०) **जवः** वेगः (कर्मधा०) यस्मात् तथाभूतेन (ब० व्री०) **वाजिना** अश्वेन (करणभूतेन) **क्षणात्**=क्षणे एव **ताभिः दृष्टीनाम्**=नेत्राणाम् **वृष्टिभिः**=पातैः इत्यर्थः **सह**=समम् एव **पुरः**=नगरात् **बहिः**=अभूत् अभवत् । नलः सहैव नगरतः लोकदृष्टितश्चापिदूरमभवदित्यर्थः ।। ६७ ।।

व्याकरण—**क्षणदा** क्षणम् उत्सवम् आनन्दमिति यावत् ददाति (रात्रिञ्चरेभ्यः) इति क्षण+√दा+कः। यास्क ने रात्रि को भी रात्रि इसीलिये कहा है कि वह '**रमयति**=आनन्दयति (नक्तंचराणि भूतानि)। **पुरुहूतः** पुरुभिः=बहुभिः अथवा **पुरु** बहु यथा स्यात्तथा **हूतः** स्तुतः इति पुरु+√हे+क्तः कर्मणि। **प्रभञ्जन**=प्रभनक्ति त्रोटयति वृक्षादीन् इति प्र+√भञ्ज्+ल्युः कर्तरि। **अध्येयः** अध्येतुं योग्य इति अधि+इ+यत्। दृष्टिः, वृष्टिः √दृश्, वृष्+क्तिन् भावे। **पुरो** बहिः के योग में पञ्चमी।

हिन्दी—तदनन्तर चन्द्रमा की सी कान्ति तथा इन्द्र का-सा बल वाला यह नल वायु को (भी) शिक्षा देने वाले घोड़े से लोगों के उन दृष्टि-पातों के साथ ही नगर से बाहर हो गया ।। ६७ ।।

टिप्पणी—यहाँ राजा की उपमा सौन्दर्य में चन्द्रमा से एवं पौरुष में इन्द्र से दी जाने के कारण उपमा है। लोगों की आँखों से और नगर से एक साथ ही ओझल होना सम्भव नहीं। पहले नल नगर से बाहर हुआ, तब लोगों की आँखों से बाहर हुआ, अर्थात् लोगों की आँखों से बाहर होने का कारण है, उसका नगर से बाहर हो जाना, किन्तु कारण को पहले और कार्य को पीछे न बताकर यहाँ दोनों एक साथ बताये गये हैं, इसलिए यह कार्यकारण-पौर्वापर्य-विपर्ययातिशयोक्ति है और

उसके साथ 'सह'-शब्द वाच्य सहोक्ति है। प्रभञ्ज०—न घोड़े ने शिक्षक बनना है न वायु ने शिष्य, इसलिए यह लाक्षणिक प्रयोग है जिसका अभिप्राय यह है कि घोड़ा वायु से भी तेज दौड़ने वाला था। 'क्षपा' क्षपे' में छेकानुप्रास है। 'पुरो' 'पुरु' 'पौरु' में व्यञ्जनों की आवृत्ति एक से अधिक बार होने से यहाँ छेक न होकर वृत्त्यनुप्रास ही है। 'दृष्टि' 'वृष्टि' में 'ऋष्टि'-'ऋष्टि' की तुक बनने से पदान्त-गत अन्त्यानुप्रास है ॥६७॥

ततः प्रतीच्छ प्रहरेतिभाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवैः ।
मृषामृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतुः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—ततः 'प्रतीच्छ, प्रहर' इति भाषिणी परस्पर···वैः नासीर-गते नलस्य सादि-बले कुतूहलात् मृषा मृधम् वितेनतुः।

टीका—**ततः** = तत्पश्चात् **'प्रतीच्छ** = गृहाण, **प्रहर** = प्रहारं कुरु' इति **भाषिणी** = वदन्ती **परस्परम्** = अन्योन्यम् यथा स्यात्तथा **उल्लासितानि** = उत्थापितानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि (कर्मधा०) शल्यानाम् पल्लवानि (ष० तत्पु०) याभ्यां तथाभूते (ब० व्री०) **नासीरम्** = सेनामुखम् **गते** = प्राप्ते ('सेनामुखं तु नासीरम्' इत्यमरः) **सादिनाम्** = अश्वारोहिणाम् **बले** = सेनाद्वयम् (ष० तत्पु०) **कुतूहलात्** = कौतुकात् **मृषा** = मिथ्या **मृधम्** = युद्धम् ('मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इत्यमरः) **वितेनतुः** चक्रतुः। अश्वारोहिणां सेनाद्वयं परस्परं कृत्रिम-युद्धमकरोदिति भावः ॥ ६८ ॥

व्याकरण—**प्रतीच्छ** = प्रति + √इष् + लोट् (मध्य० पु०) **भाषिणी**—भाषेते इति √भाष् णिन् कर्तरि, ध्यान रहे कि ०भाषिणी शब्द यहाँ नपुंसक प्रथमा द्विवचन है। **परस्परम्** परं परम् इति कस्कादि होने से सकार हो गया है। **उल्लासित** = उत् + √लस् + णिच् + क्तः कर्मणि। **वितेनतुः** = वि + √तन + लिट् (प्र० पु० द्वि०)।

हिन्दी—तदनन्तर—'लो ग्रहण करो' 'प्रहार करो'—इस तरह कहती हुई और परस्पर (प्रहार करने हेतु) भालों के किनारों को उठाये, सेना के अग्र-भाग में स्थित नल की दो घुड़सवार सेनायें कौतूहल-वश नकली लड़ाई लड़ने लगीं ॥ ६८ ॥

टिप्पणी—विद्याधर ने यहाँ अनुप्रासोपमालंकार लिखा है। अनुप्रास तो 'पर' 'परो' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ही किन्तु उपमा किस स्थल में है—यह हमारी समझ में नहीं आ रहा है।

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुद्धतं रजः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—इयम् धरा अस्माकम् प्रयातुम् कियत् पदम् ? तत् अम्भोधिः अपि स्थलायताम् इति इव निज-वेग-दर्पितैः वाहैः पयोधि-रोध क्षमम् रजः उद्धतम्।

टीका—**इयम् धरा** = पृथिवी अस्माकम् **प्रयातुम्** = गन्तुम् कियत् **पदम्** = पाद-विक्षेपः ? न किमपीति काकुः न पर्याप्तमिति भावः पद शब्दोऽत्र जातावेकवचनम् द्वित्राण्यिपदान्येवभविष्यन्ति तत् तस्मात् कारणात् **अम्भोधेः** = समुद्रः अपि **स्थलायताम्** = स्थलम् इव आचरतु गमनार्थं स्थली·

मन्यस्वित्यर्थः इति विचार्येत्यर्थः। इवेत्युत्प्रेक्षायाम् **निजः**=स्वीयः यो **वेगः** रयः (कर्मधा०) तेन **दर्पितैः** दर्पप्रापितैः (तृ० तत्पु०) **वाहैः**=अश्वैः **पयोधेः**=समुद्रस्य **रोधः**=वारणं पूरणमिति यावत् (ष० तत्पु०) तत्र **क्षमम्**=समर्थम् (स० तत्पु०) **रजः** धूलिः **उद्धतम्**=उत्थापितम्! समुद्रं धूलिभिः प्रपूर्य स्थलीकृत्य च वयं सुखेन संचरिष्याम इति भावः॥ ६९।

व्याकरण—अम्भोधिः अम्भांसि जलानि धीयन्तेऽत्रेति अम्भस्+√धा+किः अधिकरणे। इसी तरह 'पयोधि' भी समझिये! **स्थलायताम्** स्थलम् इव आचरतीति स्थल+क्यङ् लोट् (नाम-धातुः) **दर्पितैः** √दृप्+णिच्+क्तः बिना णिच् के **दृप्तैः** बनेगा। **उद्धतम्**=उत्+√हन्+क्तः कर्मणि)।

हिन्दी—"यह पृथिवी हमारे लाँघने हेतु कितने कदम है? [बहुत कम] इसलिये समुद्र भी स्थल बन जाय"—यह विचार कर मानो अपने वेग के अभिमान में चूर घोड़ों ने समुद्र पाट देने योग्य धूलि उड़ाई॥ ६९॥

टिप्पणी—स्थलायताम् आचारार्थ में बना हुआ यह नाम-धातु सादृश्य-वाचक है, अतः उपमा है। धूलि उड़ाना स्वाभाविक है किन्तु कवि ने उसमें समुद्र को पाट देने की कल्पना की है इसलिए उत्प्रेक्षा भी है। 'धरा' 'धिर०' ०'धिरो' में व्यञ्जनों का एक से अधिक वार साम्य होने से छेक न होकर वृत्त्यनुप्रास है॥६९॥

> हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि तस्य नः।
> त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभःकृतक्रमैः॥ ७०॥

अन्वयः—"यत् खम् हरेः एककेन पदा अक्रामि, तस्य चतुर्भिः पदैः क्रमणे (सति) अपि नः हरीणाम् त्रपा" इति नम्रिताननैः अर्धनभःकृतक्रमैः तैः न्यवर्ति।

टीका—यत् खम्=आकाशम् **हरेः**=विष्णोः विष्णुरूपस्य वामनस्येत्यर्थः **एककेन**=एकाकिना **पदा**=चरणेन **अक्रामि** आक्रान्तम् लंघितमिति यावत् **तस्य**=आकाशस्य **चतुर्भिः**=चतुःसंख्यकैः **पदैः**=चरणैः **क्रमणे**=लंघने सत्यपि **नः**=अस्माकम् **हरीणाम्**=अश्वानाम् अथ च विष्णूनाम् **त्रपा**=लज्जा वर्तते इति शेषः। एकेनैव हरिणा एकेनैव पदेन गगनं लंघितम् अस्माभिः बहुभिः पदैश्च तल्लंघ्यते इति महती लज्जाऽस्माकमिति भावः **इति**=हेतोः विचार्य **नम्रितम्**= लज्जाकारणात नीचैः कृतम् **आननम्**=मुखम् यैस्तैः [ब० व्री०] अर्धं च तत् **नभः** आकाशम् [कर्म धा०] तस्मिन् **कृतः**=विहितः (स० तत्पु०) **क्रमः**=पादविक्षेपः [कर्म धा०] यैस्तैः [ब० व्री०) **तैः**=हरिभिः अश्वैरित्यर्थः **न्यवर्ति** निवृत्तम्। अर्धाकाशे चरणौ कृत्वा पुनस्ते निवर्तितवन्त इति भावः॥ ७०॥

व्याकरण—एकक एक एवेति एक+कन् (असहाये] अर्थात् एकाकी। **पदा** पाद शब्द को पदादेश। **अक्रामि**√क्रम+लङ् (कर्म वाच्य) क्रम् धातु के मान्त होने के कारण यहाँ व्याकरणा-नुसार **अक्रमि** रूप होना चाहिये। 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमे' पा० ७।३।३४ यह सूत्र वृद्धि निषेध कर देता है। इसीलिए अपनी बाल-मनोरमा टीका में भट्टोजीदीक्षित ने लिखा है—

कथं तर्हि "हरेयंदक्रामि पदैककेन खम्" इति श्रीहर्षः ? प्रमाद एवायम्" **अपा**—√अप्+अङ् (भावे) +टाप्। **नम्रित**—नमतीति√नम्+रः (कर्तरि) नम्रः नम्रं करोतीति नम्र+णिच् नम्रयति (नाम धातु बनाकर) निष्ठा में क्त। **न्यवर्ति**—नि+√वृत्+लुङ् [कर्मवाच्य]।

हिन्दी—जिस आकाश को हरि (विष्णु) का अकेला एक ही पैर लांघ गया था, उसे चार पैरों से लाँघ देने पर भी हम हरियों (घोड़ों, विष्णुओं) को लज्जा आ रही है यह सोचकर (मानो) मुँह नीचे किये और आधे आकाश में पैरे रखे वे (घोड़े) लौट पड़े॥ ७०॥

टिप्पणी—यहाँ हरि शब्द में श्लेष रखकर कवि बड़ी विच्छित्ति दिखा गया है। हरि विष्णु और घोड़ा दोनों को कहते हैं [यमानिलेन्द्र-चन्द्रार्क-**विष्णु**-सिंहांशु—**वाजिषु**। शुकाहि-कपि-भेकेषु **हरिर्ना** कपिले त्रिषु। इत्यमरः]। हरि (विष्णु) ने वामनावतार धारण करके भिखारी का वेश बनाकर राजा बलि से अपनी कुटिया बनाने हेतु तीन पैर नापकी धरती माँगी। बलि दानी तो थाही। उसने यह छोटी सी प्रार्थना स्वीकार करली, किन्तु बादको वामन ने तत्काल विशाल रूप अपना लिया और एक पग से सारी धरती और दूसरे पग से सारा आकाश माप लिया। तीसरे पग के लिये वे जब बलिको पूछने लगे कि कहाँ रखूँ, तो बलि ने अपना सिर पसार दिया। भगवान ने अपना पैर राक्षसराज के सिर पर रखा और जोर से दबाकर उसे पाताल भेज दिया। हेतु रूपमें कल्पना करने से उत्प्रेक्षालंकार है वह वाचक पद न होने से गम्य है। 'क्रामि' 'क्रम' और 'क्रमैः' में अनेक व्यञ्जनों की एक से अधिक बार आवृत्ति से वृत्यनुप्रास है। **'अक्रामि'** में च्युतसंस्कृति दोष है।॥ ७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवाः।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन्भूरितुरङ्गमानपि॥ ७१॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य चमूचराः सादिनः तम् विहार-देशम् अवाप्य जिनोक्तिषु श्राद्धतया सैन्धवाः इव भूरि तुरङ्गमान् अपि मण्डलीम् अकारयन्।

टीका—**तस्य नृपस्य**=राज्ञो नलस्य **चमूचराः**=सेनाचराः **सादिनः**=अश्ववाहा अश्वारोहि-सैनिका इत्यर्थः तम् **विहारस्य**=वाह्यक्रीडायाः **देशम्**=स्थानम् [ष० तत्पु०] अथ च सुगतालयम् [**'विहारो** भ्रमणे स्कन्धे **लीलायां** सुगतालये' इति विश्वः] **अवाप्य** प्राप्य **जिनः** बुद्धः ['सर्वज्ञः सुगतो **बुद्धः**-मारजिल्लोकजिज्जिनः' इत्यमरः] तस्य **उक्तिषु**=वचनेषु (ष० तत्पु०) **श्राद्धतया**= श्रद्धालुत्वेन **सैन्धवाः**=सिन्धुदेशोद्भवाः बौद्धा इव भूरयश्च ते **तुरङ्गमाः**=अश्वाः तान् (कर्म धा०) अपि **मण्डलीम्**=मण्डलाकारेण गतिम् अथ च मण्डलाकारेण आसनम् **अकारयन्**= कारितवन्तः। यथा बौद्धा बौद्धमठमागत्य मण्डलाकारेणावतिष्ठन्ते तथेतिभावः॥ ७१॥

व्याकरण—**चमूचराः** चमूषु चरन्तीति चमू+√चर्+टः। **श्राद्धतया**-श्रद्धाऽस्यास्तीति श्रद्धा+णः (मतुबर्थे) श्राद्धः तस्य भावः तत्ता तया। **सैधन्वाः** सिन्धुषु भवा इति सिन्धु+अण्। **मण्डलीम्** मण्डल+ङीष् [गौरादित्वात्] **अकारयन्**√कृ+णिच्+लङ् विकल्प से णिजन्त में द्विकर्मकता।

हिन्दी—जिस तरह बुद्ध के उपदेशों में श्रद्धा रखने के कारण सिन्धु के बौद्ध लोग विहार देश [सुगतालय] में जाकर किया करते हैं उसी तरह उस राजा नल की सेना के अश्वारोही सैनिकों ने विहार देश (विहारोद्यान) में जाकर (अपने) बहु संख्यक घोड़ों से भी मण्डलाकार गति करवाई ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—मण्डलीम्=सिन्ध के बौद्धों में यह प्रथा है कि वे अपने भिक्षुओं को मठ में मंडलाकार बिठाते हैं। श्लिष्ट उपमालंकार है, किन्तु यहाँ मल्लिनाथ सैन्धव शब्द को 'सादिनः' के साथ जोड़ते हैं। सैन्धव शब्द को सिन्धु से 'तत्रभवः' अर्थ में अण् करके सैन्धव बनाते हैं, फिर 'सैन्धवानाम् इमे' अर्थ में 'तस्येदम्' से अण् करके 'सिन्धु देश के घोड़ों वाले, सादिनः' इस तरह अन्वय करके उपमान नहीं बनने देते हैं, जिससे यहाँ उपमान बनकर उत्प्रेक्षा बन जाती है अर्थात् सिन्धु देश के घोड़ों वाले सवार मानों बुद्धोपदेशों पर श्रद्धालु होने के कारण घोड़ों को गति में मण्डलाकार बना रहे थे। 'अपि' शब्द में यह अर्थ निकलता है कि घोड़ों के मण्डलाकार में होने से वे उनपर सवार होने के कारण स्वयं भी मण्डलाकार बना रहे थे। विद्याधर ने भी यहाँ उत्प्रेक्षा ही मानी है।

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम्।
इतीव धारामवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रियामण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥ ७२ ॥

अन्वयः—'दिशः अस्य द्विषद्भिः एव विलङ्घिताः, अब्धिः यशोभिः एव गोष्पदम् अकारि'—इति इव तुरङ्गमैः धाराम् अवधीर्य मण्डली-क्रिया-श्रियः स्थली अमण्डि।

टीका—दिशः=आशाः अस्य=नलस्य द्विषद्भिः=शत्रुभिः एव विलङ्घिताः=क्रान्ताः, अब्धिः =समुद्रः (अस्य) यशोभिः=कीर्तिभिः एव गोष्पदम्=गोखुरप्रमाणप्रदेशः सुखेन लङ्घ्य इति यावत् अकारि=कृतः इति=हेतोः अथवा मनसि कृत्वा तुरङ्गमैः=अश्वैः धाराम्=(जातावेकवचनम्) धाराः पञ्चविधाः गतीरित्यर्थः ['आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम्। गतयोऽमूः पञ्च धाराः' इत्यमरः] अवधीर्य=अनादृत्य परित्यज्येत्यर्थः मण्डल्याः=क्रियामण्डलीकरणव्यापारः मण्डलाकारगतिरिति यावत् [ष० तत्पु०] तस्याः श्रिया=कान्त्या [ष० तत्पु०] स्थली= अकृत्रिमा भूमिः अमण्डि—अभूषि अर्थात् मण्डलाकारगत्या ते विहार-स्थलीमलमकुर्वन् ॥ ७२ ॥

व्याकरण—द्विषद्भिः√द्विष्+शतृ+तृ। अब्धि आपो धीयन्तेऽत्रेति अप्+√धा+किः अधिकरणे। गोष्पदम् गोष्पदमात्रम्' गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु। पा० ६।१।१४५ से परिमाण अर्थ में सुट् और षत्व। अकारि=√कृ+ लुङ् कर्म वाच्य। अवधीर्य =यह प्रयोग √ अवधीर (अवज्ञायाम्) इस चौरादिक धातु से तो बन नहीं सकता है, क्योंकि "ल्यप्' उपसर्गादि पूर्व में होने पर ही होता है बिना उपसर्गादि के नहीं। इसलिए—जैसे कि नारायण ने माना है—यह अव+अधि+√ईर् से ही हम बना सकते हैं। 'अवधी' में शकन्ध्वादि होने से पररूप हो जाता है। अमण्डि√मड्+लुङ् कर्मवाच्य।

हिन्दी—(दिशायें तो) इस (नल) के शत्रु ही लाँघ गये (और) समुद्र को (इसके) यशों

ने ही जो-खुर परिमाण जितना (छोटा) बना दिया—इस कारण मानों घोड़े विविध चालों को छोड़कर गोल चक्कर काटने की क्रिया को रमणीयता से (विहार) स्थली को शोभित कर रहे थे ।।७२।।

टिप्पणी—वैसे तो घोड़े स्वभावतः मण्डलाकार दौड़ रहे थे लेकिन कवि-कल्पना यह है वे सीधा दौड़ें तो कहाँ दौड़ें, दिशाओं में शत्रु दौड़ गये थे और समुद्र तक यश चला गया। नया अक्षुण्ण प्रदेश जब रहा ही नहीं; तो बेचारों को चक्कर, ही लगाना पड़ रहा है। इस तरह यहाँ उत्प्रेक्षा है। 'मण्ड' 'मण्डि' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। तीसरे और चोथे पाद के अन्त में 'अली' 'भली' का तुक मिलने से अन्त्यानुप्रास है ।।७२।।

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नलः ।

मरुत्किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रङ्क्रमान् ।। ७३ ।।

अन्वय—नलः निजातपत्रस्य तल-स्थले हयेन या भ्रमीः चारु अचीकरत्, तासु मरुत् वात्यामय-चक्र-चङ्क्रमान् वितत्य अद्य अपि न शिक्षते (किम्)।

टीका—**नलः निजम्** = स्वीयम् यत् **आतपत्रम्** = छत्रम् (कर्मधा०) तस्य **तलस्य स्थले** = अधोभागे (ष० तत्पु०) **हयेन** = अश्वेन याः **भ्रमीः** = मण्डलाकारभ्रमणानि **चारु** = रमणीयतया यथा स्यात्तथा **अचीकरत्** = कारितवान्, **तासु** = भ्रमीषु भ्रमणविषये इत्यर्थः **मरुत्** = वायुः वात्या = वातसमूहः एव **वात्यामया** = **चक्रेण** = मण्डलाकारेण **चङ्क्रमाः** = चङ्क्रमणानि मुहुर्मुहुः भ्रमणानीति यावत् (तृ० तत्पु०) तान् **वितत्य** = कृत्वा **अद्यापि** = अस्मिन् दिने अपि **शिक्षेत** = अभ्यस्यति (किम् ?) अपि तु शिक्षते एवेति काकुः। वायुः अद्यापि यत् मण्डलाकर भ्रमणानि करोति तत् नलाश्व-मण्डलाकारभ्रमणविषयकम् 'अभ्यास' करोतीति भावः ।। ७२ ।।

व्याकरण—**भ्रमि** √भ्रम्+(कृष्यादित्वात्) इक्। **अचीकरत्** √कृ+णिच्+लुङ् कर्तरि, विकल्प से द्विकर्मकता नहीं हुई। **वात्यामयाः** वात्या एवेति वात्या+मयट् स्वरूपार्थे। **वात्या** वातानां समूह इति वात्+यत् (पाशादित्वात्+टाप्) **चङ्क्रमान्**—पुनः पुनः क्रमति इति चङ्क्रम्यते (यङन्त) इति √चङ्क्रम्+छत्र् भावे। वितत्य वि+√तन+ल्यप्। अद्य शब्द को यास्क ने अस्मिन् द्यवि का संक्षिप्त रूप माना है।

हिन्दी—नल अपने छत्र के नीचे घोड़े द्वारा अच्छी तरह जो चक्कर कटवाता था, उनको वायु आज भी बार-बार आँधी के बवंडरों को खड़ा करके क्या शिक्षा नहीं ले रही है ?

टिप्पणी—**चारु**-नारायण ने इस शब्द को 'भ्रमि' का विशेषण बनाकर सम्यक् (मनोज्ञाः) अर्थ किया है किन्तु विशेषण होनेपर 'चारूः या चार्वीः रूप बनना चाहिये था, अतः हमने क्रिया-विशेषण ही बनाया है। आजकल स्वभावतः वायु-द्वारा उठाये जा रहे बवंडरों पर शिक्षा लेनेकी कल्पना की गई है, अतः उत्प्रेक्षा है, वाचक शब्द के न होने से वह गम्य है, वाच्य नहीं। 'वितत्य' 'वात्या' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ।।७३।।

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात्क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।

प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवार्णसां[1] निधिम् ।।७४।।

---

१. मिवार्णसां

अन्वयः—ततः सः क्षोणिपतिः क्षणात् गत्वा धृतीच्छया प्रबाल-राग-च्छुरितम् घनच्छायम् विलास-काननम् हरिः सुषुप्सया प्रबाल-राग-च्छुरितम् घन-च्छायम् अम्भसां निधिम् इव विवेश।

टीका—**ततः**=तदनन्तरम् **स क्षोण्याः**=पृथ्व्याः **पतिः**=स्वामी (ष० तत्पु०) नल इत्यर्थः **क्षणात्**=क्षणे एव **गत्वा**=चलित्वा **धृतिः**=धैर्यम् तस्य **इच्छया**=अभिलाषेण विलासकानने फल-पुष्पादिकं दृष्ट्वा मम सन्तापो निवर्तिष्यते धैर्यञ्च भविष्यतीति विचारेणेत्यर्थः **प्रबालाः** नवपल्लवाः तेषां यो **रागः**=लालिमा (ष० तत्पु०) तेन **छुरितम्**=लिप्तम् (तृ० तत्पु०) **घना**=निविडा **छाया**=वृक्षकृतोऽनातपः (कर्मधा०) यस्मिन् तथाभूतम् (ब० व्री०) **विलासस्य काननम्**=इति (च० तत्पु०) **विलास-काननम्**=क्रीडोद्यानम् **हरिः**=विष्णुः **सुषुप्सया**=स्वप्तुमिच्छया **प्रबालाः**=विद्रुमाः ('मुक्ताऽथ विद्रुमः पुंसि प्रबालं पुंनपुंसकम्', 'प्रबालमङ्कुरेऽप्यस्त्री' इत्यमरः) तेषां रागेण छुरितम्, प्रबालाहि समुद्रे जायन्ते, **घनस्य**=मेघस्य **छाया**=कान्तिः (ष० तत्पु०) **इव छाया** (उपमान तत्पु०) यस्य तम् (ब० व्री०) जलस्य श्यामत्वात् मेघेनोपमा **अम्भसां**=जलानाम् निधिम् समुद्र मित्यर्थः इवेत्युपमायाम् **विवेश**=प्राविशत्, यथा विष्णुः समुद्रे प्रविशति तथा नलः विलासवने प्रविष्ट इति भावः ।।७४।।

व्याकरण—**छुरित**√छुर्+क्त कर्मणि । **सुषुप्सा** स्वप्तुमिच्छेति√स्वप्√सन्+अ+टाप् । **विवेश**√विश्+लिट् ।

हिन्दी—तदनन्तर राजा नल क्षणभर में जाकर धैर्य की चाह से नये कोपलों की लाली से लिये घनी छाया वाले विलासकानन में इस तरह प्रवेश कर गया जैसे विष्णु भगवान् सोने की चाह से मूँगों की लाली से लिये, घन (मेघ) की-सी छाया (कान्ति) वाले समुद्र में प्रवेश किया करते हैं ।। ७४ ।।

टिप्पणी—यहाँ राजा नल की हरि से और विलास-कानन की समुद्र से तुलना की गई है, अतः उपमालङ्कार है; विशेषणों के श्लिष्ट होने से वह श्लेष-गर्भित है। मल्लिनाथ ने 'विलास-काननम्' शब्द को भी श्लिष्ट मानकर उसको समुद्र का इस तरह विशेषण माना है—('बवयोरभेदात्) **विलासकानाम्** बिलेशयानां सर्पाणाम् **आननं** प्राणनम्' किन्तु हमारे विचार से उपमेय को श्लिष्ट बनाकर उपमान का भी विशेषण बनाने में कोई औचित्य नहीं दिखाई देता। 'क्षणा' 'क्षोणि' और 'च्छया', 'च्छाय' में छेकानुप्रास है ।।७४।।

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तस्मिन्नवतीर्णदृक्पथे ।
न्यवर्ति दृष्टिप्रकरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ।। ७५ ।।

अन्वयः—अनुव्रज···बन्धुभिः पुरौकसाम् दृष्टिप्रकरैः वनान्त-पर्यन्तम् सस्पृहम् उपेत्य क्रमेण तस्मिन् अवतीर्ण-दृक्-पथे (सति) न्यवर्ति ।

टीका—**अनु०अनुव्रजन्**=अनुगच्छन् यः **बन्धु-समाजः**=बान्धव-वर्गः (कर्मधा०) बन्धूनां समजः (ष० तत्पु०) तस्य **बन्धुभिः**=समानैः (ष० तत्पु०) **पुरौकसाम्**=पुरम् **ओकः**=निवासस्थानं येषां तेषाम् (ब० व्री०) नगरवासिनामित्यर्थः **दृष्टिः**=नयनं तस्य **प्रकरैः**=समूहैः

(ष० तत्पु०) वनस्य विलासकाननस्य अथ च जलस्य ('वने सलिल-कानने' इत्यमरः) **अन्तः**= प्रदेशः (ष० तत्पु०) **पर्यन्तः**=सीमा (कर्मधा०) यस्मिन् (ब० व्री०) कर्मणि यथा स्यात्तथा, **सस्पृहम् स्पृहया**=अभिलाषेण सह वर्तमानम् (ब० व्री०) यथा स्यात् तथा **उपेत्य**=गत्वा **तस्मिन्**=नृपे नले **अवतीर्णं**=अतिक्रान्त इत्यर्थः **दृष्टेः**=दर्शनस्य **पन्थाः**=मार्गः (ष० तत्पु०) येन तथ भूते (ब० व्री०) अर्थात् दृङ्मार्गागोचरे सति **न्यवर्ति**=निवृत्तम् । यथा जलप्रदेशसीमां प्राप्य प्रवसति बन्धौ दृष्टयतीते सति स्वजना निवर्तन्ते, तथैव लोक-लोचनान्यपि वनसीमां गते नले दृष्टयतीते सति निवृत्तानीति भावः ।। ७५ ।।

व्याकरण—**उपेत्य** उप+√इ+ल्यप् । **दृक्** पश्यतीति√दृश्+क्विप् कर्तरि । 'राजन्' शब्द की तरह 'पथिन्' शब्द भी समास में अकारान्त हो जाता है । **दृष्टिः** दृश्यतेऽनयेति√दृश्+क्तिन् करणे । **न्यवर्ति**=नि+√वृत् लुङ् भाववाच्य ।

हिन्दी—जिस प्रकार (प्रवासी के) पीछे-पीछे जा रहे बान्धव-गण वन-(जल)-प्रदेश की सीमा तक उत्सुकभाव के साथ जाकर क्रमशः (उसके) दृष्टि से ओझल हो जाने पर वापस लौट आते हैं, उसी प्रकार नगरवासी लोगों की आँखें (विलास) वन (कानन) के प्रदेश की सीमा तक चाव से जाकर उस (नल) के दृष्टि से ओझल हो जाने पर वापस मुड़ गईं ।। ७५ ।।

टिप्पणी—यहाँ लोगों की आँखों की तुलना प्रवास में जा रहे मित्र को छोड़ने जाने वाले बन्धु-गण से की गई है । 'पीछे पीछे जाना' और 'वनान्त-पर्यन्त' जाकर लौट आना दोनों में समान धर्म है । वन शब्द में श्लेष है । जलप्रदेश तक छोड़ने जाने की प्रथा का कालिदास ने भी उल्लेख किया है—'ओदकान्तात् स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्यः (शकु० अक ४)', शास्त्रों में भी लिखा हुआ है—'उद-कान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेत्' । इसलिए यहाँ श्लिष्टोपमा है । बन्धु शब्द सादृश्य बताने में 'सखा' शब्द की तरह लाक्षणिक है । 'बन्धु' 'बन्धु' में यमक और अन्यत्र अनुप्रास है ।

वनान्त-पर्यन्त—यहाँ 'अन्त' और 'पर्यन्त' शब्दों में पुनरुक्ति सी मालूम पड़ रही है किन्तु अन्त शब्द का अर्थ यहाँ 'प्रदेश' है । चाण्डू पण्डित ने 'वनान्तः वनैकदेशः' व्याख्या की है । भवभूति ने भी इसी अर्थ में 'यत्र रम्यो वनान्तः' (उत्त० २।२५) प्रयोग किया है ।

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखस्थाङ्गुलिना[१] जनाधिपः ।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत्काननकामनीयकम्[२] ।। ७६ ।।

अन्वयः—ततः सः जनाधिपः मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखस्थाङ्गुलिना वनपाल-पाणिना निवेद्य-मानम् कानन-कामनीयकम् व्यलोकयत् ।

टीका—**ततः**=अनन्तरम् **सः जनाधिपः** नरेन्द्रः **मञ्जुले**=रमणीये **प्रसूने** पुष्पे **फले**=च जातावेक-वचनम् पुष्प-फलेष्वित्यर्थः **सम्मुखस्था** अभिमुखी **अङ्गुलिः** (कर्मधा०) यस्य तथाभूतेन (ब० व्री०) **वनपालस्य** मालाकारस्य **पाणिना**=करेण (ष० तत्पु०) **निवेद्यमानम्**=ज्ञाप्यमानम् **काननस्य**=विलासोपवनस्य **कामनीयकम्**=रामणीयकम् सौन्दर्यमिति यावत् **व्यलोकयत्**=

१. सम्मुखीना २. रामणीयकम्

अपश्यत् । अङ्गुलिनिर्देशपूर्वकम् मालाकारो राजानं फल-पुष्पसौन्दर्यमदर्शयदिति भावः ।। ७६ ।।

व्याकरण—अधिपः अधिकं पाति रक्षतीति अधि√पा+कः (उपपद तत्पु०)· **सम्मुखस्था** सम्मुखे तिष्ठतीति सम्मुख+√स्था+कः। **वनपालः** पालयतीति√पाल्+अच् कर्तरि पालः वनस्य पाल इति । **निवेद्यमानम्** नि+√विद्+णिच्+शानच् (कर्मवाच्य) । **कामनीयकम्** कमनीयस्य भाव इति कमनीय+वुञ्, 'वु' को अक ।

हिन्दी—तदनन्तर उस राजा ने फूल और फल की ओर अंगुलि किये हाथ वाले माली द्वारा बताई जा रही कानन की सुन्दरता देखी ।। ७६ ।।

टिप्पणी—यथावस्तु प्रतिपादन होने से यहाँ जाति अथवा स्वभावोक्ति अलंकार है । शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ।।७६।।

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समादाय महर्षिवार्धकाद् वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥७७॥

अन्वयः—वयोऽ···पिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समादाय स्थितैः वने शाखिभिः महर्षिवार्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि ।

टीका—**वयो-वयसाम्**=पक्षिणाम् **अतिपातेन**=उपरि उड्डयनेन (ष० तत्पु०) **उद्गतः** उत्थितः उत्पन्न इत्यर्थः (तृ० तत्पु०) यो **वातः** वायुः (कर्मधा०) तेन **वेपिते** कम्पिते (तृ० तत्पु०) अथ च **वयसः** यौवनस्य **अतिपाते** अतिक्रमे **उद्गतो** यो **वातः** वायु-विकारः तेन वेपिते **पल्लवे** किसलये एव **करे** हस्ते अथ च **करे** एव पल्लवे पल्लवसदृशहस्ते इत्यर्थः **फलानि पुष्पाणि** कुसुमानि च **समादाय** गृहीत्वा **स्थितैः वने** कानने **शाखिभिः** वृक्षैः अथ च श्लेषवशात् तृतीयां पञ्चम्यां परिवर्त्य **शाखिनः** वेदानां माध्यन्दिनादिशाखा अनुसरताम् **महर्षीणाम्** महान्तश्च ते **ऋषयः** मुनयः (कर्मधा०) तेषाम् **वार्धकात्** वृद्ध-समूहात् **तस्य** नलस्य **आतिथ्यम्** अतिथि-सत्कारः पूजादिरित्यर्थः **अशिक्षि** शिक्षितम् (इवेत्युत्प्रेक्षायाम्) अयं भावः यथा वात-व्याधि-कम्पित-करे फल-पुष्पमादाय तत्तच्छाखाध्यायिनो महर्षयो राज्ञः सत्कारं कुर्वन्तिस्म तथैव वृक्षा अपि पवनप्रकम्पित पल्लव-गत-फल-पुष्पैः राज्ञः आतिथ्यम् अकुर्वन् । एतेन वने वृक्षाः फल-पुष्पभरिता आसन्, तत्र वृद्ध-महर्षयश्चापि तिष्ठन्ति स्मेति सूचितं भवति ।।७७।।

व्याकरण—अतिपातः पतनं पातः√पत्+घञ् भावे अतिशयितः पातः **अतिपातः** (प्रादि-तत्पु०) । **वेपित**√वेप्+क्त कर्मणि । **वार्धकम्** वृद्धानां समूह इति वृद्ध+वुञ् वु को अक । महर्षीणाम् वार्धकम् यह षष्ठी-तत्पुरुष यहाँ नहीं होना चाहिये था, क्योंकि वृद्ध शब्द के साथ तद्धित वृत्ति हुई है, इसलिये उसके एकदेश-भूत वृद्ध से 'महर्षि' का सम्बन्ध अनुपपन्न है अर्थात् महर्षयश्च ते वृद्धाश्च तेषां समूहः ऐसा नहीं बनता । अगतिक गति से यहाँ 'शिव-भागवत' की तरह ही समास मानना पड़ेगा । **शाखिनः** शाखा येषामस्तीति शाखा' इन् । यद्यपि मत्वर्थ इन् अदन्तों से ही होता है, तथापि (व्रीह्यादिभ्यश्च पा० ५।२।११६) 'वनमाली' आदि की तरह यहाँ आकारान्त से भी इन् हुआ है । **आतिथ्यम्** अतिथये इदम् इति अतिथि+ञ्यः । **अशिक्षि**√शिक्ष्+लुङ् कर्मवाच्य ।

हिन्दी—वयों (पक्षियों) के ऊपर उड़ जाने के कारण उत्पन्न वात (पवन) से हिले हुये 'पल्लव-रूप हाथ में फल और पुष्पों को रखे वन स्थित वृक्षों ने वय (तारुण्य) के चले जाने के

कारण उत्पन्न वात (वायुरोग) से काँपे हाथ-रूप पल्लव में फल और पुष्प रखे वन-स्थित, (वेदकी तरह) शाखाओं वाले वृद्ध महर्षि-गण से मानों उस (नल) के आतिथ्यकी शिक्षा ली ।। ७७ ।।

टिप्पणी—यहाँ पल्लव पर करत्वारोप होने से रूपक है, वय वात और शाखि शब्दों में श्लेष है; इनसे उत्प्रेक्षा की भूमि बन रही है, जो वाचक शब्द न होने के कारण गम्य है । रूपक-श्लेषोत्थापित उत्प्रेक्षा से यह उपमा-ध्वनि निकल रही है कि जिस तरह वृद्ध ऋषिगण राजा नल का फल-पुष्पों से अतिथि-सत्कार कर रहे थे, वैसे ही वृक्षों ने भी किया । शब्दालंकारों में वृत्त्यनुप्रास है ।७७॥

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम् ।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—सः तत्र कौतुकी (सन्) विनिद्र···वात् मृगाङ्क···र्जितम्, आशासु चरिष्णु दुर्यशः दधानम् केतकम् ददर्श ।

टीका—सः = नलः तत्र = तस्मिन् कानने कौतुकी = कुतूहली सन् विनिद्र०—विगता निद्रा येषां तथाभूतानि (प्रादि ब० व्री०) विनिद्राणि लक्षणया विकसितानि यानि पत्राणि कुसुम-दलानि (कर्मधा०) तेषां या आलिः = पङ्क्तिः (ष० तत्पु०) तस्यां गताः स्थिताः (स० तत्पु०) ये अलयः भ्रमराः (कर्मधा०) तेषां कैतवात् छलेन मृगा०—मृगः···अङ्कः चिह्नं यस्मिन् तथाभूतः (ब०व्री०) मृगाङ्कः चन्द्रः एव चूडामणिः शेखरं यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) महादेव इत्यर्थः तेन वर्जनम् परित्यागः (तृ० तत्पु०) तेन अर्जितम् लब्धमित्यर्थः (तृ० तत्पु०) आशासु दिशासु (दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः । इत्यमरः) चरिष्णु सञ्चरणशीलं प्रसृतमित्यर्थः दुः दुष्टं यशः दुर्यशः (प्रादि तत्पु०) अपयशः दधानम् धारयन् केतकम् केतक्याः पुष्पम् ददर्श अपश्यत् केतकंदलमध्यस्थितभ्रमरावलि-रूपेण अपकीर्तिं धत्ते स्म योग्यपुरुष-बहिष्कारोऽपकीर्तिमेव करोतीति भावः ।। ७८ ।।

व्याकरण—कौतुकी कौतुकम् अस्यास्तीति कौतुक + इन् । कैतवम् कितवस्य भाव इति कितव + अण् । चरिष्णु चरितुं शीलमस्येति √चर + इष्णुच् कर्तरि । केतकम् केतक्याः विकार इति केतकी + अत्, उसका 'पुष्प-मूलेषु बहुलम्' से लोप और स्त्री प्रत्यय ङीप् का भी 'लुक् तद्धित०' से लोप ।

हिन्दी—उस (नल) ने वहाँ कौतुक-पूर्ण हो खिली हुई पँखुड़ियों की पंक्ति में बैठे भ्रमरों के बहाने महादेव द्वारा त्याग दिए जाने के कारण अर्जित, दिशाओं में फैले अपयशको धारण करता हुआ केवड़े का फूल देखा ।। ७८ ।।

टिप्पणी—केवड़े का फूल महादेव के ऊपर नहीं चढ़ता है । इसका कारण शिवपुराणानुसार यह है कि एकबार राम की अनुपस्थिति में सीता ने पितरों का स्वयं श्राद्ध किया । दशरथ आदि पितर प्रकट हुए और केतक आदि समीपवर्ती पदार्थों से कहा कि तुम हमारी उपस्थिति के साक्षी हो । जब राम और लक्ष्मण वापस आये, तो उन्हें पितरों के आने पर विश्वास नहीं हुआ । इतने में सीता ने साक्षियों से कहा कि वे इस बात को प्रमाणित कर दें कि उन्होंने श्राद्ध में आये पितरों को

देखा है, किन्तु वे इनकार कर बैठे। इस पर सीता ने उन सभी साक्षियों को शाप दे दिया और केतक को फटकार कर कहा कि 'जा, तू हमेशा के लिए महादेव की पूजा से बहिष्कृत किया जाता है'। पद्मपुराण में भाद्रपद मास में केतकी-पुष्प द्वारा विष्णु की पूजा का भी निषेध है:—

"न माद्रे केतकी-पुष्पैः पूजितव्यो जनार्दनः।
यतो भाद्रपदे मासे केतकी स्यात् सुरा-समा॥"

इस श्लोक में प्रस्तुत 'अलियों' का प्रतिषेध करके उन पर अप्रस्तुत अपयशत्व की स्थापना करने से अपह्नुति अलंकार है। प्रस्तुताप्रस्तुत का समान धर्म यहाँ काला रंग है। कवि-जगत् में यश जहाँ श्वेत होता है वहाँ अपयश काला। 'वर्जनार्जितम्' और 'कौतुकी' 'केतकम्' में छेकानुप्रास, 'पत्त्रालि' 'गतालि' में आलि-आलिका तुक मिल जाने से पदान्त-गत अन्त्यानुप्रास तथा अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। ७८॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरःस्मरेण यत्।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद् विगीयसे मन्मथदेहदाहिना॥ ७९॥

अन्वयः—यत् स्मरेण वियोगभाजाम् हृदि कण्टकैः कटुः (त्वम्) कर्णिशरः निधीयसे, ततः दुराकर्षतया तदन्तकृत् मन्मथ-देह-दाहिना विगीयसे।

टीका—**यत्**=यस्मात् कारणात् **स्मरेण**=कामेन **वियोगम्**=विरहम् भजन्तीति **वियोगभाजः**=तेषाम् (उपपद तत्पु०) **हृदि**=हृदये **कण्टकैः** **कटुः** क्रूरः (त्वम्) **कर्णं**=शूलाग्रम्, शल्यमिति यावत् अस्यास्तीति (कर्ण+इन्) कर्णी कर्णयुक्तं **शरः**=बाणः (कर्मधा०) **निधीयसे**=निक्षिप्यसे, **ततः**=तस्मादेव कारणात् दुःखेन आकर्ष्टुं योग्य इति **दुराकर्षः**=तस्य भावः तत्ता तया उद्धर्तुमशक्यतया **तेषाम्**=वियोगभाजाम् **अन्तं**=मृत्युं (ष० तत्पु०) करोतीति तथोक्तः (उपपद तत्पु०) **मन्मथः**=कामदेवः तस्य **देहं**=शरीरम् (ष० तत्पु०) दहतीति दाही: तेन (उपपद तत्पु०) महादेवेन **विगीयसे**=विनिन्द्यसे, वियोगिनां मारणाय त्वं कामदेवस्य सहयोग्यसि धिक् त्वामिति भावः। अस्य श्लोकस्य 'इति तेन क्रुधाऽक्रुश्यत' इति तृतीयश्लोकेनान्वयः॥ ७३॥

व्याकरण—**स्मरः** स्मरणं स्मर इति √स्मृ+अप् भावे, स्मर अथवा काम एक मनोभाव ही तो है जो प्रिय और प्रेयसी का स्मृति-रूप है। वियोगभाजाम् वियोग+√भज्+क्विप् कर्तरि ष०। **निधीयसे** नि+√धा+लट् मध्य० कर्मवाच्य। **दुराकर्षः** दुर्+आ√कृष्+खल्। **तदन्तकृत्** तदन्त+√कृ+क्विप् कर्तरि। **मन्मथः** मनः मथ्नातीति निपातनात् साधु। **विगीयसे** वि+√गै+लट् मध्य० कर्म वाच्य।

हिन्दी—क्योंकि कामदेव द्वारा विरहियों के हृदय में काँटों से तीक्ष्ण बना हुआ तू काँटे के बाण के रूप में रखा जाता है इसी कारण निकालने में कठिन होने से उन (विरहियों) का प्राण लेवा तू कामदेवका देह भस्म कर देने वाले (महादेव) की निन्दा का पात्र बना रहता है॥ ७९॥

टिप्पणी—यहाँ कँटीले केतकी-पुष्प पर कामदेव के काँटेदार (barbed) बाण का आरोप किया गया है। इस बाण के अग्रभाग में कर्ण (काँटे) अथवा उल्टे मुँह के शल्य लगे रहते हैं

जिससे बाण को खींचकर बाहर निकाल देना बड़ा कठिन होता है। रूपकालंकार के साथ साथ यहाँ यह कल्पना भी की जा रही है कि मानों इसीलिये केतक महादेव द्वारा निन्दित किया जाता है कि खबरदार, यदि मेरी पूजा में आया तू। इस तरह उत्प्रेक्षा है, वाचक शब्द न होने से वह गम्य है। शब्दालंकारों में 'देह' 'दाह' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥७९॥

त्वदग्रसूच्या सचिवेन कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।
स्फुटं स पत्त्रैः करपत्रमूर्तिभिर् वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते[1] ॥ ८० ॥

अन्वय—मनोभवः त्वदग्र-सूच्या सचिवेन कामिनोः दुर्यशः—पटौ सीव्यति, सः स्फुटम् करपत्र-मूर्तिभिः पत्त्रैः वियोगि—हृद्-दारुणि दारुणायते।

टीका—**मनोभवः** = कामः **तव अग्रम्** = अग्रभागः (ष० तत्पु०) तत् एव **सूची** = सीवन-साधन-विशेषः 'सुई' इति भाषायां प्रसिद्धः तया (कर्मधा०) **सचिवेन** = सहायेन सहकारिणेत्यर्थः ('मन्त्री सहायः सचिवः' इत्यमरः) **कामिनौ** = कामी च कामिनी चेति कामिनौ तयोः (एक शेष द्वन्द्वः) दुष्टं यशः दुर्यशः (प्रादि तत्पु०) ते एव **पटौ** वसने (कर्मधा०) **सीव्यति** = योजय-तीत्यर्थः अर्थात् कामी कामिनी च त्वामवलोक्य कामोद्रेके मर्यादामुल्लङ्घ्य यथेच्छं यत्किमपि कुर्वाणौ लोक-निन्दा-पात्रत्वं प्राप्नुतः, **सः** कामदेवः **स्फुटम्** स्पष्टं यथा स्यात्तथा **करपत्रम्** क्रकचम् (क्रकचो-ऽस्त्री करपत्रं मारा' इत्यमरः) तद्वत् **मूर्तिः** स्वरूपं (उपमाने तत्पु०) येषां तथाभूतैः (ब० व्री०) **पत्त्रैः** दलैः वियोगिनश्च वियोगिन्यश्चेति वियोगिनः (एकशेष द्वन्द्व) तेषाम् **हृद्** हृदयम् (ष० तत्पु०) एव **दारु** = काष्ठम् (काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः) (कर्मधा०) तस्मिन् **दारुणायते** = दारुण-वस्तुवत् आचरति, भीषणीभवतीत्यर्थं अर्थात् क्रकचाकाराणि त्वत्पत्त्राणि कामिनां हृदयानि विदीर्णानि कुर्वन्ति ॥ ८० ॥

व्याकरण—**सूची** सूचयति = विध्यतीति √सूच् + इन् गौरादि-पाठद् ङीप्। **मनोभवः** मनसि भवः = उत्पत्तिर्यस्येति। **दारुणायते** दारुण शब्द यहाँ दारुण पदार्थ परक लेना चाहिये क्योंकि आचारार्थक क्यङ् उपमान से ही होता है और उपमान हमेशा विशेष्य रहता है, विशेषण नहीं। पता नहीं नारायण ने किस तरह 'भीषणवत् आचरति' अर्थ कर दिया है। यही कारण है कि मल्लि-नाथ ने 'दारणायते' पाठ दिया है और अर्थ किया है—'दारयतीति दारणः विदारको भेता, स इवा-चरतीति' अर्थात् आरे-जैसे तुम्हारे पत्ते आरे का काम करते हैं। यह अर्थ ठीक संगत हो जाता है।

हिन्दी—कामदेव तेरे नोक रूपी सुई को सहायक बनाकर कामी और कामिनियों की बदनामी के कपड़े सिला करता है, वह (कामदेव) सचमुच तेरे आरों के से आकार के पत्तों द्वारा वियोगी और वियोगिनियों के हृदय-रूपी लकड़ी पर दारुण वस्तु का-सा काम करता रहता है ॥ ८० ॥

टिप्पणी—यहाँ केतकी की नोकपर सुई तथा दुर्यश पर पट का आरोप होने से रूपक है जो दोनों में कार्यकारण भाव होने से परम्परित है। दूसरे श्लोकार्ध में हृदय पर दारु के आरोप में रूपक

---

१ दारणायते, दारुणायते।

और 'करपत्रमूर्ति' एवं 'दारुणायते' में उपमा है। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध रूपकों की परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि है। 'पत्रै' 'पत्र' और 'दारुणि' 'दारुण' में छेकानुप्रास है। किन्तु 'द रु' और 'दारु' में यमक भी है जिसका छेक के साथ एकवाचकानु-प्रवेश संकर हो रहा है ॥ ८० ॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन् ।

प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाक्रुश्यत तेन केतकम् ॥ ८१ ॥

अन्वयः—धनुर्मधु-स्विन्नकरः अपि प्रसूनधन्वा तव परागैः (आत्मानम्) धूलिहस्तयन् भीमजा-परम् माम् शरसात्करोति' इति तेन क्रुधा केतकम् आक्रुश्यत।

टीका—धनु०-धनुष=पुष्परूप-चापस्य यत् **मधु**=रसः मकरन्द इति यावत् (ष० तत्पु०) तेन **स्विन्नौ**=आर्द्रौ (तृ० तत्पु०) **करौ**=हस्तौ (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्रो०) **अपि प्रसूनं**=पुष्पं **धनुः** यस्य स (ब० व्रो०) कामदेवः **तव परागैः**=धूलिभिः (आत्मानम्) धूलिः हस्ते यस्य सः धूलिहस्तः (ब० व्रो०) धूलिहस्तं करोतीति धूलिहस्तयन् अर्थात् हस्तं धूलियुक्तं कुर्वन् अन्यथा स्विन्न-करतः धनुर्भ्रंशप्रसङ्गात्, **भीमजा**=दमयन्ती **परं**=प्रधानम् (कर्मधा०) प्राप्ति-लक्ष्यभूतेति यावत् यस्य तथाभूतम् (ब० व्रो०) **माम्**=नलम् **शरसात्करोति**=शराधीनी-करोति, मयि शरान् प्रहरतीत्यर्थः। **इति**=एवं प्रकारेण **तेन**=नलेन **क्रुधा**=क्रोधेन **केतकम्**=केतकीपुष्पम् **आक्रुश्यत** आनिन्द्यत ॥ ८१ ॥

व्याकरण—स्विन्न√स्विद्+क्त त को न। **धूलिहस्तयन्** यहाँ (ब० व्रो०) धूलिहस्त से तत्करोति के अर्थ में णिच् करके नामधातु बनाकर शतृ प्रत्यय है। नारायण ने धूलिहस्तयन्निति धूलियुक्तं हस्तं करोतीति ण्यन्ताच्छतृ माना है किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि इस विग्रह में हस्त पर धूलियुक्तत्वका विधान हो रहा है, इसलिये धूलियुक्तत्व का हस्त के साथ समास हो जाने पर उसकी विधेयता नहीं रहेगी और विधेयाविमर्श दोष हो जायगा। **भीमजा** भीमात् जायते इति भीम+√जन्+ड+टाप् (उपपद तत्पु०) **शरसात्करोति** शराणाम् अधीन करोतीति शर+सात्+√कृ+लट् 'तदधीनवचने' पा० ५।४।५४ से अधीन करने में सात् प्रत्यय हो जाता है। **क्रुधा** √क्रुध्+क्विप् भावे तृतीया। **आक्रुश्यत** आ+√क्रुश्+लङ् कर्मवाच्य।

हिन्दी—"रे केवड़े! धनुष के मकरन्द से गीला-हाथ होता हुआ भी कामदेव तेरे पराग से अपना हाथ धूलि-युक्त करके भीमजा (दमयन्ती) पर आसक्त हुये मुझे बाणों के अधीन कर देता है"—इस तरह उस (नल) ने केवड़े की भर्त्सना की ॥ ८१ ॥

टिप्पणी—धूलिहस्तयन्—गीले हाथों से कोई भी वस्तु फिसल जाती है। फूलों के धनुष से मकरन्द चूने के कारण काम के हाथ गीले हो गये थे, सुखाने हेतु मिट्टी की आवश्यकता पड़ती है, जिसे केतकी अपने पराग से पूरा कर देता है। उक्त तीन श्लोकों में केतक का वर्णन करके कवि आगे १०१ तक प्रायः इन फल-फूलों का वर्णन कर रहा है, जो कामोद्दीपक होकर विरहियों पर बड़ा बुरा प्रभाव डालते हैं। 'परं' परा (गैः) तथा 'क्रु(धा)' 'क्रु(श्य)' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। 'प्रसूनधन्वा' के यहाँ साभिप्राय विशेष्य होने के कारण परिकरांकुर अलंकार भी है ॥ ८१ ॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥ ८२ ॥

अन्वयः—सः दोहद-धूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भ-सुभ्रू-स्तन-तुङ्गताप्तये अलम् तपस्यतः धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटानिव फलानि अपश्यत् ।

टीका—सः नलः **दोहदम्** = फल-कृष्यादि-समृद्धिकारक-साधनविशेषः ('पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया' इति शब्दार्णवः) च यो धूपः (कर्मधा०) सोऽस्यास्तीति तथोक्त **दाडिमे द्रुमे** = दाडिमफलवृक्षे **विदर्भ** = विदर्भाणाम् विदर्भदेशस्य **सुभ्रू** = सुः शोभने भ्रुवौ यस्याः सा (ब० व्री०) सुन्दरी दमयन्तीत्यर्थः तस्याः यौ **स्तनौ** कुचौ तयोः या **तुङ्गता** = उच्चता तस्या **अवाप्तये** = प्राप्तये (सर्वत्र ष० तत्पु०) **अलम्** = अत्यधिकं यथा स्यात्तथा **तपस्यतः** = तपस्यां कुर्वाणान् **धूमस्य धयान्** = पातॄन् (अतएव) **अधः** = नीचैः मुखं येषान्तान् (ब० व्री०) नीचैः कृतमुखान् **घटान्** = कलशान् इवेत्युत्प्रेक्षायाम् **फलानि** = दाडिमानि अपश्यत् । उच्चफलप्राप्तिहेतोः यथा कोऽपि साधको मुखं नीचैः कृत्वा धूमपान-रूपां तपस्यां चरति, तथैव अधस्तात् दोहदरूपेण धूप-धूमं गृह्णानानि दाडिम फलानि दमयन्तीकुचोच्चताप्राप्तिहेतोस्तपस्यन्तः कलशा इव प्रतीयन्ते स्मेति भावः ॥ ८२ ॥

व्याकरण—**दोहदः दोहम्** = आकर्षं ददातीति दोह + √दा + क । **तपस्यतः** तपश्चरतीति तपस् + क्यङ् 'तपसः' परस्मैपदं च' इस वार्तिक से परस्मैपद (नाम धातु) । **धयान्** धयतीति √धे + शः कर्तरि ।

हिन्दी—उस (नल) ने धूप का दोहद लिये अनार के पेड़ पर फलों को ऐसा देखा मानो वे विदर्भ देश की सुन्दरी (दमयन्ती) के कुचों की ऊँचाई प्राप्त करने हेतु अत्यधिक तपस्या में लगे, धूम-पान कर रहे, नीचे मुँह किये कलश हों ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—**दोहद**-आधुनिक भाषा में दोहद फर्टलाइजर (Fertilizer) को कहते हैं। विविध फल-फूलों के विविध दोहद हुआ करते हैं । अनार का दोहद देखिये—'मत्स्याज्यत्रिफलाले-पैर्मांसैराजाविकोद्भवैः । लेपिता धूपिता सूते फलं तालीव दाडिमी ॥ मछली की खाद अंगूर लीची आदि फलों में काम आती है । कन्धारी अनार को बकरी के खून की खाद भी दी जाती है । कुछ फूलों के विचित्र ही प्रकार के दोहद देखिये—"**पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः शोकं जहाति बकुलो मुखसीधुसिक्तः । आलोकनात् कुरवकः कुरुते विकासम् आलिंगितस्तिलक उत्कलिको विभाति ॥** अर्थात् अशोक सुन्दर नवयुवती के पाद-प्रहार से, मौलसरी उसके मुख की मदिरा की कुल्लीसे, कुरवक उसके मधुर दृष्टिपात से और तिलक उसके आलिंगन से फूल उठते हैं ।

श्लोक में अनार के फलों पर तप में लगे घटों की कल्पना करने से उत्प्रेक्षा अलंकार है, जिसका वाचक 'इव' शब्द है । वृत्यनुप्रास शब्दालंकार है ॥ ८२ ॥

वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृतेः स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः—असौ वियोगिनीम् प्रियस्मृतेः स्पष्टम् उदीतकण्टकाम् फलस्तन...शुगाम् दाडिमीम् ऐक्षत ॥ ८३ ॥

टीका—**असौ**=नलः **वयः**=पक्षिणः ('नगौको-वाजि-विकिर-**वि**–**विष्किर**-पतत्रयः' इत्यमरः) तैः **योगः**=संयोगः संसर्गोऽस्या अस्तीति वियोगिनी अर्थात् शुकादिपक्ष्यधिष्ठिता ताम् (नायिकापक्षे) **वियोगः** प्रियतमस्य विरहोऽस्या अस्तीति विरहिणीत्यर्थः ताम् **प्रियम्**=दोहदम् धूपधूमादिकम् तस्य **स्मृतेः** (लक्षणया) प्राप्ते (ष० तत्पु०) **स्पष्टम्** स्फुटम् यथा स्यात्तथा **उदीताः**=प्रादुर्भूताः **कण्टकाः**=कण्टकशब्दोऽत्र फलपुष्पाणामपि उपलक्षकः (कर्मधा०) यस्यां तथाभूताम् (ब० व्री०), (नायिका-पक्षे) **प्रियस्य**=प्रियतमस्य **स्मृतेः**=स्मरणात् स्पष्टम् **उदीताः**=उद्गताः **कण्टकाः** रोमाञ्चा इत्यर्थः यस्यास्ताम् ('**वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे** क्षुद्रशत्रौ च **कण्टकः**' इति वैजयन्ती) **फल०**-**फलानि**=दाडिमानि **स्तना**=कुचा इव (उपमित-तत्पु०) तेषां **स्थाने**=प्रदेशे (ष० तत्पु०) **विदीर्णम्**=स्फुटितम् (स० तत्पु०) (दाडिमानि परिपक्वावस्थायां यत्र-तत्र स्थानेषु विदीर्यन्ते) **रागि** **रागो** लालिमा सोऽस्यामस्तीति रक्तवर्णमित्यर्थः (दाडिम-बीजानि रक्तानि भवन्ति) यत् **हृद्** आभ्यन्तर-भागः (कर्मधा०) तस्मिन् **विशन्ति**=प्रवेशं कुर्वन्ति (स० तत्पु०) यानि **शुकास्यानि** (कर्मधा०) **शुकानाम्**=कीराणाम् आस्यानि (ष० तत्पु०) **स्मरस्य** कामस्य **किंशुकाशुगाः**=पलाश-रूपा बाणा (ष० तत्पु०) इव (उपमित तत्पु०) यस्यां तथाभूताम् (ब० व्री०) अर्थात् दाडिमानां स्फुटित भागेषु प्रविष्टानि शुकानां मुखानि कामदेवस्य पलाशपुष्परूपबाण-सदृशानि आसन्, शुका हि दाडिमफलबीजानि भक्षयन्तीति स्वाभाविकम्, (अथ नायिका-पक्षे) **फले**=दाडिमे इव यौ **स्तनौ**=कुचौ (उपमानतत्पु०) तयोः स्थाने **विदीर्णं**=प्रियतम-विरह-कारणात् स्फुटितं **रागि**=अनुरागपूर्णं **हृद्**=हृदयम् तस्मिन् विशन्तः शुकास्यानीव स्मरस्य किंशुकरूपा-शुगाः (उपमान तत्पु०) यस्याम् ताम्, पलाश-पुष्पं हि शुकास्यवत् रक्तवर्णम् अग्रभागे च कुञ्चितं भवतीति कारणात् सादृश्यम् । विरहित-नायिका-हृदये काम-बाणा प्रविशन्ति स्मेति भावः ॥८२॥

व्याकरण—**उदित** उत्+√इ+क्तः कर्तरि । **विदीर्ण** वि+√दृ+क्त त को न, न को ण । **विशत्**√ विश्+शतृ । **स्तनः** स्तनतीति√स्तन्+अच् कर्तरि । **आस्यम्** अस्यते क्षिप्यतेऽन्नादिकम-त्रेति√अस्+अण् कर्मणि । **ऐक्षत**√ईक्ष+लङ् ।

हिन्दी—उस (नल) ने दाड़िमी देखी, जिसपर पक्षी बैठे थे, दोहद प्राप्त करने से काँटे आदि का स्पष्ट विकास हुआ पड़ा था एवं जिसके स्तन जैसे फलों के स्थान में फटे पड़े लाल लाल भीतरी भाग में कामदेव के पलाशपुष्प-रूप बाणों जैसे तोतों के मुख प्रवेश कर रहे थे ॥ ८ ॥
व्यज्यमान अप्रस्तुत अर्थः—

उस (नल) ने विरहिणी नायिका देखी, जिसे प्रियतम की स्मृति से रोमाञ्च हो उठा था और जिसके (दाड़िम के) फल-जैसे स्तनों के (मध्यवर्ती) स्थान में (वियोग के कारण) विदीर्ण हुए पड़े अनुराग-भरे हृदय में तोतों के मुख के समान कामदेव के पलाश-पुष्प-रूप बाण प्रवेश कर रहे थे ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने अलंकृत शैली का अच्छा चमत्कार भर रखा है। मल्लिनाथ आदि टीकाकारों ने यहाँ 'रूपकोत्प्रेक्षा संकरः' बताया है, जो श्लेष-गर्भित है। दाडिमी पर वियोगिनी का आरोप करके तदङ्गभूत कण्टकों पर रोमाञ्च का फलों पर स्तनों का रोम पर अनुराग का और तोतों के मुखों पर कामदेव के फूल-रूप बाणों का तादात्म्य बताकर रूपकालंकार का समस्त-वस्तुविषयक रूप चित्रित किया है जो श्लेष और उत्प्रेक्षा को साथ लिए हुए हैं किन्तु हमारे विचार से यहाँ समासोक्ति है। कवि का अभिप्राय 'वियोगिनी' पद से विरहिणी-मात्र बताना नहीं, प्रत्युत 'पक्षिगण' से 'भरी' बताना भी यहाँ अभीष्ट है। इस तरह यहाँ तीनों विशेषणों एवं दाड़िमी गत लिंग के साम्य से प्रस्तुत दाड़िमी पर अप्रस्तुत विरहिणी का व्यवहार-समारोप हो रहा है। विग्रह-भेद से श्लेष के कारण विशेषण प्रस्तुत दाड़िमी और अप्रस्तुत नायिका पर समान रूप से लग रहे हैं। समासोक्ति उसे कहते हैं जहाँ विशेषण-साम्य के कारण प्रस्तुत से अप्रस्तुत गम्य हो, जो यहाँ स्पष्ट ही है। इसीलिए हमने हिंदी अनुवाद में दोनों ही अर्थ बता दिए हैं। शब्दालङ्कार यहाँ अनुप्रास है॥८३॥

स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसां स्फुटं[1] पलाशेऽध्वजुषां पलाशनात्।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम्॥ ८४॥

अन्वय—सः स्मरार्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्-खण्डिनि क्रशीयसाम् अध्व-जुषाम् पलाशनात् स्फुट पलाशे अन्वितम् वृन्तम् कालखण्डजम् खण्डम् आलोकत।

टीका—सः नलः **स्मरस्य** = कामस्य यः **अर्धचन्द्रः** = अर्धचन्द्राकारः इत्यर्थः (ष० तत्पु०) **इषुः** = बाणः (कर्मधा०) **तन्निभे** तत्सदृशे वियोगिनश्च वियोगिन्यश्चेति **वियोगिनः** (एकशेषद्वन्द्वः) तेषां यत् **हृद्** = हृदयम् (ष० तत्पु०) तत् **खण्डयति** विदारयतीति तथोक्ते (उपपद तत्पु०) विरहि-हृदय-विदारके इत्यर्थः अतिशयेन कृशा इति **क्रशीयांसः** तेषाम् **अध्वानं** मार्गं **जुषते** = सेवन्ते इत्येवं-शीलानाम् (उपपदतत्पु०) प्रवासिनामित्यर्थः **पलम्** मांसं तस्य **अशनात्** = भक्षणात् (ष० तत्पु०) ('स्याच्चामिषे पलम्' इत्यमरः) **स्फुटम्** = प्रत्यक्षम् **पलाशे** = पलम् अश्नातीत्यन्वर्थके पलाशे किंशुक पुष्पे **अन्वितम्** = सम्बद्धम् लग्नमित्यर्थः **वृन्तम्** = प्रसव-बन्धनम् ('वृन्तं प्रसवबन्धनम्' इत्यमरः) **कालखण्डम्** = यकृत् दक्षिण-पार्श्वगतं **श्यामवर्णं** मांसमित्यर्थः तस्माज्जातम् इति तज्जं तदीयमिति यावत् (उपपद तत्पु०) **खण्डम्** = शकलम् **आलोकत** = अपश्यत्। राज्ञा पलाशपुष्पं तद्वृन्तञ्च दृष्टम्। पलाशं हि कामदेवस्यार्धचन्द्राकारशरसमानमस्ति, तत्कृष्ण-वर्णवृन्तम् तत्र लग्नं अध्वग-यकृत्-खण्डमिव प्रतीयते स्मेति भावः॥ ८४॥

व्याकरण—**इषुनिभे**—निभ शब्द का समास अस्वपद-विग्रही नित्य समास कहलाता है, यह सदृशार्थ-वाचक है ('स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभ-सङ्काश-नीकाश-प्रतिकाशोपमादयः', इत्यमरः)। **क्रशीयसाम्** अतिशयेन कृश इति कृश+ईयसुन्, 'कृ' के 'ऋ' को र=क्रशीयान्। ०जुषा—√जुष्+क्विप् कर्तरि प०। ०**खण्डजम्** ०खण्ड—√जन्—डः।

1. स्फुटे।

हिन्दी—उस (नल) ने कामदेव के अर्धचन्द्राकार बाण के समान, विरहियों के हृदयों को विदीर्ण कर देने वाले (तथा) कृश हुए पड़े पथिकों का पल (मांस) खा जाने के कारण (पलाश) कहलाये जाने वाले पलाश-पुष्प पर लगे हुए (काले) डंठल को कलेजे के टुकड़े के रूप में देखा ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—पलाश-पुष्प कामोत्तेजक होने के कारण विरहियों को असह्य हुआ करता है। दिखाई पड़ते ही वह उनका मांस खा जाता है, इसीलिए तो उसका नाम पलाश (आमिषभोजी) पड़ा है। हृदय का मांस तो खाकर वह पचा बैठा, लेकिन हृदय-मांस से जुड़ा कलेजे का टुकड़ा अभी बाहर ही रहा हुआ है, मांस के साथ उदर में वह उसे सात्म्य नहीं कर पाया। वही कलेजे का टुकड़ा पलाश का काला डंठल है। कवि की यह बड़ी अनूठी कल्पना है। यहाँ वृन्त पर कालदण्ड (कलेजे) के खण्ड का आरोप होने से रूपक है, 'पलाशन' से मानो पलाश कहलाता है, यह उत्प्रेक्षा है, जो वाचक पद न होने से गम्य है, 'खण्डि' 'खण्ड' और 'पलाशे' 'पलाश' में छेकानुप्रास है, किन्तु 'पला' 'पला' में यमक भी होने से छेकानुप्रास का यमक से एकवाचकानुप्रवेश संकर है ॥ ८४ ॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥ ८५ ॥

अन्वयः—गन्धवहेन चुम्बिता, मकरन्द-शीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दर-कम्पिनी नवा लता दरादराभ्याम् (उपलक्षितेन) नृपेण दृशा पपे।

टीका—**गन्धवहेन**=वायुना **चुम्बिता**=स्पृष्टा **मकरन्दस्य**=पुष्परसस्य **शीकरैः**=कणैः (ष० तत्पु०) **करम्बितम्**=मिलितं युक्तमित्यर्थः (तृ० तत्पु०) **अङ्गम्**=शरीरं (कर्मधा०) यस्याः तथाभूता (ब० व्री०) **स्मितेन**=विकसनेन शोभन्ते इति ०शोभीनि (उपपद तत्पु०) **कुड्मलानि**=मुकुलानि (कर्मधा०) यस्याः तथाभूता (ब० व्री०) **दरम्**=ईषत् यथा स्यात्तथा कम्पते इति दरकम्पिनी (उपपद तत्पु०) **नवा**=नूतनपल्लवा **लता**=वल्ली दरः-भयं च **आदरः**=संभ्रमश्चेति दरादरौ (द्वन्द्व) ताभ्याम् उपलक्षितेन (उपलक्षणे तृ०) युक्तेनेत्यर्थः पुष्पितलतावलोकनेन वियोगिनां भयम् भवति उत्तेजकत्वात्, पशु-पक्षिणां संभोगदर्शनं वियोगिनां कौतुकभावहतीति आदरः, **दृशा**=नयनेन पीता सम्यक् दृष्टेत्यर्थः, अत्र गन्धवह-लतादि-वृत्तं नायक-नायिकागतमपि भवति, नवा नवोढा कापि स्त्र्यपि भवति साऽपि सौरभ-युक्तेन वायु तुल्येन केनापि नायकेन चुम्बिता, शरीरस्थृत-पुष्परसकणैः स्विन्ना रोमाञ्चिता। स्मितेन कुड्मलसदृश-दन्त-शोभिता, सात्त्विकभावरूपेण वेपमाना केनाप्यन्येन इयं परस्त्रीति भयेन परमसुन्दरीति आदरेण च दृश्यते ॥ ८५ ॥

व्याकरण—**गन्धवहः** वहतीति√वह्+अच् कर्तरि, गन्धस्य वहः (ष० तत्पु०)। **स्मितशोभि दरकम्पिनी** उभयत्र शीलार्थे णिन्। **पपे**√पा+लिट् कर्मवाच्य।

हिन्दी—वायु द्वारा चूमी, पुष्परस के कणों से शरीर में गीली, खिली हुई कलियों से शोभित हो रही, कुछ हिलती हुई नयी लता राजा नल ने भय और आदर के साथ देखी ॥ ८५ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में लता के सभी विशेषण ऐसे हैं, जो किसी नवोढा नायिका पर भी संगत हो जाते हैं। वह भी चूमी जाने पर पसीज जाती है, मुस्कराहट में कली-सी दंतड़ियाँ दिखला देती है, और सात्विक भाव में कांप-सी जाती है। इस तरह यहां विशेषण साम्य से प्रस्तुत नव लता पर अप्रस्तुत नवोढा का व्यवहार-समारोप होने से समासोक्ति अलंकार है। 'दरा' 'दरा' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। हो सकता है वायु द्वारा झकझोरी जाती हुई 'जुही की कली' के चेतनीकृत शारीरिक चित्र हेतु प्रेरणा प्रसिद्ध छायावादी कवि निराला को यहीं से मिली हो॥ ८५॥

विचिन्वतीः पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात्।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावलीः स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव॥ ८६॥

अन्वयः—सः पान्थ-पतङ्ग-हिंसनैः अलि-कज्जल-च्छलात् अपुण्य-कर्माणि विचिन्वतीः चम्पक-कोरकावलीः शम्बरारेः बलि-दीपिका एव व्यलोकयत्।

टीका—**सः**=नलः **पान्थाः**=पथिकाः इव **पतङ्गाः**=शलभाः (कर्मधा०) तेषां **हिंसनैः**=मारणैः (ष० तत्पु०) **अलयः**=भ्रमराः एव **कज्जलम्**=अञ्जनम् (कर्मधा०) तस्य **छलात्**=मिषात् न पुण्यम् अपुण्यम् पापम् (नञ् तत्पु०) तस्य **कर्माणि**=कार्याणि (ष० तत्पु०) **विचिन्वतीः**=अर्जयन्तीरित्यर्थः **चम्पकानाम्** पीतवर्ण-पुष्पविशेषाणाम् यानि **कोरकाणि**=कुड्मलानि (ष० तत्पु०) तेषाम् **आवलीः** पङ्क्तीः (ष० तत्पु०) **शम्बरस्य**=राक्षसविशेषस्य **अरेः** शत्रोः (ष० तत्पु०) मारकस्येत्यर्थः कामदेवस्येति यावत् **बलिः**=पूजा तस्यै **दीपिकाः**=दीपान् (च० तत्पु०) इव **व्यलोकयत्**=अपश्यत्। पीतवर्णचम्पक-कलिकाः कामदेव-पूजायां दीपका इव प्रतीयन्ते स्मेति भावः॥ ८६॥

व्याकरण—**पान्थः** पन्थानं गच्छति नित्यमिति पथिन्+ण पान्थादेशश्च ('पन्थो ण नित्यम्' पा० ५।१।७५)। **पतङ्गः** पतन् (उत्प्लवन्) गच्छतीति पतत्+√गम्+ड। **हिंसनम्** √हिंस्+ल्युट् भावे। **विचिन्वतीः** वि+√चि+शतृ+ङीप् द्वि० व०। **दीपिका**—दीप एवेति दीप+कन्+टाप् इत्वम्।

हिन्दी—उस (नल) ने पथिक-रूपी शलभों को मार देने से भ्रमर-रूपी काजल के बहाने पाप-कर्मों को बटोरती हुई चम्पा की कलियों का समूह ऐसा देखा जैसा कि वे कामदेव की पूजा हेतु दीये (रख) हों॥ ८६॥

टिप्पणी—चम्पाकी कलिकायें कामोद्दीपक होने से विरहियों को मार ही देती है जैसे दीपकों की लौ पतंगों को मारा करती है। दीपकों की लौ से जो काला कज्जल बनता है, वह भौंरों के रूप में कलियों में जमा हो रहा पाप है इस तरह यहाँ पान्थों पर पतङ्गत्वारोप में रूपक, अलियों पर कज्जलत्वारोप में भी रूपक, कज्जलका अपह्नव करके उस पर पाप की स्थापना में अपह्नुति और कलियों पर बलि-दीपिकाओं की कल्पना में उत्प्रेक्षा होकर इन चारों अलंकारों का अंगांगिभाव संकर बना हुआ है। 'ण्य' 'ण्य' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार है। वैसे कविजगत में यह ख्याति चली आ रही है कि चम्पा के फूलों पर भ्रमर नहीं बैठा करते। इस सबन्ध में देखिए:—'रूप-सौरभ-

समृद्धिसमेतं चम्पकं प्रति यतुर्न मिलिन्दाः । कामिनस्तु जगृहुस्तदशेषा ग्राहकादि गुणिनां कति न स्युः' ॥ किन्तु कवि ने इस ख्याति के विरुद्ध उन पर भ्रमर बिठाये हैं, इसलिए यहाँ कवि ख्याति-विरुद्धता दोष है ॥ ८६ ॥

अमन्यतासौ कुसुमेषु गर्भगं[1] परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

अन्वयः—असौ कुसुमेषु गर्भगम् वियोगिनाम् अन्धङ्करणम् परागम् पुरा स्मरेण पुरारये मुक्तेषु शरेषु सङ्गतम् तदङ्गभस्म इव अमन्यत ।

टीका—**असौ** = नलः **कुसुमेषु** पुष्पेषु **गर्भे** अभ्यन्तरे (स० तत्पु०) गच्छति इति गर्भगम् (उपपद तत्पु०) गर्भस्थमित्यर्थः वियोगिनश्च वियोगिन्यश्चेति वियोगिनः (एकशेष द्वन्द्व) तेषाम् अन्धं करोतीति तथोक्तम् (उपपद तत्पु०) अन्धत्वापादकम्, नयनपतितेन भस्मना अन्धत्वं जायते एव **परागम्** = पौष्पं रजः **पुरा** = प्राचीन-काले **स्मरेण** = मदनेन **पुरारये** = महादेवाय महादेवं लक्ष्यीकृत्येत्यर्थः **मुक्तेषु** प्रहृतेषु **शरेषु** = बाणेषु **सङ्गतम्** = लग्नम् **तस्य** = महादेवस्य **अङ्गम्** = शरीरम् (ष० तत्पु०) तस्मिन् **भस्म** = विभूतिः (स० तत्पु०) **इव** **अमन्यत** = अतर्कयत् अर्थात् मदनबाणगत-परागः महादेव-शरीर-सम्पर्केण संक्रमितं भस्मेव प्रतीयते स्म ॥ ८७ ॥

व्याकरण—**गर्भगम्** गर्भ + √गम् + ड । **अन्धङ्करणम्** अनन्धम् अन्धं कुर्वन्त्यनेनेति अन्ध + √कृ + ख्युन् ('च्वि' के अर्थ में) युको अन और मुम् का आगम ।

हिन्दी—उस (नल) ने फूलों के भीतर स्थित एवं विरहियों को अन्धा बना देने वाले पराग को प्राचीन काल में मदन द्वारा महादेव पर फेंके गये बाणों में लगा हुआ उन (महादेव) के शरीर का भस्म जैसा समझा ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में फूलों के पराग पर कवि-कल्पना यह है कि वह मानों भस्म हो जो महादेव के शरीर पर लगो रहती है और मदन द्वारा उनपर बाण फेंके जाने पर उनके शरीर के सम्पर्क से बाणों में संक्रामित हुई पड़ी हो । इस तरह यहाँ उत्प्रेक्षा है, जिसको अमन्यत शब्द वाच्य बना रहा है । √मन् धातु के उत्प्रेक्षा-वाचक होने के विषय में देखिये साहित्यदर्पण—'मन्ये, शङ्के ध्रुवम् प्राय उत्प्रेक्षा-वाचका इमे' । 'पुरा' 'पुरा' में यमक है ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणे[2] वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणीं ददर्श दूनस्स्थलपद्मिनीं नलः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—दूनः नलः उदञ्चत्करुणे वने पिकात् भृङ्ग-हुङ्कृतैः वियोगिनाम् दशाम् शृण्वति (सति) अनास्थया सून-कर-प्रसारिणीम् स्थल-पद्मिनीम् ददर्श ।

टीका—**दूनः** = संतप्तः **नलः** **उदञ्चन्तः** = विकसन्तः **करुणाः** = करुणाख्यवृक्षविशेषाः (कर्मधा०) यस्मिन् तथाभूते (ब० व्री०) अथ च **उदञ्चन्ती** = उद्भवन्ती **करुणा** दया यस्मिन्

1. कुसुमेषुगर्भजम् । २. उदञ्चित्करुणे ।

वने=कानने **पिकात्**=कोकिलात् **भृङ्गानाम्** भ्रमराणाम् **हुङ्कृतैः**,=हुंकार-ध्वनिभिः वियोगिनश्च वियोगिन्यश्चेति वियोगिनः (एकशेष द्वन्द्वः) तेषां **दशाम्**=दुःखभरितावस्थाम् शृण्वति आकर्णयति सति **अनास्थया**=न आस्था रुचिः इच्छतिपावत् तया (नञ् तत्पु०) औदासीन्येन विरक्त्येत्यर्थः **सूनानि पुष्पाणि पद्मानीत्यर्थः** एव **कराः**=हस्ताः (कर्मधा०) तान् प्रसारयतीति तथोक्ताम् (उपपद तत्पु०) **स्थलस्य पद्मिनी**=कमलिनी (ष० तत्पु०) ताम् कमलं जलजं स्थलजमपि च भवति अत्र स्थलज-पद्मिनी प्रतिपादिता, **ददर्श दृष्टवान्**, अत्र वियोगिनां करुणदशायाः वक्ता पिकः भ्रमर-झकारध्वनि-रूपेण हुँकारं ददानः श्रोता वनान्तः, पार्श्वस्थिता स्थलपद्मिनी च कष्टां दशां श्रोतुमनिच्छया कर-रूपेण पद्मानि प्रसार्य अग्रे कथनात् पिकं वारयति, नलश्च तत्सर्वं पश्यतीति सरलार्थः ॥ ८८ ॥

व्याकरण—**हुङ्कृतैः** 'हुम्' इति शब्दानुकृतिः तस्याः करणम् इति हुम्+√कृ+क्त भावे। **उदञ्चत्** उत्+√अञ्च्+शतृ । **आस्था** आ+√स्था+अङ् भावे श्रद्धेत्यर्थः । **दूनः**√दू+क्त,'त' को 'न' ।

हिन्दी—(काम-) संतप्त नल विकसित हो रहे करुण के वृक्षों के रूप में करुणा भरे वन के पिक (के मुँह) से भ्रमरों की ध्वनि के रूप में हुंकारी भरकर वियोगी और वियोगिनियों की दशा सुनते रहने पर अनिच्छा से पुष्प-रूप कर पसारे स्थल-कमलिनी को देख बैठा ॥ ८८ ॥

टिप्पणी—कानन में कोयलें कूक रही हैं, भौंरे हुंकार रहे हैं; करुण वृक्ष के फूल विकसित हो रहे हैं और कमल खिल रहे हैं। ये सारे प्रकृति-तत्त्व विरहियों को बुरी तरह सालते हैं। कवि ने यहाँ इन सभी का हिन्दी के छायावाद की तरह चेतनीकरण कर रखा है। कोयल कूकने के रूप में वन को विरही-जनों की व्यथा-पूर्ण दशा सुना रही है। वन भी सुनते समय द्रवित हुआ भ्रमरों के हुंकार के रूप में 'हाँ हूँ' कर रहा है। पास में खड़ी पद्मिनी भी विरहियों की जब बुरी हालत सुनती है तो द्रवित हो उठती है और आगे न सुनने की इच्छा से कर के रूप में प्रसून फैला कर कोयल को रोक देती है कि 'बस करो बहिन ! मैं आगे नहीं सुन सकती।' इस तरह यहाँ प्रस्तुत जड़ प्रकृति-तत्वों पर अप्रस्तुत चेतन स्त्री पुरुषों का व्यवहार-समारोप होने से समासोक्ति है, 'सूनानि एव कराः' में रूपक है और 'कर फैलाकर रोक-जैसे रही है' में उत्प्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा गम्य है, वाच्य नहीं। '०करुणे' में 'करुण वृक्ष' और 'करुणा' अर्थों का श्लेष है। शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है। चाण्डू पंडित ने जम्बीर को करुण वृक्ष कहा है ॥ ८८ ॥

रसालसालः समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥ ८९ ॥

अन्वयः—अमुना स्फुरद्…कृतिः, रसाल-सालः समीर-लोलैः मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जना-भयम् दित्सन् इव समदृश्यत ।

टीका—**अमुना**=नलेन **स्फुरद०**-**स्फुरन्तः**=भ्रमन्तः ये **द्विरेफाः**=भ्रमराः (कर्मधा०) तेषाम् **आरवः**=झङ्कार-ध्वनिः (ष० तत्पु०) एव रोषहुङ्कृतिः (कर्मधा०) **रोषस्य**=क्रोधस्य

हुङ्कृतिः 'हुँ' इति शब्दः (ष० तत्पु०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) **रसालस्य**=आम्रस्य **सालः** वृक्षः ('अनोकहः कुटः शालः (सालः) पलाशी द्रु द्रुमागमाः' इत्यमरः) **समीरेण**=पवनेन **लोलैः**=चञ्चलैः **मुकुलैः**=कुड्मलैः (ष० तत्पु०) **वियोगिने**=वियोगी च वियोगिनी च तस्मै (एकशेषद्वन्द्वः) **जनाय**=लोकाय **तर्जनायाः**=भर्त्सनायाः **भयम्**=भीतिम् **दित्सन्**=दातुमिच्छन् **इव समदृश्यत**=दृष्टिपथमानीतः वियोगिषु क्रुद्ध आम्रवृक्षः भ्रमरध्वनि-रूपेण हुंकुर्वन्, वायुवेपित-कुड्मल-रूपाङ्गुल्या बिभीषयतीवेतिभावः ॥ ८६ ॥

व्याकरण—रसाल सालः—रसाल शब्द से यहाँ आम्र वृक्ष न लेकर आम्र फल लेना चाहिये क्योंकि वृक्ष के लिये साल 'शब्द' पृथक् दे ही रखा है। रसाल आम्रवृक्ष को भी कहते हैं, ऐसी स्थिति में वृक्ष शब्द की पुनरुक्ति हो जाती है, इसलिये सामान्य वृक्ष-वाचक साल का विशेष वृक्ष-वाचक रसाल के साथ 'सामान्य-विशेषयोरभेदान्वयः' इस नियम से 'आम्रवृक्षाभिन्नवृक्ष' अर्थ कर लेना चाहिये। **हुङ्कृति** 'हुम्'√कृ+क्तिन् भावे। **तर्जना**√तर्ज्+युच्+टाप्। भीः √भी+क्विप् भावे। **दित्सन्**√दा+सन्+शतृ। **समदृश्यत** सम्+√दृश्+लङ् कर्मवाच्य।

हिन्दी—उस (नल) ने मंडराते हुये भ्रमरों की ध्वनि के रूप में क्रोध-भरा हुँकार छोड़ते हुये (तथा) हवा से हिल रहे मुकुलों (के रूप में अंगुलियों) से वियोगी-जनों को तर्जना का भय देते जैसे आम के वृक्ष को देखा ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—यहाँ भ्रमर-झंकार पर रोष हुँकृतित्व के आरोप से रूपक है, किन्तु साथ ही कवि को मुकुलों पर अंगुलित्वारोप भी कर देना चाहिये था, जिसे विवक्षित होने पर भी वह कर न सका इसलिये रूपक का समस्त-वस्तु-विषयक रूप न बनकर एक-देश विवर्ती रूप ही रह गया है। मुकुल रूपी अंगुलियों से मानों तर्जना देना चाह रहा है—इस कल्पना में उत्प्रेक्षा है। 'रसा' 'रसा' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥ ८९ ॥

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च तापमृच्छ च।
इतीव पान्थाञ्शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥ ९० ॥

अन्वय—'रे (पान्थ) त्वम् दिने-दिने अधिकं तनुः एधि, पुनः पुनश्च मूर्च्छ, तापं च ऋच्छ' इति पान्थान् शपतः इव लोहितेक्षणान् पिकान् द्विजान् सः सखेदम् ऐक्षिष्ट।

टीका—रे=अरे इत्यनादर-पूर्वक सम्बोधने अव्ययम्, **दिने दिने** प्रतिदिनम् अधिकं यथा स्यात्तथा **तनुः**=कृशः **एधि** भव, **पुन-पुनश्च** बारं बारं च **मूर्च्छ**=मूर्च्छां प्राप्नुहि, **तापम्**=ज्वरमित्यर्थः च **ऋच्छ**=प्राप्नुहि' **इति**=एवम् इव **पान्थान्**=पथिकान् विरहिण इत्यर्थः **शपतः**=शापविषयीकुर्वतः पान्थेभ्यः शापं ददत इति यावत् **लोहिते**=रक्तवर्णे **ईक्षणे**=नयने (कर्मधा०) येषां तान् (ब० व्री०) **पिकान्**=कोकिलान् **द्विजान्**=पक्षिणः अथ च ब्राह्मणान् **सः** नलः सखेदम् खेदेन सहितं यथा स्यात्तथा **ऐक्षिष्ट**=दृष्टवान् ॥ ९० ॥

व्याकरण—दिने-दिने वीप्सा में द्वित्व। **एधि**√अस्+लोट् मध्य० एक०। **ऋच्छ**√ऋ को ऋच्छ आदेश करके या सीधे√ऋच्छ धातु का लोट् मध्य० एक० बना हुआ है। **पान्थः** नित्यं

पन्थानं गच्छति इस अर्थ में पथिन् शब्द से ण और पन्थादेश। **द्विजान्** द्विर्जायते इति द्वि+√जन्+ड। पक्षी पेट और अण्डा, ब्राह्मण भी पेट और संस्कार—इन दोनों से होने के कारण द्विज कहलाते हैं, देखिये धर्मशा० 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। **ईक्षणम्** ईक्ष्यते—दृश्यतेऽनेनेति √ईक्ष्+ल्युट् करणे। **ऐक्षिष्ट**—√ईक्ष्+लुङ् कर्तरि।

हिन्दी—"अरे (बटोही!) तू दिन-प्रतिदिन अधिक कृश होता जा, फिर-फिर मूर्च्छा खाता जा और ताप रखता जा"—इस प्रकार बटोहियों को मानो शाप देते हुये लाल-लाल आंखों वाले कोयल-पक्षियों को नल ने खेद के साथ देखा॥ ९०॥

टिप्पणी—यहाँ कोयलों को शाप देते हुये-जैसे बनाकर उत्प्रेक्षा है, जो इव-शब्द वाच्य है। कोयलों की आंखें स्वभावतः लाल हुआ करती हैं किन्तु यहाँ क्रोध के कारण लाल होने की कल्पना की गई। द्विज शब्द श्लिष्ट होने के कारण ब्राह्मणों का वाचक भी है। क्रोध में आकर आंखें लाल किये भी शाप दे देते हैं। इस तरह यहाँ—जैसे क्रोध में लाल-लाल आंखे किये ब्राह्मण शाप दिया करते हैं, उसी तरह कोयल-पक्षी भी पथिकों को शाप दे रहे थे यह उपमा-ध्वनि निकल रही है। 'रेधि' 'रेऽधि' में यमक है। 'दिने-दिने' 'पुनः पुनः 'में वीप्सार्थक द्विरुक्ति को कितने ही आलंकारिक वीप्सालंकार मान लेते हैं॥ ९९॥

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया धिया[1]।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमातङ्कितवानशङ्कत[2]॥ ९१॥

अन्वय—अलि-स्रजा उच्च-शेखरम् चाम्पेयम् कुड्मलम् अधीरया धिया निपीय आतङ्कितवान् (सन्) सः वियोगिनां विपदे उदीतम् धूम-केतुम् अशङ्कत।

टीका—**अलीनाम्**=भ्रमराणाम् **स्रक्**=माला पंक्तिरित्यर्थः तया (ष० तत्पु०) **उच्चम्**=उन्नतम् **शेखरम्**=अग्रम् (कर्मधा०) यस्य तत् (ब० व्री०) **चाम्पेयम्**=चाम्पेयस्य=चम्पकस्य विकारं ('चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः) **कुड्मलम्**=कोरकम् चम्पकपुष्पकलिकामिति यावत् ('कुड्मलो मुकुले पुंसि' इत्यमरः **अधीरया**=धैर्यरहितया **धिया**=बुद्ध्या **निपीय**=सादरमवलोक्येत्यर्थः **आतङ्कितवान्**=चकितो भीतश्च सन् **सः**=नलः वियोगिनश्च वियोगिन्यश्चेति **वियोगिनः**=(एकशेषद्वन्द्वः) **तेषाम्** **विपदे**=विनाशाय **उदीतम्**=उदितम् प्रकटितमित्यर्थः **धूमकेतुम्**=उल्काम् उत्पात-सूचकं पुच्छलतारकामित्यर्थः **अशङ्कत**=तर्कितवान्॥ ९१॥

व्याकरण—**चाम्पेयम्** चाम्पेयस्य विकार इति चाम्पेय+यत् जिसका 'पुष्प-मूलेषु बहुलम्' से लोप होकर चाम्पेय ही रह जाता है किन्तु अर्थ-'चाम्पेय का विकासभूत' हो जाता है। **निपीय** इसके लिए इस सर्ग का पहला श्लोक देखिए। **आतङ्कितवान्** आ+√तङ्क+क्तवत्। **उदीतम्** उत्+ई+क्त कर्तरि। **धूमकेतु** धूमः केतुः=चिह्नं यस्य सः।

हिन्दी—भ्रमरों की पंक्ति से ऊपर उठे अग्रभाग वाले चम्पक-कुड्मल को अधीर मन से देखकर

---

१. दृशा २. माशाङ्कितवान्

आतंकित हुए उस (नल) को यह शंका हुई कि वियोगी और वियोगिनियों के विनाश हेतु उदय हुआ यह पुच्छल तारा तो नहीं ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—दीप-ज्वाला-सदृश पीली चम्पक कली के ऊपर भ्रमरपंक्ति बैठ जाने से वह ऊपर से काली हुई पड़ी थी। इस पर कवि ने उसपर धूमकेतु की कल्पना कर दी। धूमकेतु पुच्छल तारे को कहते हैं, जो धुआँ सा छोड़ता दिखाई देता है। यहाँ भ्रमर-समूह धुँआ का स्थानापन्न है। जब कभी पुच्छल तारा दिखाई दे तो महाविनाशकी शंका हो जाती है वन की चम्पक-कली भी विरहियों हेतु बड़ा खतरा बनी रहती है। यहाँ उत्प्रेक्षा है और उसका वाचक√शङ्क धातु है, देखिये—'मन्ये, शङ्के ध्रुवं प्राय उत्प्रेक्षा-वाचका इमे') शब्दालंकार 'पीय' 'पेय' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। चम्पक-कलियों पर भ्रमर-पंक्ति बिठाकर कवि फिर कविख्याति-विरुद्धता दोष ला गया है। हो सकता है कि उसे चम्पक-भ्रमर विषयक कवि ख्याति स्वीकार न हो ॥ ९१ ॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभिः पतत्प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम्।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—सः गलत्परागम् भ्रमि-भङ्गिभिः पतत्प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् मार···कणम् शाणम् इव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

टीका—स नलः गलन् = पतन् = परागः रजः (कर्मधा०) यस्मात् तथाभूतम् (ब० व्री०) भ्रमिः = भ्रमणम् तस्याः भङ्गिभिः = रचनाविशेषैः प्रकारैरिति यावत् पतन्ती = वृक्षात् आगत्य उपरि भ्रमन्तीत्यर्थः च प्रसक्ता = लग्ना च (कर्मधा०) भृङ्गावलिः भ्रमर-पंक्तिः (कर्मधा०) यस्मिन् तथा भूतम् (ब० व्री०) भृङ्गावलिः भृङ्गाणाम् आवलिः (ष० तत्पु०) नागकेसरम् = पुष्पविशेषम् मार०- मारः कामः तस्य नाराचाः = बाणाः तेषां निघर्षणात् = तीक्ष्णीकरणादित्यर्थः (ष० तत्पु०) स्खलन्तः = च्यवन्तः (पं० तत्पु०) च ज्वलन्तः = देदीप्यमानाश्च (कर्मधा०) कणाः = स्फुलिङ्गाः (कर्मधा०) यस्मात् तथाभूतम् (ब० व्री०) शाणम् = निकषोपलम् ('शाणस्तु निकषः कषः' इत्यमरः) इव व्यलोकयत् अपश्यत् ॥ ९२ ॥

व्याकरण—गलत्√गल् + शतृ । भ्रमिः√भ्रम् + इ भावे । प्रसक्त प्र + √सञ्ज् + क्त कर्तरि । निघर्षण नि + √घृष् + ल्युट् भावे । ज्वलन्√ज्वल् + शतृ ।

हिन्दी—उस (नल) ने नागकेसर-पुष्प को जिससे पराग झड़ रहा था और जिस पर मँडराने के (नाना) प्रकारों से भ्रमर-पंक्ति टूट पड़ रही थी तथा बैठी हुई थी, ऐसा देखा मानों वह शाण हो, जिससे (तेज करने हेतु) कामदेव के बाणों के रगड़े जाने के कारण जलते अग्नि-कण निकल रहे ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—नागकेसर एक काफी बड़ा गोल-गोल फूल होता है जिसे हिन्दी में नाहोर कहते हैं। इसकी पंखुड़ियाँ श्वेत और केसर चमकीले पीले रङ्ग के होते हैं नल ने उस पर तरह-तरह से मण्डराती और बैठी भ्रमर पंक्ति देख ली। बस फिर क्या था, उस पर गोल-गोल शाण की कल्पना कर बैठा। काली भ्रमर-पंक्ति शाण पर तेज किये जा रहे कामदेव के बाण और झड़ते हुये पीले-

चमकीले पराग-कण शाण से निकल रहे अग्नि-स्फुलिंग बन गये। इस तरह यहाँ उत्प्रेक्षा है, जो इव शब्द द्वारा वाच्य है। शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ॥९२॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणभ्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥ ९३ ॥

अन्वयः—सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः (च) शिलीमुखालीः अवलोक्य स्मरः स्व-चाप-दुर्निर्गत-मार्गण-भ्रमात् लज्जितः ॥ ९२ ॥

टीका—सु+सुष्ठु गन्धो यस्य तत् (प्रादि ब० व्रो०) **तस्य**=नलस्य **अङ्गम्**=शरीरम् (ष० तत्पु०) **उद्दिश्य**=लक्ष्यीकृत्य **गुणम्**=गन्धम् अथ च मौर्वीम् स्पृशन्तीति तथोक्तात् (उपपद तत्पु०) **कुसुमात्**=(जातावेकवचनम्) पुष्पेभ्यः अथ च पुष्प-रूपाच्चापात् **पातुकाः**=पतन्तीः **स्वनन्तीः**=शब्दायमानाः **शिलीमुखानाम्** भ्रमराणाम् अथ च बाणानाम् ('अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः) **आलीः**=पंक्तीः (ष० तत्पु०) **अवलोक्य**=दृष्ट्वा **स्मरः**=कामः **स्वः**=स्वकीयः **चापः**=धनुः (कर्मधा०) तस्मात् **दुर्निर्गताः**=न सम्यग् गताः ये **मार्गणाः**=बाणाः (पं० तत्पु०) तेषां **भ्रमात्**=भ्रान्तेः **लज्जितः**=लज्जांगत (इव) अभवदिति शेषः, बाणो हि धनुषा न सम्यक् मुक्तः शब्दायमानश्च लक्ष्यं यदि न प्राप्नोति, तर्हि धनुर्धारिणो लज्जा स्वाभाविकीति भावः ॥ ९३ ॥

व्याकरण—**सुगन्धि** गन्धान्त बहुव्रीहि में समासान्त 'इ' प्रत्यय हो जाता है। **पातुकाः** पतितुं-शीलमेषामिति √पत्+उकञ् (ताच्छील्ये)। **गुणस्पृशः** √स्पृश्+क्विप् कर्तरि। **स्वनन्तीः** √स्वन्+शतृ+ङीप् द्वि० ब०।

हिन्दी—उस (नल) के अच्छी सुगन्धि-युक्त शरीर को लक्ष्य बनाकर गुण (गन्ध) वाले कुसुम से हटकर जा रही एवं शब्द कर रही शिलीमुखों (भ्रमरों) की पंक्तियों को देखकर कामदेव इस भ्रान्ति से लज्जित जैसे हो उठा कि गुण (प्रत्यञ्चा) वाले कुसुम-रूप चाप से गलत तरीके से छूटी एवं सनसना रही यह मेरे शिलीमुखों (बाणों) की पंक्तियाँ तो नहीं क्या ॥९३॥

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि का गुण, कुसुम और शिलीमुख शब्दों में श्लेष रखा हुआ है अर्थात् गुण गन्ध और धनुष की डोरी को, कुसुम फूल और फूल रूप धनुष को तथा शिलीमुख भ्रमर और बाणों को भी बता देता है। झंकारती हुई भ्रमर-पंक्ति में काम को अपनी गलत छोड़ी हुई बाण-पंक्ति का भ्रम हो उठा। गलत छोड़ा हुआ बाण शब्द करता हुआ लक्ष्य पर नहीं पहुँचता बीच में ही फिस हो जाता है। इस तरह यहाँ भ्रमरों पर बाणों की भ्रान्ति होने से भ्रान्तिमान् अलंकार है। भ्रान्ति के कारण कामदेव के लज्जित होने की कल्पना की जाने से गम्य उत्प्रेक्षा है, जिसका श्लेष और भ्रान्तिमान् से अङ्गाङ्गि-भाव संकर हो जाता है। किन्तु श्लेषमुखेन ने शिलीमुख से बाणों तथा कुसुम से धनुष का पूर्व प्रतिपादन हो जाने पर भी कवि ने बाद को मार्गण और चाप का फिर उल्लेख करके यहाँ पुनरुक्ति दोष के लिए स्थान दे दिया है ॥९३॥

मरुल्ललत्[1]पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चलच्चन्दनसारसौरभम् ।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

अन्वयः—सः मरुल्ललत्पल्लव-कण्टकैः क्षतम् समुच्चरच्चन्दन-सार-सौरभम् वारनारी कुच-सञ्चितोपमम् पचेलिमम् मालूर-फलम् ददर्श ।

टीका—**सः** = नलः **मरुत्०-मरुता** = वायुना **ललन्तः** = चलन्तः कम्पमाना इति यावत् (तृ० तत्पु०) ये **पल्लवाः** = किसलयाः (कर्मधा०) तेषां **कण्टकैः**—तीक्ष्णाग्रैः अवयवैः (ष० तत्पु०) **क्षतम्** = आहतम् अथ च **मरुता** = (लक्षणया) मरुता इव वेगवता कामेन **ललन्तः** = विलसन्तः ये **पल्लवाः** = विटा भुजङ्गा इति यावत् तेषां **कण्टकैः** = कण्टकसदृशैः नखैः क्षतम्, **समुच्च०-समुच्चरत्**=उद्गच्छत् अथवा प्रसरत् चन्दनवत् (उपमान तत्पु०) **सारं** = श्रेष्ठम् **सौरभम्** = **परिमलः** = (कर्मधा ०) यस्मात् अथ च चन्दनस्य सारं (ष० तत्पु०) सौरभं यस्मात् तथाभूतम् (ब० व्री०) **वारनारी** = वेश्या तस्याः **कुचाभ्याम्** = स्तनाभ्याम् (ष० तत्पु०) **सञ्चिता** = अर्जिता (तृ० तत्पु०) **उपमा** = सादृश्यम् (कर्मधा०) येन तथाभूतम् (ब० व्री०) पचेलिमम् पक्वम् **मालूर-फलम्** = बिल्वफलम् ('बिल्वे शाण्डिल्य शैलूषौ मालूर-श्रीफलावपि' इत्यमरः) **ददर्श** = अवालोकयत् ॥ ९४ ॥

व्याकरण—**ललत्** √लल्+शतृ । **क्षत**√क्षण्+क्त । **सौरभम्** सुरभेः भाव इति सुरभि+अण् । **पचेलिमम्**√पच्+केलिमर् ('कर्मकर्तरि केलिमर उपसंख्यानम्') ।

हिन्दी—उस (नल) ने मरुत (काम-विकार) के कारण विलास करते हुए पल्लवों (कामुकों) के कण्टकों (नखों) द्वारा क्षति-ग्रस्त हुए, (तथा) फैल रही चन्दन की अच्छी सुगन्धि वाले गणिका के कुचों का सादृश्य लिये मरुत (वायु) से हिल रहे पल्लवों (पत्तों) के कंटकों (काँटों) से क्षति-ग्रस्त (तथा) चन्दन की-सी अच्छी सुगन्धि वाले पके हुए बिल्व-फल को देखा ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—यहाँ पके हुए गोल-गोल बेल की गणिका के कुचों से तुलना की गई है । विशेषण श्लिष्ट होने से दोनों में बराबर लग जाते हैं । लेकिन 'मरुत्' शब्द को कामुकों की तरफ कोई भी टीकाकार नहीं लगा सका है । हमारे विचार से 'कंटक' का जब सादृश्य-मूलक लाक्षणिक अर्थ 'नख' किया जा रहा है तो 'मरुत्' का भी लाक्षणिक अर्थ 'काम' क्यों न लिया जाय । काम भी तो एक हवा है जो मनुष्य को विचलित कर देती है । और हवा की तरह ही वेग वाला काम भी है । इसलिए हमने भी यही लाक्षणिक अर्थ लिया है । कुचों पर चन्दन लेप करने की प्रथा बड़ी पुरानी है । बेल में चन्दन की-सी गन्ध आती ही है । इसलिए यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा है । चन्दनवार-सार-सौरभम् में लुप्तोपमा है । 'सार' 'सौर' में छेक, अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास तथा प्रत्येक पाद के अन्त में 'अम्' 'अम्' की तुक मिलने से अन्त्यानुप्रास भी है ॥९४॥

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम् ।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भयान्धया[2] स पाटलायाः स्तबकं प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

१. ल्लसत् । २. भियान्धया ।

अन्वयः—सः युव··· गह्वरम् पाटलायाः स्तबकम् भयान्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य प्रकम्पितः।

टीका—**सः**=नलः **युवा**=तरुणश्च **युवती**=तरुणी चेति युवानौ (एकशेष द्वन्द्वः) तयोः **द्वयी**=युगलम् तस्याः **चित्तयोःनिमज्जनम्**=बुडनम् (उभयत्र ष० तत्पु०) तस्मिन् **उचितानि**=(स० तत्पु०) यानि **प्रसूनानि**=पुष्पाणि (कर्मधा०) तैः **शून्येतरम्**=अशून्यम् पूर्णमिति यावत् (तृ० तत्पु०) शून्यात् इतरत् इति शून्येतरत् (पं० तत्पु०) **गर्भं गह्वरम्**=मध्यबिलम् (कर्मधा०) गर्भस्य गह्वरम् इति (ष० तत्पु०) यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) **पाटलायाः**=पाटल्याः ('पाटलिः पाटला मोघा' इत्यमरः) **स्तबकम्**=गुच्छम् (ष० तत्पु०) **भयेन**—भीत्या **अन्धा**=मूढा भ्रान्ता इति यावत् (तृ० तत्पु०) तया **धिया**=बुद्धया **स्मरस्य**=कामस्य **इषुधिः**=तूणीरः (ष० तत्पु०) ('तूणोपासङ्ग- तूणीर निषङ्गा ०इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः) अस्मरेषुधिं स्मरेषुधिं कृत्वेति स्मरेषुधीकृत्य भ्रान्त्या कामदेवस्य तूणीर एव इति मत्वेत्यर्थः **प्रकम्पितः**=कम्पितवान् ॥ ९५ ॥

व्याकरण—**द्वयी** द्वौ अवयवौ अस्येति द्वि+तयप्, तयप् को विकल्प से अयच्+ङीप। **स्मरेषुधीकृत्य** स्मरेषुधि+च्वि+ल्यप्।

हिन्दी—वह (नल) युवा-युवतियों के युगल के मनों को डुबा देने में सक्षम फूलों से भरे हुए भीतरी भाग वाले पाटल के गुच्छे को भय से भ्रान्त हुई बुद्धि द्वारा कामदेव का तरकश समझ कर काँप उठा ॥ ९५ ॥

टिप्पणी—**निमज्जनोचितः** मल्लिनाथ ने नि+√मस्ज् धातु को णयन्त (निमज्जयति) बनाकर तब ल्युट् करके 'डुबो देने में सक्षम' अर्थ किया है जबकि अन्य टीकाकार बिना णिच् के ही ल्युट् करके चित्तों के 'डूब जाने योग्य' अर्थ कर रहे हैं। भाव यह है कि पाटला के सुन्दर भरपूर गुच्छ को देखकर युवा-युगल का चित्त उसमें गढ़ जाता है और वह काम-विह्वल हो उठता है। पाटला जंगली गुलाब को कहते हैं, जो शहरों में बाड़ के काम में भी आता है। यहाँ राजा नल को पाटला-स्तबक पर कामदेव के तरकस का भ्रम होने से भ्रान्तिमान् अलंकार है। 'चित्त' 'चितं तथा 'भिया' 'धिया' में छेकानुप्रास और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥९५॥

मुनिद्रुमः कोरकितः शितिद्युतिर्वनेऽमुनामन्यत सिंहिकासुतः।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षितं कलाकलापं किल वैधवं वमन् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—अमुना वने कोरकितः शितिद्युतिः मुनिद्रुमः तमिस्र···क्षितम् वैधवम् कला-कलापम् वमन् सिंहिका-सुतः अमन्यत किल।

टीका—**अमुना**=नलेन **वने**=कानने **कोरकितः**=कुड्मल-युक्तः **शितिः**=कृष्णवर्णा (**शिती**=धवल-मेचकौ' इत्यमरः) **द्युतिः**=कान्तिः (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) **मुनिद्रुमः** अगस्त्य-वृक्षः **तमिस्र०**=तमिस्रम् अन्धकारः ('तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः) तस्य **पक्षे**=पञ्चदशाहोरात्राः (ष० तत्पु०) तस्मिन् या **त्रुटिः**=चन्द्रस्य कला-ह्रासः (स० तत्पु०) सा एव **कूटम्**=व्याजः (कर्मधा०) तेन **भक्षितम्**=खादितम् (तृ० तत्पु०) **वैधवम्**=विधुः चन्द्रः

स्येति तत्सम्बन्धिनमित्यर्थः **कलानाम्**=चन्द्रमण्डलस्य षोडश-भागानाम् ('कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः) **कलापम्**=समूहम् (ष० तत्पु०) **वमन्**=उद्गिरद् **सिंहिका**=एतत्संज्ञका राक्षसी तस्याः **सुतः**=पुत्रः राहुरित्यर्थः (ष० तत्पु०) **अमन्यत**=अतर्कयत् किलेति निश्चये । अगस्त्य-वृक्षो कृष्णो भवति, तस्य कुड्मलानि च श्वेतानि भवन्ति, अतएव वृक्षस्य राहुणा तत्कोरकाणाञ्च चन्द्रकलाभिः सादृश्यम् ।। ९६ ।।

व्याकरण—कोरकितः कोरकाः सञ्जाता अस्येति **कोरक+इतच्** ('तदस्य सञ्जातम्' इस अर्थ में 'तारकादिभ्य इतच्') । त्रुटि √त्रुट् **+इन्** कित्वम् । **वैधवम्** विधोः इदम् इति विधु+अण् ।

हिन्दी—उस (नल) ने वन में (श्वेत) कलियाँ निकाल रहा, काले रंग की कान्ति वाला अगस्त्य-वृक्ष 'सचमुच ऐसा समझा कि मानों राहु हो जो कृष्णपक्ष में (चन्द्रमा की कलाओं के ह्रास के बहाने) खाए हुये चन्द्रमा के कला-समूह को उगल रहा है ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—अगस्त्य वृक्ष के पत्ते गहरे हरे रंग के होने के कारण वह काला दिखाई देता है लेकिन उससे निकलने वाली कलियाँ श्वेत होती हैं । इसी तरह राहु भी काला होता है और चन्द्रमा की कलायें श्वेत होती हैं । कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की एक-एक कला का क्षय होता रहता है । इस तथ्य को छिपाकर कवि की कल्पना यह है कि राहु चन्द्र की कलाओं को खाता जाता है । शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की एक-एक कला फिर प्रकट होती रहती है । इस पर कवि कल्पना कर रहा है कि मानों राहु पहले कृष्णपक्ष में खाई हुई चन्द्रमा की कलाओं को उगल रहा हो । यहाँ 'अमन्यत' उत्प्रेक्षा का वाचक है, अतः उत्प्रेक्षा है किन्तु उसके मूल में अपह्नुति काम कर रही है, इसलिये यहाँ इन दोनों का अङ्गाङ्गिभाव संकर है । 'कला' 'कला' 'किल' में दो से अधिक बार आवृत्ति होने से छेक न होकर वृत्त्यनुप्रास है ।।९६।।

[1]पुराहठाक्षिप्ततुषारपाण्डुर[2]च्छदावृतेर्वीरुधि बद्धविभ्रमाः ।
मिलन्निमीलं ससृजुर्विलोकिता नभस्वतस्तं कुसुमेषु केलयः ॥ ९७ ॥

अन्वयः—पुरा हठा...वृतेः नभस्वतः वीरुधि बद्धविभ्रमाः कुसुमेषु केलयः विलोकिताः सत्यः तं मिलन्निमीलम् विदधुः ।

टीका—पुरा=पूर्वम् आदौ इत्यर्थः **हठा०—हठात्** बलात् **आक्षिप्ताः** आकृष्टाः (पं० तत्पु०) तुषार-पाण्डुराः (कर्मधा०) **तुषारेण** =हिमेन **पाण्डुराः**=श्वेताः (तृ० तत्पु०) ये **छदाः**= पत्राणि (कर्मधा०) तेषाम् **आवृत्तिः**=आवरणम् (ष० तत्पु०) येन तथाभूतस्य (ब० व्री०) **नभस्वतः**=वायोः **वीरुधि**=लतायाम् ('**लता**=प्रतानिनी वीरुद्' इत्यमरः) **बद्धाः**=कृता इत्यर्थः **विभ्रमाः**=भ्रमणानि (कर्मधा०) तुषारश्वेतपत्राणि बलात् उद्धूयवायोः लतायां विविध भ्रमणा नीत्यर्थः **कुसुमेषु**=पुष्पेषु **केलयः**=क्रीडाः (च) विलोकिताः दृष्टाः सत्यः **तम्**=नलम् **मिलन्** संयुज्यमानः **निमीलः**=नेत्र-संकोचः (कर्मधा०) यस्य तथाभूतम् निमीलितचक्षुष्कमित्यर्थः (ब० व्री०) **संसृजुः** चक्रुः । वायोः लतायां पुष्पेषु च विविध-क्रीडामवलोक्य विरहित्वात् असह्य-

१. पुरो २. पाण्डर

त्वाच्च नलो नेत्रे निमीलितवानिति भावः। अयं च वायुस्थानीय; कोऽपि नायको वीरुत्-स्थानीयायाः कस्या अपि नायिकायाः तुषारवत् श्वेतम् आवरणम् (वसनम्) अपनीय तस्यां विविधविभ्रमपूर्वकं कुसुमेषु-केलिम् काम-क्रीडाम् करोति, परसंभोगदर्शननिषेधात् राजा च नेत्रे निमीलयति यथोक्तम्—'नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसक्त-मैथुनाम्'। एषोऽप्रस्तुतोऽर्थोऽपि व्यज्यते ।। ९७ ।।

व्याकरण—**छन्दः** छदति (आच्छादयति) इति √छद्+अच् कर्तरि। **आवृत्ति** आ+√वृ+क्तिन् भावे। **नभस्वान्** नभः=आकाशं स्थानत्वेनास्यास्तीति नभस्+मतुप् म को व। **ससृजुः** √सृज्+लिट् ब० व०।

हिन्दी—पहले पाले से सफेद बने पत्तों का आवरण बलात् पकड़े हुये वायु की लता पर किये हुये विलास (और बाद को) फूलों पर की हुई अठखेलियाँ (नल के) देखने में आई हुई उसकी आँखें बन्द करवा देती थीं ।। ९७ ।।

टिप्पणी—यहाँ कवि श्लोक ८५ में आया हुआ प्रकृति का चेतनीकृत चित्र दोहरा रहा है। वायु में नायक और लता में नायिका का चित्रण करके कवि ने यहाँ भी समासोक्ति बनाई है। यहाँ भी विशेषण जड़ प्रकृति तत्वों तथा चेतन नायक-नायिकाओं में समान-रूप में लग जाते हैं। हाँ नायक की ओर 'बद्ध-विभ्रमाः' बद्धाः विभ्रमा यासु ताः यों (ब० व्री०) कर लें, जो 'कुसुमेषु केलयः' का विशेषण है और 'कुसुमेषु केलयः' को 'कुसुमेषुकेलयः' एक ही समस्त पद रखें अर्थात् कुसुमेषोः=कामस्य केलयः=क्रीडाः संभोग इत्यर्थः। बाकी हेरफेर के लिये संस्कृत टीका देखिये ।।९७।।

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम् ।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ॥ ९८ ॥

अन्वय—(ये) द्रुमाः यदुत्सङ्ग-तले विशालताम् गताः, ताम् धात्रीम् फल-गौरवेण अतिमात्र-नामितैः शिरोभिः वन्दमानान् तान् सः कथं न अभिनन्दति स्म।

टीका—(ये) **द्रुमाः**=वृक्षाः **यस्याः**=धात्र्याः **उत्सङ्ग**=मध्यम् तस्य **तले**=स्थले अथ च **उत्सङ्गः**=अङ्कः ('उत्सङ्ग चिह्नयोरङ्कः' इत्यमरः) तस्य **तले**=प्रदेशे (ष० तत्पु०) **विशालताम्**=वृद्धिम् **गताः**=प्राप्ताः, ताम् **धात्रीम्**=पृथिवीम् अथ चोपमातरम् (**धात्री**=जनन्यामलकी-वसुमत्युपमातृषु=इति विश्वः) **फलानाम्**=आम्रादीनाम् **गौरवेण**=बाहुल्येन अथ च पुण्यफलस्य आतिशयेन (ष० तत्पु०) **अतिमात्रम्**=अत्यधिकं यथा स्यात्तथा **नामितैः**=नम्रीकृतैः **शिरोभिः**=अग्रभागैः अथ च मस्तकैः **वन्दमानान्** स्पृशतः अथ च अभिवादयमानान् **तान्**=द्रुमान् (पुत्रांश्च) **स** नलः **कथं न अभिनन्दति स्म**=अभ्यनन्दत् अस्तौत् इति यावत् अपि तु अभिनन्दति स्मैवेति काकुः। समुचित-कार्य-कारिणां स्तुतिः समुचितैव। कानने वृद्धिं गताः वृक्षाः फलभरेण नमिता आ[?]न् दृष्ट्वा च तान् नलः परमप्रसन्नोऽभवदिति भावः। अत्र फलवृक्षवत् धात्र्या अङ्के पलिताः पुष्टाः वृद्धिञ्च गताः पुत्राः पूर्वजन्मसुकृतफलस्वरूपं विनयादि-गुणसम्पन्नाः ताम् अभिवादयन्ते इति ते स्तुतियोग्या इत्यप्रस्तुतार्थोऽपि विशेषण-साम्यात् गम्यते ॥ ९८ ॥

व्याकरण—धात्री दधति याम् इति√धा+ष्ट्रन्+ङीप् (धाय)। **नामितैः**√नम्+णिच्+क्तः कर्मणि।

हिन्दी—(जो) वृक्ष जिसकी गोद में बड़े हुए हैं, उस धात्री (भूमि, धाय) को फलबाहुल्य के कारण अत्यन्त झुके हुये सिरों से नमन करते हुए उन (वृक्षों) का वह (नल) क्यों न अभिनन्दन करता ? ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—यहाँ भी कवि ने प्रकृति का चेतनीकरण किया है। धात्री आदि शब्दों में श्लेष रखकर धात्री (पृथिवी) पर बड़े होकर (फलों की प्रचुरता के कारण उसकी ओर नमन कर रहे प्रस्तुत वृक्षों पर धात्री (धाय) की गोद में पले-पुसे और बाद को उसे नमन करने वाले अप्रस्तुत पुत्रों का व्यवहार-समारोप करके यहाँ भी कवि समासोक्ति बना रहा है। पहले और दूसरे पाद में 'अनाम्' 'अनाम्' की तुक बन जाने से अन्त्यानुप्रास और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥ ९८ ॥

नृपाय तस्मै हिमितं वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहर्महः।
विनिर्मितं केतकरेणुभिः सितं वियोगिनेऽदत्त न कौमुदीमुदः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—वनानिलैः हिमितम् पुष्प-रसैः सुधीकृतम्, केतक-रेणुभिः (च) सितं विनिर्मितम् अहर्महः वियोगिने तस्मै नृपाय कौमुदी-मुदः न अदत्त।

टीका—**वनस्य**=काननस्य **अनिलाः**=पवनाः तैः (ष० तत्पु०) **हिमितम्**=हिमीकृतम् शीतलीकृतमिति यावत्, **पुष्पाणां**=कुसुमानां **रसैः**=मकरन्दैरित्यर्थः **सुधीकृतम्**=अमृतीकृतम् (ष० तत्पु०) **केतकीनाम्**=केतकी-पुष्पाणाम् **रेणुभिः**—धूलिभिः परागैरिति यावत् **सितम्**=श्वेतम् **विनिर्मितम्**=कृतम् **अहर्महः अह्नः**=दिवसस्य **महः**=तेजः ('महस्तूत्सव-तेजसोः' इत्यमरः) (ष० तत्पु०) **वियोगिने**=विरहिणे **तस्मै नृपाय**=राज्ञे नलाय **कौमुद्याः**=चन्द्रिकायाः **मुदः** आनन्दान् न **अदत्त**=प्रायच्छत्, दिने सर्वस्या अपि चन्द्रिका-सामग्र्या उपपादनेऽपि नलो विरहित्वात् न प्रसन्नो जात इति भावः।

व्याकरण—हिमितम्=हिमम् शीतलं करोतीति हिम+णिच् (तत्करोत्यर्थे) हिमयति (नामधातु बनाकर) निष्ठा में क्त। ध्यान रहे कि हिम शब्द विशेषण है ('तुषारः शीतलः शीतो हिमः सप्तान्यलिङ्गकाः' इत्यमरः)। **सुधीकृतम्** असुधा सुधा सम्पद्यमानं कृतम् इति सुधा+च्वि+क्त। **अहर्महः** अहन्+महः सन्धि में ('रोऽसुपि' पा० ८.२.६९) से रेफादेश। मुदः√मुद्+क्विप् भावे।

हिन्दी—वन की पवनों से शीतल बनाया हुआ पुष्प-मकरन्दों से अमृतमय किया हुआ और केवड़े के परागों से श्वेत बनाया हुआ (भी) दिन का तेज उस विरही नल को चाँदनी के आनन्दों को नहीं दे पाया ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—यहाँ आनन्द के कारण वनानिल आदि के होते हुए भी आनन्द-रूप कार्य नहीं हो रहा है, इसलिए विशेषोक्ति अलंकार है। 'मुदी' 'मुदः' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥ ९९ ॥

[1]अयोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

अन्वयः—आयोगभाजः अपि नृपस्य तत् आननम् साक्षात् अमृतांशुम् एव पश्यता रोषारुण-चक्षुषा पिकेन मुहुः 'कुहू'-रुता चन्द्र-वैरिणी (कुहूः) आहूयत ।

टीका—**अयोगम्**=विरहम् दमयन्त्या इति शेषः **भजति**=जुषते इति तथोक्तस्य (उपपद तत्पु०) अपि **नृपस्य**=राज्ञो नलस्य **तत्**=प्रसिद्धम् **आननम्**=मुखम् **साक्षात्**=प्रत्यक्षम् **अमृतम् अंशुषु**=किरणेषु यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) चन्द्रमित्यर्थः एव **पश्यता**=अवलोकयता विरहेऽपि चन्द्रवत् मुख सौन्दर्यं दृष्ट्वेत्यर्थः **रोषेण**=क्रोधेन **अरुणे**=रक्ते (तृ० तत्पु०) **चक्षुषी**=नेत्रे (कर्मधा०) यस्य तथाभूतेन (ब० व्री०) **पिकेन**=कोकिलेन **मुहुः**=पुनःपुनः 'कुहू' इति **रुता**=शब्देन **चन्द्रस्य वैरिणी**=शत्रुभूता कुहूः **आहूयत**=आकारिता वियोगकारणात् नलस्य मुख-चन्द्रं नेषदपि म्लानिं भजतीति कोपारुणचक्षुः पिकः 'कुहू-कुहू' इति रुतेन कुहूमाकारयदिति भावः ('कुहूः स्यात् कोकिलालाप-नष्टेन्दुकलयोरपि' इति विश्वः) ॥१००॥

व्याकरण—०भाजः √भज्+क्विप् कर्तरि । **चक्षुः चष्टे** पश्यतीति √चक्ष्+उस् शिच्च । रुत् √रु+क्विप् भावे । **आहूयत** आ+√ह्वे+लङ् कर्मवाच्य ।

हिन्दी—(दमयन्ती के) वियोग में रहते हुए भी राजा (नल) के मुख को साक्षात् चन्द्रमा ही देखते हुए, क्रोध में आँखें लाल-लाल किये कोयल ने 'कुहू' 'कुहू' शब्द से (मानो) चन्द्रमा की वैरी कुहू बुलाई ॥१००॥

टिप्पणी—वन में कोयल स्वभावतः 'कुहू' 'कुहू' करके कूक रही थी । इस पर कवि 'कुहू' शब्द में श्लेष रखकर यह कल्पना कर रहा है कि मानो 'कुहू' 'कुहू' पुकार कर वह कुहू (अमावास्या) को बुला रही है जिससे नल के मुख-चन्द्र की चमक जाती रहे । कोयल की आखें भी स्वभावतः लाल होती हैं । उसपर यो कवि-कल्पना यह है कि मानो वह क्रोध से आँखें लाल किए हुए हो । ये दोनों उत्प्रेक्षायें गम्य हैं, वाच्य नहीं । ऊपर नल के आनन पर अमृतांशुत्व का आरोप होने से रूपक है । इस प्रकार रूपक, श्लेष और दो उत्प्रेक्षाओं का संकर है । शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है । 'अमृतांशु' शब्द से सम्बन्ध रखने वाले अवधारणार्थक 'एव' शब्द को वहाँ न रखकर 'तत्' के साथ रखने में अस्थानस्थपदत्व दोष बन रहा है ॥१००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान्शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान् ।
अमन्यतावन्तमिवैष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्रजालकम् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—एषः पल्लवैः प्रतीष्ट...कम् अशोकम् अर्थान्वितनामताशया शरण्यम् गतान् गृहशोचिनः अध्वगान् अवन्तम् इव अमन्यत ।

टीका—**एषः**=नलः **पल्लवैः**=किसलयैः **प्रतीष्ट०-प्रतीष्टम्**=प्रतिगृहीतं **कामस्य**=मदनस्य (ष० तत्पु०) **ज्वलत्**=दीप्यमानम् **अस्र-जालकम्**=अस्रसमूहः (कर्मधा०) अस्राणाम्

1. वियोग०

जालकम् (ष० तत्पु०) येन तथाभूतम् (ब० व्री०) **अशोकम्**=एतदाख्यवृक्षविशेषम् **अर्थेन अन्वितं**=सम्बद्धम् **नाम**=अभिधेयम् (कर्मधा०) यस्य तथा भूतस्य (ब० व्री०) भावः तत्ता तस्या **आशया**=(ष० तत्पु०) शरण्यम् शरणे साधुन् संरक्षणदायकमित्यर्थः ('शरणं रक्षणे गृहे' इति विश्वः) **गतान्**=प्राप्तान् शरणागतानिति यावत् **गृहान्**=गृहिणीः पत्नीरित्यर्थः ('न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते' इत्यभियुक्ताः 'गृहाः पत्न्यां गृहे स्मृताः' इहि विश्वश्च) **शोचितुं**= चिन्तयितुं शीलमेषां तथोक्तान् (उपपद तत्पु०) प्रियासु समुत्कण्ठितानित्यर्थः **अध्वगान्**=पान्थान् प्रवासिन इति यावत् **अवन्तम्**=रक्षन्तम् इव **अमन्यत**=अतर्कयत् । 'न शोकः यत्रेति अशोकः' इत्यशोकस्यान्वर्थतां हृदि निधाय पथिकास्तच्छरणमागताः, सोऽपि च 'शरणागत-रक्षणं महान् धर्मः' इति कृत्वा पुष्परूपान् काम-बाणान् स्वशिर उपरि गृहीत्वा शरणागत-पान्थान् रक्षतीवेति भावः ॥१०१॥

व्याकरण—**शरण्यम्** शरणे साधुः इति शरण+यत् ('तत्र साधुः' पा० ४ ४।९८) । शोचिनः√शुच्+णिन् ताच्छील्ये । **प्रतीष्ट** प्रति+√इष्+क्त कर्मवाच्य । **अध्वगान्** अध्वानं गच्छन्तीति अध्वन्+√गम्+डः । **जालकम्** जालमेवेति जाल+क (स्वार्थे) ।

हिन्दी—उस (नल) ने पत्रों द्वारा कामदेव के जलते हुए अस्त्रों का समूह (स्वयं) ग्रहण किये हुए अशोक को, अन्वर्थ नाम वाला होने की आशा से शरण में आए (तथा) पत्नियों की सोच में पड़े पथिकों की रक्षा हुआ-जैसा समझा ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—पथिकों पर कामदेव के बाण पड़ रहे थे वे अशोक की शरण चले गये यह सोचकर कि उसका नाम ही लोगों को शोक-रहित करना है । अशोक ने भी अपने नाम की लाज रख ली। उसने आगे खड़े हो काम के बाण अपने ऊपर पड़ने दिए और शरणागत पथिकों की रक्षा कर दी । यह अर्थ यहाँ हमें कुछ ठीक नहीं जँच रहा है । कारण यह है कि—जैसा हम पीछे बता आए हैं— अशोक तो स्वयं कामदेव के पाँच बाणों में से अन्यतम है । वह विरहित जनों का रक्षक नहीं, भक्षक है । नाम के भरोसे बटोही उसके पास गए । वह देखो तो उन पर उल्टा और मुसीबतें ढहाने लगा । 'नाम नयन-सुख और आँख का अन्धा' वाली बात हो गई । इसलिए√अव् धातु को हम यहाँ रक्षार्थ में न लेकर हिंसार्थ में लेंगे जैसे भट्टोजी दीक्षित लिखते हैं—'अव रक्षण-गति-कान्ति-प्रीति-तृप्त्यव-गमन-प्रवेश-श्रवण-स्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छा-दीप्ति व्याप्त्यालिङ्गन-हिंसा-दहन-भाव-वृद्धिषु । नारायण ने वैकल्पिक-रूप में इस अर्थ को ओर संकेत किया है, किन्तु जिनराज और कृष्णकान्त ने सीधा हिंसा अर्थ ही लिया है । रक्षार्थ में उत्प्रेक्षा-मात्र है, किन्तु हिंसार्थ में उत्प्रेक्षा के साथ साथ विषमा-लकार भी है । विषम वहाँ होता है, जहाँ कोई भलाई हेतु जावे किन्तु भलाई के स्थान में मुसीबत में फँस जाय' । बटोही गये थे शोक मिटाने, लेकिन उल्टा प्राप्त कर बैठे शोक । शब्दालंकार वृत्यनु-प्रास है ॥१०१॥

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतेः शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—विलास...नात्, पिकालिगीतेः, शिखिलास्यलाघवात् तौर्यत्रिकम् बने अपि तम् आरराध । भाग्यभाक् जनः क्व भोगम् न आप्नोति ?

टीका—**विलास०**-विलासः=क्रीडा तस्मै **वापी**=दीर्घिका (च० तत्पु०) तस्याः **तटे**=तीरे (ष० तत्पु०) ये **वीचयः**=तरङ्गाः (स० तत्पु०) तेषाम् **वादनात्** वाद्य व्यापारात् **पिकानाम्**= कोकिलानाम् **आलेः**=पंक्तेः **गीतेः**=गानात् (ष० तत्पु०) अथवा पिकाश्च **अलयः**=भ्रमराश्चेति (द्वन्द्वः) तेषां गीतेः **शिखिनाम्** मयूराणाम् यत् **लास्यम्**=नृत्यम् (ष० तत्पु०) तस्य **लाघवात्** नैपुण्यात् (ष० तत्पु०) **तौर्यत्रिकम्**=वाद्य-गीत-नृत्यम् ('तौर्यत्रिकं नृत्य-गीतवाद्यम्' इत्यमरः) एतत् त्रयं संगीतमप्युच्यते यथोक्तम्–'गीतं वाद्यं नर्तनञ्च त्रयं संगीतमुच्यते'। **वने**=कानने अपि **तम्** नलम् **आरराध**=सेवितवान्। भाग्यं भजतीति **भाग्यभाक्**=(उपपद तत्पु०) भाग्यशाली **जनः**= व्यक्तिः **क्व**=कुत्र **भोगम्**=सुखम् **न आप्नोति**=लभते अपितु सर्वत्रैवाप्नोतीति काकुः। भाग्यकारणात् यः सुखी स यत्र कुत्रापि गच्छति सुखमेव लभते यश्च दुःखी स यत्र कुत्रापि गच्छति दुःखमेव लभते इति भावः ॥ १०२ ॥

व्याकरण—**लास्यम्** लसितुं योग्यमिति√लस्+ण्यत्। **लाघवात्** लघोः (निपुणस्य) भाव इति लघु+अण्। तौर्यत्रिकम् त्रयाणां समूह इति त्रिकम् (त्रि+कन् तूर्यस्य वाद्य विशेषस्येदमिति तौर्यम् (अण्) तुरही का शब्द उसके साथ गीत और नृत्य भी जोड़ कर एतेषां त्रिकम् तौर्यत्रिकम् **भाक्**√भज्+क्विप् कर्तरि।

हिन्दी—विलास हेतु (बनी) बावड़ी के किनारों पर तरंगों के बजने, कोयल समूह के गाने तथा मोरों की नृत्य-निपुणता से बना (त्रिक-रूप) संगीत बन में भी उस (नल) की सेवा कर रहा था। भाग्यशाली व्यक्ति कहाँ सुख नहीं पाता है ? ॥ १०२ ॥

टिप्पणी—राज-भवन में नल को प्रसन्न करने हेतु मानवीय संगीत तो चलता ही रहता था किन्तु वन में भी प्राकृतिक संगीत उसे प्रसन्न रखने में कोई कसर नहीं छोड़ता था अर्थात् प्रकृति भी उसे रिझाती रहती थी। 'बनेऽपि' में अपि शब्द कैमुत्य न्याय से 'और जगह की तो बात ही क्या' इस अर्थ को बतलाता है, इसलिये अर्थापत्ति है, नल की आराधना की कल्पना करने से गम्योत्प्रेक्षा है और चौथे पाद में प्रतिपादित सामान्य बात से ऊपर नल वाली विशेष बात का समर्थन करने से अर्थान्तर न्यास है। साथ में वृत्त्यनुपास मिलाकर इन चारों अलंकारों की यहाँ संसृष्टि बन जाती है किन्तु काकु वक्रोक्ति के साथ अर्थान्तर न्यास का एकवाचकानुप्रवेश-संकर रहेगा ॥ १०३ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन्।
स्वरामृतेनोपजगुश्च सारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृतः ॥ १०३ ॥

अन्वयः—जनेन तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ताः पटवः शुकाः तम् अस्तुवन्; तथा एव च तत्-पौरुष-गायनीकृताः शारिकाः स्वरामृतेन (तम्) उपजगुः।

टीका—**जनेन**=भृत्यजनेन **तस्मै**=नलाय नलस्तुतये इत्यर्थः **तदर्थम्**=(तत् शब्देन अर्थस्य चतुर्थ्यां नित्यसमासः) **अध्याप्य**=पाठयित्वा **तस्य**=नलस्य **वने**=विलासकानने **विमुक्ताः**= त्यक्ताः **पटवः**=निपुणाः स्फुटोच्चारणा इत्यर्थः **शुकाः**=कीराः **तम्**=नलम् **अस्तुवन्**=स्तुतिम-कुर्वन्) **तथा एव**=तेनैव प्रकारेण **तस्य**=नलस्य **पौरुषम्**=शौर्यम् (ष० तत्पु०) तस्य **गायिन्यः**

=गायिकाः कृता इति गायनीकृताः जनेनेति शेषः (ष० तत्पु०) **शारिकाः**='मैना' इति भाषायां प्रसिद्धाः पक्षिविशेषाश्च **स्वरः** कण्ठध्वनिः **अमृतमिवेत्युपमित** तत्पु० तेन (तम् नलम्) **उपजगुः** =अस्तुवन्नित्यर्थः ॥ १०३ ॥

व्याकरण—**अध्याप्य** अधि+√इ+णिच्+ल्यप्। **उपजगुः** उप+√गै+लिट् प्र० ब०। **पौरुषम्** पुरुषस्य भावः कर्म वा इति पुरुष+अण्। **गायनीकृताः** गायतीति√गै+ल्युट् (कर्तरि) +ङीप् गायन्यः अगायन्यः गायन्यः सम्पद्यमानाः कृता इति गायन+च्वि+√कृ+क्त कर्मणि।

हिन्दी—भृत्यों द्वारा उस (नल-स्तुति) हेतु सिखा-पढ़ाकर उस (नल) के वन में छोड़े हुये चतुर तोते उस (नल) की स्तुति कर रहे थे और उसी तरह उस (नल) के शौर्य को गायिकायें बनाई हुई मैनायें अमृत-जैसे स्वर से उस (नल) का (शौर्य) गान कर रही थीं ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—'स्वरामृत' में लुप्तोपमा और सारे श्लोक में स्वभावोक्ति है, क्योंकि पढ़ाए सिखाये तोते और मैनायें स्वभावतः ऐसा करते ही हैं। शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ॥१०३॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वनं पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च।
अविन्दतामोदभरं बहिश्चरं विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः—इति इष्ट-गन्धाढ्यम् वनम् अटन् पिकोपगीतः अपि शुक-स्तुतः अपि च असौ बहिश्चरम् आमोद-भरम् अविन्दत, विदर्भसुभ्रू-विरहेण आन्तरम् (आमोद-भरम्) न (अविन्दत)।

टीका—**इति**=एवं प्रकारेण **इष्टः**=अभीष्टः प्रिय इति यावत् यः **गन्धः**=सौरभम् (कर्मधा०) तेन **आढ्यम्**=समृद्धम् (तृ० तत्पु०) अभीष्ट-सौरभपूर्णमित्यर्थः **वनम्**=काननम् **अटन्**=भ्रमन् **पिकैः**=कोकिलैः **उपगीतः**=स्तुतः (तृ० तत्पु०) **अपि शुकैः**=कीरैः **स्तुतः**=स्तुतिविषयीकृतः अपि **असौ**=नलः **बहिश्चरम्**=बाह्यम् **आमोदस्य**=सौरभस्य **भरम्**=अतिशयम् **अविन्दत**= प्राप्नोत्, (किन्तु) **विदर्भाणाम्** सुभ्रूः=वैदर्भी सुन्दरी दमयन्तीत्यर्थः (ष० तत्पु०) तस्याः **विरहेण**=वियोगेन **आन्तरम्**=आन्तरिकम् **आमोदस्य**=आनन्दस्य **भरम्**=अतिशयम् **न अविन्दत** (आमोदो हर्ष-गन्धयोः इति विश्वः) आनन्दस्य बाह्यसामग्र्यां विद्यमानायामपि नलो विरहकारणात् हृदये आनन्दं प्रापेति भावः ॥ १०४ ॥

व्याकरण—**इष्ट** /इष्+क्त कर्मवाच्य। **अटन्** √अट्+शतृ। **बहिश्चरम्** बहिः चरतीति बहिस्+√चर्+ट। **आन्तरम्** अन्तरस्येदमिति अन्तर+अण्।

हिन्दी—इस प्रकार अभीष्ट (प्रिय) गन्ध से भरपूर वन में भ्रमण करता हुआ (और) कोयलों से गाया एवं तोतों से स्तुति किया जाता हुआ भी वह (नल) बाहरी अत्यधिक आमोद (सौरभ) प्राप्त कर रहा था, (किन्तु) विदर्भ देश की सुन्दरी के विरह के कारण भीतरी अत्यधिक आमोद (आनन्द) नहीं ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—यहाँ आनन्द के कारण के होते-होते भी आनन्द-रूप कार्य के न होने से विशेषोक्ति है। भिन्न भिन्न आमोदों में अभेदाध्यवसाय करने से अतिशयोक्ति भी है ॥१०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालबालाम्बुनिवेशशङ्कया।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—सः निज-केतनम् मीनम् द्रुमालवालाम्बु-निवेश-शङ्कया करेण दधत् सर्वर्तु-घने अत्र वने मित्रम् मधुम् अनुसरन् स्मर इव व्यतर्कि (लोकैः)।

टीका—**सः**=नलः **निजं**=स्वकीयम् **केतनम्**=**चिह्नम्**=ध्वजमिति यावत् (कर्मधा०) **मीनम्**=मत्स्यम् **द्रुमाणाम्**=वृक्षाणाम् यानि **आलवालानि**=आवालाः (ष० तत्पु०) 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः) तेषु यत् **अम्बु**=जलम् तस्मिन् **निवेशः**=प्रवेशः (उभयत्र स० तत्पु०) तस्य **शङ्कया**=भयेन (ष० तत्पु०) अयं मीनः जले प्रवेक्ष्यतीति शङ्कयेत्यर्थः **करेण**=हस्तेन **दधत्**=धारयन् **सर्वे** च ते **ऋतवः** (कर्मधा०) तैः **घने**=पूर्णे (तृ० तत्पु०) **अत्र**=अस्मिन् **वने**=कानने **मित्रम्**=सखायम् **मधुम्**=वसन्तम् **अनुसरन्**=अन्विष्यन्नित्यर्थः **स्मरः**=कामदेव इव **व्यतर्कि**=अमन्यत लोकैरिति शेषः। राज्ञो हस्ते सामुद्रिकशास्त्रानुसारं चक्रवर्ति-चिह्नं मत्स्य आसीत् तदेव वास्तवं निज-केतनं मत्स्यं हस्ते धारयन् राजा कामदेव इव प्रतीयते स्मेति भावः ॥१०५॥

व्याकरण—**केतनम्**=केत्यते (ज्ञायते) अनेनेति √कित्+ल्युट् करणे। **आलवालम्** आलूय+ते (खन्यते) इति आ+√लुञ्+आलच् (औणादिक)। **दधत्**=√धा+शतृ ('नाभ्यस्ताच्छतुः' पा० ७.१.७८) से नुम्-निषेध। **व्यतर्कि**=वि√तर्क्+लुङ् कर्मवाच्य।

हिन्दी—वह (नल) अपने चिह्न मत्स्य को बावली के जल में प्रवेश कर जाने की शंका से हाथ में धारण किये, सभी ऋतुओं से परिपूर्ण इस कानन में अपने मित्र (वसन्त) को ढूँढता हुआ मदन जैसा प्रतीत हो रहा था ॥१०५॥

टिप्पणी—राजा के हाथ में मत्स्य की रेखा थी जो चक्रवर्ती का चिह्न मानी जाती है। उस पर कवि ने कल्पना की है कि वह कामदेव है जो अपना मत्स्य-रूप ध्वज अपने हाथ में इसलिए पकड़े हुए हैं कि यह कहीं बावली के जल में न घुस जाय। पानी का जीव जो ठहरा। इसलिए रेखारूप मत्स्य को ध्वज-रूप मत्स्य बनाकर नल पर कामदेव की कल्पना करने से उत्प्रेक्षा है, जिससे नल अत्यन्त सुन्दर युवा है—यह वस्तु ध्वनि निकल रही है। 'मित्र' 'मत्रा' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥१०५॥

लतावलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः ।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—लता···गुरुः, तरु···हरः मधुगन्धवारिणि प्रणीत-लीला-प्लवनः वनानिलः अमुम् असेवत।

टीकाः—**लताः**=वल्लय एव **अबलाः**=नार्यः (कर्मधा०) तासाम् **लास्यम्**=नृत्यम् (ष० तत्पु०) एव **कला**=विद्या (कर्मधा०) तस्याः **गुरुः**=शिक्षकः (ष० तत्पु०) लता नर्तयन्नित्यर्थः **तरूणाम्**=वृक्षाणाम् यानि **प्रसूनानि**=पुष्पाणि तेषां यो **गन्धः**=सौरभम् तस्य य **उत्करः**= समूहः तस्य **पश्यतोहरः**=चोरः (सर्वत्र ष० तत्पु०) **मधु**=मकरन्दः एव **गन्ध-वारि**=(कर्मधा०) गन्धयुक्तो वारि गन्धवारि (मध्यमपदलोपी स०) तस्मिन् **प्रणीतम्**=कृतम् **लीला-प्लवनम्**= लीलावगाहनम् (कर्मधा०) **लीलया**=विलासेन **प्लवनम्**=(तृ० तत्पु०) जलक्रीडेत्यर्थः येन

तथाभूतः (ब० व्री०) **वनस्य**=काननस्य **अनिलः**=वायुः (ष० तत्पु०) **अमुम्**=नलम् **असेवत**=सेवितवान् । अत्र उक्तैः त्रिभिः विशेषणैः वायोः मन्दत्वम् सुगन्धित्वम् शीतलत्वं च द्योत्यते । अन्योऽपि सेव्यः पीठमर्दादिपरिचारकैः सेव्यते ।

व्याकरण--**लास्यम्**√लस्+ण्यत् । **पश्यतोहरः** हरतीति हरः√हृ+अच् कर्तरि पश्यतः लोकस्य हरः,, यहाँ षष्ठी चानादरे' (पा० २।३ ३८) में **षष्ठी** और उसका -''वाग्दिक्, पश्यद्भ्यो युक्ति-दंडहरेषु' इस वार्तिक से लोप-निषेध होकर अलुक् समास है । जो लोगों के देखते-देखते वस्तु उड़ा लेता है, उसे 'पश्यतोहर' कहते हैं, देखिये हलायुध–'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' । **प्रणीत** प्र+√नी+क्त कर्मणि ।

हिन्दी—लता-रूपी नायिकाओं का नृत्य-कला का गुरु, वृक्षों के सौरभ-समूह का डाकू (और) मकरन्द-रूपी सुगन्धित जल में सविलास स्नान किये हुए वन-पवन उस (नल) की सेवा कर रहा था ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—वन में मन्द-सुगन्ध-शीतल पवन बह रहा था । उस पर कवि सेवकत्व का आरोप कर रहा है । साथ ही लतारूपी नारियों का गुरुत्व और फूलों के चोरत्व का आरोप भी उस पर किया गया है । इसलिए यह रूपक है । लता पर नारीत्व और पवन पर गुरुत्व के आरोपों का परस्पर कार्य-कारणभाव होने से परम्परित रूपक है, किन्तु पश्यतोहरत्वारोप में निरंग रूपक है । शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ॥१०६॥

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपांनिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥ १०७ ॥

अन्वयः—अथ अवनीभुजा तडागः मन्थनात् भयेन चिरात् उच्चितम् चिरत्न-रत्नाधिकम् स्वम् आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपांनिधिः ददृशे ।

टीका—**अथ**=अनन्तरम् **अवनीभुजा**=राज्ञा नलेनेत्यर्थः **तडागः**=कासारः **मन्थनात्**=मथनात् **भयेन**=भीत्या **चिरात्**=सुदीर्घकालात् **उच्चितम्**=सञ्चितम् **चिरत्नानि**=चिरन्तनानि यानि **रत्नानि**=ऐरावतोच्चैःश्रव आदीनि चतुर्दश (कर्मधा०) तैः **अधिकम्**=अधिकतरमित्यर्थः (तृ० तत्पु०) पूर्वं तु एकैकान्येव ऐरावतादिरत्नानि आसन् , सम्प्रति तु चिराद् वृद्धिं गतानि अधिकतराणि तानि जातानीति भावः, **स्वम्**=धनम् **आदाय**=गृहीत्वा **तस्मिन्** वने=कानने **निलीय**=अन्तर्धाय तिरोभूतीभूयेति यावत् **निवसन्**=वासं कुर्वन् **अपांनिधिः**=समुद्र **इव**=**ददृशे**=दृष्टः । एतेन तडागस्य जल-बाहुल्यं सूच्यते ॥ १०७ ॥

व्याकरण—**अवनीभुजा** अवनीम् (पृथ्वीम्) भुनक्ति इति√भुज्+क्विप् कर्तरि तृ० । **चिरत्न** चिरंभवतीति चिर+त्नः ('चिर-परुत्-परादिभ्यस्त्नो वक्तव्यः', वार्तिक) । **ददृशे**√दृश्+लिट् कर्मवाच्य ।

हिन्दी—इसके बाद राजा (नल) ने तालाब देखा, जो ऐसा लग रहा था मानो मन्थन के डर के मारे चिरकाल से सञ्चित (और) पहले के रत्नों से (भी कहीं) अधिक धन लेकर उस वन में छिप कर रह रहा समुद्र हो ॥ १०७॥

टिप्पणी—जल-बाहुल्य के कारण तड़ाग पर समुद्र की कल्पना करने से उत्प्रेक्षा है, जो वाचक शब्द न होने से गम्य है। समुद्र के यहाँ आने का कारण यह हुआ कि पहले तो देवासुरों ने मिल कर उसका मन्थन करके उसके सभी चौदह रत्न निकाल लिये थे। मन्थन हुए बहुत समय बीत गया और इस बीच रत्न भी बढ़ कर संख्या में अब पहले की अपेक्षा कितने ही अधिक हो गये। फिर कहीं उसका मन्थन ही न कर बैठे और उसके रत्न न निकाल ले—इस हेतु डर के मारे वह इस वन में छिपकर रह रहा है। कवि की बड़ी अनूठी कल्पना है। पहले के समुद्र की अपेक्षा इस वर्तमान समुद्र में रत्न अधिक होने के कारण व्यतिरेक भी है। उत्प्रेक्षा वाचक शब्द के अभाव में विद्याधर ने यहाँ समासोक्ति मानी है और यह अप्रस्तुत अर्थ गम्य कहा है कि जिस तरह कोई धनी अपना बहुत-सा संचित धन यह भय खाकर कि कहीं कोई राजा आदि न ले बैठे, लाकर कहीं जंगल में छिपा कर रहने लगता है, उसी तरह समुद्र ने भी किया है। किन्तु हमारे विचार से समुद्र तो यहाँ प्रस्तुत ही नहीं है प्रस्तुत तो तड़ाग है। अप्रस्तुत से अप्रस्तुत की गम्यता में समासोक्ति होती ही नहीं। अतः यहाँ गम्योत्प्रेक्षा ही मानना ठीक है। 'रत्न' 'रत्ना' और 'वने' 'ऽवनी' में छेक एवं अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥१०७॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसुच्छवीन्[1] ।
जलार्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदो मृणालजालस्य निभात्[2] **बभार यः ॥ १०८ ॥**

अन्वयः—यः जलार्धरुद्धस्य तटान्तभूभिदः मृणाल-जालस्य निभात् अनन्तोरगपुच्छसुच्छवीन् पयो रदान् बभार ॥ १०८॥

टीका—**यः**=तडागः **जलेन**=अर्धं यथा स्यात्तथा **रुद्धस्य**=छन्नस्य अर्थात् अर्धतिरोहितस्य **तटस्य**=तीरस्य **अन्तः**=प्रान्तभागः (ष० तत्पु०) तस्मिन् या **भू**=भूमिः (स० तत्पु०) ताम् **भिनत्ति**=भनक्ति इत्युक्तस्य तीर-समीपभूमिमुद्भिद्य निर्गतस्येत्यर्थः (उपपद तत्पु०) **मृणालानाम्**=बिसानाम् **जालस्य**=समूहस्य (ष० तत्पु०) **निभात्**=व्याजात् ('निभो व्याज-सदृक्षयोः इति विश्वः) **अनन्त० अनन्तः**=अनन्ताख्यः य **उरगः**=नागः शेष इत्यर्थः (कर्मधा०) तस्य यत् **पुच्छम्**=लाङ्गूलम् (ष० तत्पु०) तद्वत् (उपमान तत्पु०) **सु**=शोभना **छविः** कान्तिः (प्रादि तत्पु०) येषां तथाभूतान् (ब० व्री०) **पयो० पयसि**=जले **निलीनाः**=मग्नाः ये **अभ्रमु कामुकाः** (कर्मधा०) **अभ्रमूणाम्**=दिग्गजानां करेणूनाम् ये **कामुकाः**=इच्छुका ऐरावता इत्यर्थः तेषां या **आवली**=समूहः तस्या **रदान्**=दन्तान् (सर्वत्र ष० तत्पु०) **बभार**=दधौ। तट-प्रान्तोद्भिन्नमृणाल-समूहः जलतिरोहितैरावतार्धप्रकाशित आसन्निति तत्र बहव ऐरावतास्तिष्ठन्ति स्मेतिभावः ॥१०८॥

व्याकरण—**कामुकः** कामयते इति √कम्+उकञ्। यहाँ 'न लोकाव्यय०' (पा० २।३।६९) से षष्ठी का निषेध होकर 'अभ्रमूः कामुकाः' इति द्वितीया समासो मधुपिपासुवत्' यह मल्लिनाथ पता नहीं क्यों लिखगये, क्योंकि 'कमेरनिषेधः यह वार्तिक 'कामुक' में षष्ठी के निषेध का निषेध अर्थात् षष्ठी का विधान कर रहा है, देखिये भट्टोजी—'लक्ष्म्याः कामुको हरिः' **भूभिदः**: √भू+√भिद्+क्विप् कर्तरि।

१. सच्छवीन् २. मिषात्।

हिन्दी—जो (तड़ाग) जल से आधा ढके हुए, तट के पास की भूमि को फोड़े (फोड़कर ऊपर निकले) मृणाल समूह के बहाने शेष नाग के पूंछ की-सी कान्तिवाले, पानी में छिपे ऐरावत समूह के दाँतों को धारण कर रहा था ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—पिछले श्लोक में तड़ाग-रूपी समुद्र में बहु-संख्यक रत्नों का उल्लेख आया है। यहाँ सबसे पहले बहुत से ऐरावत बताये गये हैं, जो पानी के भीतर छिपे हुये हैं किन्तु श्वेत मृणालदण्डों के व्याज से जिनके आधे दाँत ही ऊपर दिखाई दे रहे हैं। इस तरह व्यतिरेकालंकार पूर्ववत् चला आ रहा है, किन्तु यहाँ 'मिष' शब्द वाच्य कैतवापह्नुति से उसका संकर हो रखा है। 'पुच्छ' 'दुच्छ' और 'पाल' 'जाल' में तुक मिलने से पदान्त-गत अन्त्यानुप्रास और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥१०८॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटा-स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैः श्रवसामिवाश्रयन् ॥ १०९ ॥

अन्वयः—यः तटान्त…चुम्बनेन वीचिकशान्तशातनैः चलन् उच्चैःश्रवसाम् सहस्रम् श्रयन् इव बभौ।

टीका—**यः** = तडागः **तटा०-तटस्य** = तीरस्य **अन्ते** = प्रान्तभागे (ष० तत्पु०) **विश्रान्ताः** = विश्रमं कुर्वाणाः स्थिताः इति यावत् (स० तत्पु०) ये **तुरंगमाः** = अश्वा नलस्येति शेषः (कर्मधा०) तेषां **छटा** = श्रेणिरित्यर्थः तस्याः **स्फुटः** = स्पष्टः (ष० तत्पु०) यः **अनुबिम्बः** = प्रतिबिम्बः (कर्मधा०) तस्य **उदयः** = आविर्भावः तस्य **चुम्बनेन** = सम्बन्धेन (सर्वत्र ष० तत्पु०) जलपतितानां तुरंगम-प्रतिबिम्बानां व्याजेनेत्यर्थः **वीचयः** = तरङ्गाः एव **कशाः** अश्वताडिन्यः ('अश्वादेस्ताडनी कशा' इत्यमरः) (कर्मधा०) तासाम् **अन्ताः** = प्रान्ताः (ष० तत्पु०) तैः यानि **शातनानि** = ताडनानि (तृ० तत्पु०) तैः **चलम्** = चञ्चलम् **उच्चैःश्रवसाम्** = एतत्संज्ञकानाम् अश्वानाम् **सहस्रम्** = दशशतीम् **श्रयन्** = प्राप्नुवन् **इव बभौ** = शुशुभे। तीरप्रदेशस्थितानां नलाश्वानां प्रतिबिम्बनात् जले उच्चैः श्रवसां प्रतीतिर्भवति स्मेति भावः। एतेन नलाश्वानां उच्चैःश्रवोभिः साम्यं व्यज्यते ॥ १०९ ॥

व्याकरण— **विश्रान्त** वि√+श्रम् क्तः कर्तरि। **तुरङ्गमः** तुरं (शीघ्रं) गच्छतीति तुर+√गम्+खच् मुम्। **शातनम्**√शो+णिच्+तङ्+ल्युट्।

हिन्दी—जो (तड़ाग) तट के पास विश्राम ले रहे घोड़ों की पंक्ति के स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ने के सम्बन्ध के कारण, हिलती हुई तरंग रूपी चाबुकों की नोकों के प्रहारों से दौड़े जा रहे हजारों उच्चैः श्रवाओं को रखता हुआ जैसा लग रहा था ॥ १०९ ॥

टिप्पणी—पिछले श्लोक में ऐरावतों की अधिकता बताई गई है। तरंगों के हिलने से प्रतिबिम्बों का हिलना स्वाभाविक है, अतः घोड़ों की पानी में हिलती हुई परछाइयाँ ऐसी लग रही हैं मानों जल के भीतर रहने वाले हज़ारों उच्चैः श्रवा चाबुक की मार खाकर दौड़े जा रहे हों। इस तरह यहाँ उत्प्रेक्षा है जिसका व्यतिरेक और 'वीचि कशा' वाले रूपक के साथ संकर बना हुआ है। विद्याधर ने यहाँ अपह्नुति भी मानी है किन्तु अपह्नुति वाचक कैतव आदि शब्द यहाँ कोई नहीं है। यदि अपह्नव

अर्थ मान लें, तो बात दूसरी है । इन अलंकारों से यहाँ नल के घोड़े उच्चैः श्रवा की तरह हैं—य उपमा ध्वनि निकलती है । शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास तो सर्वत्र रहता ही है ।।१०९।।

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद् बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमः समच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहलं[1] वहन् बहु ॥११०॥

अन्वयः—यः अलिश्यामलितोदरश्रियाम् सिताम्बुजानाम् निवहस्य छलात् तमः कुलम् सुधांशो बहलम् कुलम् वहन् बहु बभौ ।

टीका—**यः**=तडागः **अलिभिः**=भ्रमरैः **श्यामलिता**=श्यामलीकृता (तृ० तत्पु०) उदरश्री (कर्मधा०) येषां तेषाम् (ब० व्रीः०) **उदरस्य**=मध्यभागस्य **श्रीः**=शोभा (ष० तत्पु०) अर्था येषां मध्यभागः तत्र स्थितानां भ्रमराणां कारणात् श्यामवर्णीभूता आसन्, **सितानि**=श्वेतानि ता तानि **अम्बुजानि**=कमलानि (कर्मधा०) तेषाम् **निवहस्य**=समूहस्य **छलात्**=व्याजात् **तमः**० **तमसा**=अन्धकारेण **समा**=तुल्या (तृ० तत्पु०) **छाया**=कान्तिः (कर्मधा०) यस्य तथाभूत (ब० व्रीः०) यः **कलङ्कः** (कर्मधा०) तेन **सङ्कुलम्**=व्याप्तम् (ष० तत्पु०) **सुधांशोः** चन्द्रमस **बहलम्**=सान्द्रं घनमितियावत् **कुलम्-वहन्**=धारयन् **बहु**=अधिकं यथास्यात्तथा **बभौ**=शुशुभे पूर्वं समुद्रे एक एव चन्द्रमा आसीत्, अत्र तु भ्रमराधिष्ठितमध्यमागानाम् सितकमलानाम् व्याजे सकलङ्कानां चन्द्रमसां कुलमेव तिष्ठतीति भावः ॥ ११० ॥

व्याकरण—**अम्बुजम्** अम्बुनि (जले) जायते इति अम्बु+√जन्+ड । **श्यामलित** श्याम करोतीति इस अर्थ में णिच् लगाकर श्यामलयति (नाम धा०) बना के निष्ठा में क्त ।

हिन्दी—जो (तडाग) भ्रमरों द्वारा काली बना दी गई मध्य भाग की कान्ति वाले श्वेत कम के समूह के बहाने अन्धकार की सी कान्ति वाले कलंक से युक्त चन्द्रमाओं के घने समूह को धार करता हुआ अच्छा शोभित हो रहा था ।

टिप्पणी—मन्थन समय में एक ही चन्द्रमा था । किन्तु अब यहाँ चन्द्रमाओं की भरमार है गोल २ श्वेत कमलों के मध्य भाग पर भ्रमर बैठने से वे काले बने हुये हैं । श्वेत चन्द्रमा पर अन्धेरा सा कलंक रहता है । इस साम्य को लेकर कमलों का अपह्नव करके चन्द्रमाओं की स्थाप होने से अपह्नुति है, जिसका पूर्ववत् चले आ रहे व्यतिरेक से संकर है । 'कुलं' 'कुलं' में यम 'बह' 'बहु' में छेकानुप्रास है, लेकिन 'बवयोरभेदः' मानकर यदि 'वह' को भी ले लें, तो एक अधिक बार वर्ण साम्य होने के कारण छेक न होकर वृत्त्यनुप्रास हो जाएगा ॥११०॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृणालशेषाहिभुवान्वयायि यः ॥ १११ ॥

अन्वय—यः सरो...वात् रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन मृणालशेषाहिभु शार्ङ्गिणा अन्वयायि ।

---

१ बहलं

टीका—यः=तडागः **सरो०-सरोजिनीनाम्**=कमलिनीनाम् ये **स्तम्बाः**=गुल्माः ('अप्रकाण्डे स्तम्ब-गुल्मौ' इत्यमरः) तेषां **कदम्बस्य**=समूहस्य **कैतवात्**=व्याजात् (सर्वत्र ष० तत्पु०) **रथाङ्गाः**=चक्राङ्गाः हंसा इत्यर्थ; ('**हंसास्तु**=श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः) ताम् (विष्णुपक्षे) **रथाङ्गम्**=चक्रम् सुदर्शनचक्रमिति यावत् तत् **भजति**=सेवते इति तथोक्तेन (उपपद तत्पु०) **कमलानाम्**=पद्मानाम् अन्यत्र **कमलायाः**=लक्ष्म्या **अनुषङ्गः**=संसर्गः अस्यास्तीति तथोक्तेन=(ष० तत्पु०) **शिलीमुखाः**=भ्रमराः तेषां **स्तोमः**=समूहः तस्य सखा=मित्रम् तेन भ्रमरसहितेनेत्यर्थः। अन्यत्र सदृशः तेन (उभयत्र ष० तत्पु०) **मृणालं शेषाहिः**=शेषनाग इवेति मृणालशेषाहि- (उपमित तत्पु०) तस्य **भूः**=उत्पत्तिस्थानम् तथा, अन्यत्र **मृणालम्**=इव **शेषाहिः** (उपमान तत्पु०) **भूः**=स्थानम् शयनस्थानमिति यावत् (कर्मधा०) यस्य तथाभूतेन (ब० व्री०) **शार्ङ्गिणा**=कृष्णेन विष्णुनेति यावत्, उपमेयभूतकदम्बस्यैकवचनत्वेन शार्ङ्गिणेत्यत्रापि एकवचनत्वम्, वस्तुतोऽत्र जातावेकवचनं मत्वा कदम्बैः, शार्ङ्गिभिरिति बहुवचनं विवक्षितं विष्णोरेकत्वे व्यतिरेका-प्रसङ्गात्। अत्र तु बहवो विष्णवः सन्तीति व्यतिरेकः, **अन्वमायि**=अनुगतः अधिष्ठितः युक्त इति यावत् अस्ति। सरोजिनी-स्तम्ब-कदम्ब-कैतवेनात्र समुद्रे बहवो विष्णवः सन्तीति भावः॥ १११॥

व्याकरण—०**भाजा** भजतीति √भज+क्विप् कर्तरि तृ०। **शार्ङ्गिणा** शार्ङ्गम् अस्यास्तीति शार्ङ्ग+इन्। **शार्ङ्गम्** शृङ्गस्येदम् इति शृङ्ग+अण् सींग का बना हुआ धनुष कृष्ण का होता है, इसीलिए उन्हें शार्ङ्गी कहते हैं। कृष्ण विष्णु ही होते हैं। ०**सखेन** ध्यान रहे कि राजन् और पथिन् शब्दों की तरह सखिन् भी समास में राम शब्द की तरह अकारान्त बन जाया करता है। **अन्वयायि** अनु+√या+लुङ् कर्मवाच्य।

हिन्दी—जो (तड़ाग) रथाङ्गों (हंसों) से सेवित, कमलों से युक्त, भ्रमर-समूह साथ लिए (तथा) शेषनाग-जैसे (सफेद) मृणालों के उत्पत्ति-स्थानभूत कमलिनियों की झाड़ियों के समूह के ब्याज से रथाङ्ग (चक्र) लिये, कमला (लक्ष्मी) को साथ रखे, भ्रमर-समूह-जैसे (काले रंग के) तथा मृणाल के समान (श्वेत) शेषनाग को अपना (शयन)-स्थान बनाये हुए कृष्ण से अनुगत (=भरा हुआ) था॥ १११॥

टिप्पणी—पहले समुद्र में एक ही विष्णु शेषशयन किया करते थे जबकि यहाँ हजारों विष्णु शेषशयन कर रहे हैं। श्लोक में शार्ङ्गगत एक वचन जातिपरक होने से बह्वर्थ-वाचक है। यहाँ विष्णु बने हैं कमलिनियों के झाड़। कवि ने श्लेष द्वारा ऐसा चमत्कार दिखाया है कि विष्णुगत सभी धर्म झाड़ों में भी पाये जाते हैं भले ही विभक्ति तथा समास में थोड़ा-बहुत हेरफेर क्यों न करना पड़े जैसे श्लेष में प्रायः हुआ ही करता है। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से रथाङ्गभाजा आदि तृतीयान्त विशेषण तृतीयान्त शार्ङ्गिणा से तो लग जाते हैं किन्तु 'सरोजिनीस्तम्बकदम्ब' के साथ नहीं लग सकते, क्योंकि वह कैतव पद के साथ समस्त हो गया है। व्याकरण का नियम है—'सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य च विशेषणायोगो न'। यहाँ समास-वृत्ति हो गई है, किन्तु कवि को वहाँ भी विशेषण-योग विवक्षित है; अतः साहित्य-क्षेत्र में, जैसा कि हम अन्यत्र भी देखते हैं, श्लेष-स्थलों में प्रायः विभक्ति-व्यत्यय किया जाता है। हमें भी यहाँ ऐसा ही करना पड़ा। यहाँ श्लेष, उपमा, अपह्नुति

और व्यतिरेक का संकर है। पहले और दूसरे पाद में 'ङ्गिणी' 'ङ्गिणी' की तुकबन्दी से अन्त्यानुप्रास और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार है ॥१११॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गरेखा बिभराम्बभूव यः।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसंचयश्च यः ॥ ११२ ॥

अन्वयः— यः अङ्कजुषः तरङ्गरेखाः (एव) स्व-वल्लभाः तरङ्गिणीः बिभराम्बभूव; यः च दरोद्गतैः कोकनदौघ-कोरकैः धृत-प्रवालाङ्कुर-सञ्चयः (आसीत्)।

टीका— यः=तडागः **अङ्कम्**=मध्यम् जुषन्ते सेवन्ते इति अङ्कजुषः (उपपद तत्पु०) **तरङ्गाणाम्**=वीचीनाम् **रेखाः**=मालाः (ष० तत्पु०) (एव) **स्वाः**=स्वकीया **वल्लभाः**=प्रियाः **तरङ्गिणीः**=नदीः **बिभराम्बभूव**=दधौ; यः=तडागः **दरम्**=ईषत् यथा स्यात् तथा **उद्गतैः**= उद्भूतैः (सुप्सुपेति समासः) **कोकनदानाम्**=रक्तोत्पलानाम् यः **ओघः**=समूहः (ष० तत्पु०) तस्य **कोरकैः**=कलिभिः **धृत०-प्रवालानाम्**=विद्रुमाणाम् **अङ्कुराः**=प्ररोहाः तेषां **सञ्चयः**= समूह इति प्रवालाङ्कुरसञ्चयः (उभयत्र ष० तत्पु०) धृतः प्रवाल० येन तथाभूतः (ब० व्री०) आसीत् यथा समुद्र नद्यः प्रविशन्ति विद्रुमाश्च भवन्ति, तथा अत्रापि तरङ्गरूपेण नद्यः कोकनदाङ्कुर-रूपेण च विद्रुमाः सन्तीति भावः ॥ ११२ ॥

व्याकरण—०**जुषः**√जुषन्ते इति√जुष्+क्विप् कर्तरि। **बिभराम्बभूव**—√भृ+आम्+भू+लिट् ('भी-ह्री-भृ-हुवां श्लुवच्च' (पा० ३।१।३९)।

हिन्दी— जो (तड़ाग) मध्य-स्थित तरङ्ग-मालाओं के रूप में अपनी प्रियतमा नदियों को रख रहा था; और जो (तड़ाग) कुछ ऊपर निकले, लाल कमल-समूह की कलियों के रूप में मूँगों के अंकुरो का समूह रख रहा था ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—यहाँ तरङ्गमालाओं पर नदीत्व का और कोकनद-कलियों पर विद्रुमाङ्कुरत्व का आरोप होने से दो रूपकालंकार है। जिनको परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि है। विद्याधर ने आर्थ अपह्नव मानकर कोकनद-कोरकों के बहाने प्रवालांकुर रख रहा था—इस तरह अपह्नुति मानी है। 'रङ्गि' 'रङ्ग' तथा 'बिभे' 'बभू' में छेक तथा अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ११२॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—यः नलेन महीयसः गौरस्य मेचकस्य च पङ्कज-मण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयोः विधु-कालकूटयोः त्विषम् विमुञ्चन् मेने।

टीका—**यः**=तडागः **नलेन**=**महीयसः**=अतिशयेन महतः **गौरस्य**=श्वेतस्य **मेचकस्य**= श्यामस्य **पङ्कजानाम्**=कमलानाम् **मण्डलस्य**=समूहस्य (ष० तत्पु०) **छलेन**=व्याजेन **सलिले**= जले **निलीनयोः**=मग्नयोः **विधुः**=चन्द्रश्च **कालकूटः**=एतत्संज्ञक विषश्च तयोः (द्वन्द्वः) **त्विषम्**=कान्तिम् **विमुञ्चन्**=उद्गिरन् **मेने**=अशङ्कि ॥ ११३ ॥

व्याकरण—**महीयसः** अतिशयेन महान् इति महत्+ईयसुन्। **त्विषः**√त्विष् क्विप् भावे द्वि० ब०। **मेने**√मन्+लिट् कर्मवाच्य।

हिन्दी—जिस (तड़ाग) को नल ने सफेद और नीले रंग के बड़े भारी कमल-समूह के बहाने पानी के भीतर छिपे चन्द्रमा और कालकूट-विष की कान्ति को छोड़ता हुआ जैसा समझा ॥ ११३ ॥

टिप्पणी—चन्द्र के श्वेत और कालकूट के काला होने के कारण यहाँ छल शब्द से श्वेत और नील कमलों का प्रतिषेध करके उनमें विधुत्व और कालकूटत्व की स्थापना करने से अपह्नुति 'मेने' शब्द से अभिहित उत्प्रेक्षा तथा 'गौर' और 'मेचक' का 'विधु' और 'कालकूट' से क्रमशः अन्वय में यथासंख्य का संकर है। 'नल' 'निलो' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥११३॥

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्पराः ।
ध्रुवं दधुर्वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यत्र तरङ्ग-रिङ्गणैः चलीकृताः अबाल-शैवाल-लता-परम्पराः वाडव…धूमताम् दधुः (इति) ध्रुवम् ।

टीका—यत्र=तडागे **तरङ्गाणाम्**=वीचीनाम् **रिङ्गणैः**=कम्पनैः स्खलनैरित्यर्थः **चलीकृताः**=चाञ्चल्यम् प्रापिताः **न बालाः**=लघ्व्यः इति **अबालाः**=(नञ् तत्पु०) महत्य इत्यर्थः याः**शैवाल-लता**=जलनीली-वल्लर्यः (कर्मधा०) शैवालानां लता इति (ष० तत्पु०) तासां **परम्पराः**=पंक्तयः समूहा इति यावत् (ष० तत्पु०) **वाडव०-वाडवश्चासौ=हव्यवाट्**=वाडवाग्निः **अवस्थितिः**=समुद्र-जलाभ्यन्तरे अवस्थानम् (ष० तत्पु०) तेन **प्ररोहत्तम** अतिशयेन प्ररोहन् प्रादुर्भवन्नित्यर्थः (तृ० तत्पु०) **भूमा**=बाहुल्यम् (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) **धूमः**=(कर्मधा०) तस्य भावः तत्ता ताम् **दधुः**=धारयामासुः ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्, समुद्रे हि वाडवाग्निस्तिष्ठति, सोऽत्रापि तिष्ठति यस्य धूम-समूहस्तरङ्ग वलितशैवाललता-समूह-रूपेणावलोक्यते इति भावः ॥ ११४ ॥

व्याकरण—रिङ्गणम्√रिङ्ग्+ल्युट् भावे । **हव्यवाट्** हव्यं वहतीति हव्य=√वह्+ण्विः 'वहश्च' (पा० ३।२।६४), किन्तु यह वैदिक प्रयोग है। लोक में इसके पर्याय हव्यवाहन का प्रयोग होता है। पता नहीं क्यों कवि ने यहाँ वैदिक शब्द का प्रयोग किया है। **प्ररोहत्तम** प्र+√रुह्+शतृ=प्ररोहन् अतिशयेन प्ररोहन्निति प्ररोहत् तमप् । **दधु** √धा+लिट् ।

हिन्दी—जिस (तडाग) में तरंगों के चलते रहने से हिल रही सिवार की बड़ी-बड़ी लताओं की पंक्तियाँ मानो (जल के नीचे छिपी) वाडवाग्नि के रहने के कारण अत्यधिक मात्रा में उठ रहे धुएँ का रूप रख रही हों ॥ ११४ ॥

टिप्पणी—समुद्र में वाडवाग्नि रहा करती है। उसे वाडवाग्नि इसलिए कहते हैं कि उसका मुँह वड़वा (घोड़ी) का-सा रहता है। प्रलयकाल में सारा समुद्र सुखाकर वह संसार को भस्म कर देती है। तडाग में हरी-काली सिवार की लतायें तरंगों से टकराकर जल के भीतर लहरा रही थी। उनपर कवि वाडवाग्नि के लहराते हुए धुएँ की कल्पना कर बैठा इसलिए यहाँ उत्प्रेक्षा है, जिसका वाचक शब्द ध्रुवम् है। 'बवयोरभेदः' नियम के अनुसार 'बाल' 'वाल' तथा 'बाडव' 'वाडव' में यमक, 'रङ्ग' 'रिङ्ग' में छेक, और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। 'हव्यवाट्' में अप्रयुक्तत्व दोष है ॥११४॥

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बितामोदभरं विवृण्वती ।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता ॥ ११५ ॥

अन्वयः—आदित्यम् अवाप्य कण्टकैः प्रकामम् करम्बिता आमोद-भरम् विवृण्वती दिवा धृत-स्फुट-श्री-गृह-विग्रहा यत्प्रभवा सरोजिनी अप्सरायिता ।

टीका—**आदित्यम्**=सूर्यम् अथ च देवम् इन्द्रमित्यर्थः **अवाप्य**=प्राप्य **कण्टकैः**=नालगतैः तीक्ष्णाग्रैः अवयवैः, अथ च रोमाञ्चैः प्रकामम् भृशम् यथा स्यात्तथा, आदित्यपक्षे इदं आदित्यस्य विशेषणम् प्रकृष्टः **कामः**=कामविकारो यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) **करम्बिता**=युक्ता **आमोदस्य**=सौरभस्य **भरम्**=बाहुल्यम् (ष० तत्पु०) अथ च **आमोदस्य**=हर्षस्य भरम्, **विवृण्वती**=प्रकटयन्ती **दिवा**=दिने धृतः **स्फुटानि**=विकसितानि **श्रीगृहाणि**=कमलानि (कर्मधा०) कमलं हि लक्ष्म्या गृहं भवति अतएव सा पद्मालयेत्यप्युच्यते एव **विग्रहः**=शरीरम् (कर्मधा०) यया, अथ च दिवा स्वर्गेण धृतः **स्फुटाया**=देदीप्यमानायाः (कर्मधा०) **श्रियः**=शोभायाः (ष० तत्पु०) **गृहं**=आस्पदम् (ष० तत्पु०) **विग्रहः**=शरीरं (कर्मधा०) यस्याः सा (ब० व्री०) स्वर्गवासिनीत्यर्थः **यत्प्रभवा**=यः (तडागः) **प्रभवः**=उत्पत्तिस्थानं यस्याः तथाभूता (ब० व्री०) **सरोजिनी**=कमलिनी **अप्सरायिता**=अप्सरा इव आचरिता । अत्र सरोजिनीति जातावेकवचनम् सरोजिन्योऽप्सरसां तुल्या आसन्निति भावः ॥११५॥

व्याकरण—**आदित्यः** अदितेः अपत्यं पुमान् इति अदिति+ण्यः । **सरोजिनी** सरोजानि अस्यां सन्तीति सरोज+इन्+ङीप् (कमललता) । **प्रभवः** प्रभवत्यस्मादिति प्र—√भू+अप् पञ्चम्यर्थे । **अप्सरायिता** अद्भ्यः सरन्ति=उद्गच्छन्तीति अप्+सृ+असुन् अप्सरसः ('अप्सु निर्मथनादेव रसात् तस्माद्वरस्त्रियः । उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ट ! तस्मादप्सरसोऽभवन्' (रामा०) अप्सरा इव आचरतीति अप्सरस्+क्यङ् सलोपश्च ।

हिन्दी—आदित्य (सूर्य के प्रकाश) को प्राप्त करके कण्टकों (काँटों) से भरी, आमोद (सौरभ) का अतिशय प्रकट करती हुई, दिन में खिले हुए कमलों को (ही) शरीर-रूप में धारण किये हुए जिस (तडाग) की कमलिनियाँ अत्यधिक कामविकार वाले आदित्य (इन्द्र) को प्राप्त करके कण्टकों (रोमाञ्चों) से भरी, आमोद (हर्ष) का अतिशय प्रकट करती हुई उन अप्सराओं के समान थीं । जिन देदीप्यमान सौन्दर्यास्पद शरीरवालियों को स्वर्गलोक धारण किये हुए है ॥११५॥

टिप्पणी—अप्सरायें समुद्र में रहा करती हैं और मन्थन के समय निकलीं । इस तड़ाग में भी सरोजिनियों के रूप में अप्सरायें वास कर रही हैं । दोनों का समान धर्म बताने हेतु कवि ने श्लेष का सहारा लिया है । अधिकतर साधर्म्य श्लेष के कारण शाब्द ही है, किन्तु जलनिवास और सौन्दर्य में साधर्म्य वास्तविक भी है । इस तरह यहाँ श्लेषानुप्राणित उपमा है । शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ।।११५।।

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः ।
निमज्य मैनाकमहीभृतः सतस्तताम पक्षान्धुवतः सपक्षताम् ॥ ११६ ॥

अन्वयः—यदम्बु-पूर-प्रतिबिम्बितायतिः मरुत्तरङ्गैः तरलः तट-द्रुमः निमज्य सतः पक्षान् धुवतः मैनाक-महीभृतः सपक्षताम् ततान ।

टीका—**यस्य**=तडागस्य **अम्बु**=जलम् तस्य यः **पूरः**=प्रवाहः (उभयत्र ष० तत्पु०) तस्मिन् **प्रतिबिम्बिता**=प्रतिफलिता (स० तत्पु०) **आयतिः**=दैर्घ्यम् (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब०व्री०) **मरुता**=वायुना चालिताः **तरङ्गाः**=मरुत्तरङ्गाः (मध्यमपदलोपो स०) तैः **तरलः**=चञ्चलः, **तटस्य**=तीरस्य **द्रुमः**=वृक्षः (ष० तत्पु०) **निमज्ज्य**=जले निलीय **सतः**=विद्यमानस्य **पक्षान्**=गरुतः **धुवतः**=कम्पयतः **मैनाकः**=एतत्संज्ञकश्चासौ **महीभृत्**=पर्वतः (कर्मधा०) तस्य **सपक्षताम्**=सादृश्यम् अथ च पक्षसहितत्वम् **ततान**=विस्तारयामास । तडागतीरस्थितवृक्षो जले प्रतिबिम्बितः, चञ्चलतरङ्गकारणात् चञ्चलीभवन् जलान्तर्निलीन-मैनाकपर्वत-समानो दृश्यते स्मेति भावः ॥ ११६ ॥

व्याकरण—**पूरः** √पूर् + घञ् वृद्धयभाव । **प्रतिबिम्बित** प्रतिबिम्बः संजातोऽस्येति प्रतिबिम्ब + इतच् । **धुवतः** √धू + शतृ + ष० । **सपक्षता** पक्षैः (गरुद्भिः) सह वर्तमान इति सपक्षः अथ च समानः पक्षः (स्थितिः) यस्य स सपक्षः सह और समान को स आदेश, तस्यभावः तत्ता ।

हिन्दी—जिस (तड़ाग) के जल-प्रवाह में प्रतिबिम्बित हुई लम्बाई वाला, वायु से हिलाई गई तरंगों से चञ्चल बना हुआ तट का वृक्ष (पानी में) डूबे और पंखों को हिला रहे मैनाक पर्वत की सपक्षता (समानता ; पक्षयुक्तता) कर रहा था ॥ ११६ ॥

टिप्पणी—समुद्र के भीतर मैनाक पर्वत रहता है । इस तालाब में किनारे की वृक्ष की हिलती हुई लंबी परछाई मैनाक के समान बनी हुई है अर्थात् यहाँ भी मैनाक पर्वत रह रहा है । मैनाक हिमालय का पुत्र, पार्वती का भाई है, जो इन्द्र द्वारा सभी पर्वतों के पंखों के काटे जाने के समय भाग कर समुद्र में जा छिपा था और अब भी डर के मारे वहीं रह रहा है । यहाँ मैनाक की वृक्ष-प्रतिबिम्ब के साथ समानता बताई जाने से उपमा है, जो सपक्षता शब्द में श्लिष्ट है । सखा आदि शब्दों की तरह सपक्ष शब्द सादृश्य अर्थ बताने में लाक्षणिक है । प्रतिबिम्बित वृक्ष की लहराती टहनियों में हिलते हुए पंखों की समानता थी । 'तर' 'तर' और 'पक्षा' 'पक्ष' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥ ११६ ॥

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥ ११७ ॥
प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम् ।
स्मरार्जितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥ ११८ ॥

अन्वयः—स नैषधः तत्र पयोधि-लक्ष्मी-मुषि केलि-पल्वले रिरंसु-हंसी-कल-नाद-सादरम्, अन्तिके विचरन्तम्, बालासु रति-क्षमासु च प्रियासु चञ्च्वोः चरण-द्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितम् पल्लवितम् च स्मरार्जितम् राग-महीरुहाङ्कुरम् बिभ्रतम्, चित्रम् हिरण्मयम् हंसम् अबोधि ॥११७-११८॥

१. चञ्चलाः

टीका – स **नैषधः** = निषधाधिपतिर्नलः **तत्र** = तस्मिन् **पयोधिः** = समुद्रः तस्य **लक्ष्मीः** = शोभा (ष० तत्पु०) तां **मुष्णाति** = अपहरतीति तथोक्ते (उपपद तत्पु०) समुद्र-सदृशे इत्यर्थः **केलये** = क्रीडार्थं **पल्वलम्** = सरः (च० तत्पु०) तस्मिन् **रिरंसु०** = रन्तुमिच्छन्तीति **रिरंसवश्च** = ताः **हंस्यः** = हंसपत्न्यः (कर्मधा०) रमणेच्छावत्यो हंस्य इति यावत् तासां **कलः** = अव्यक्तमधुरः (ष० तत्पु०) **नादः** = शब्दः (कर्मधा०) तस्मिन् **सादरम्** = आदरसहितम् उत्सुकमित्यर्थः (स० तत्पु०) **अन्तिके** = हंसीनां समीपे **विचरन्तम्** = विचरणं कुर्वन्तम् **बालासु** = किशोरीषु = आसन्न-यौवनास्वित्यर्थः **रतिः** = संभोगः तस्मिन् **क्षमासु** = समर्थासु च **प्रियासु** = प्रणयिनीषु विषये **चञ्च्वोः** = त्रोटयोः ('चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियाम्' इत्यमरः) **चरणयोः** = पादयोः **द्वयम्** = युगलम् (ष० तत्पु०) तस्य (ष० तत्पु०) **मिषेण** = कैतवेन **द्विपत्रितम्** = पत्रद्वययुक्तं **पल्लवितम्** = सञ्जात-पल्लवं च **स्मरेण** = कामेन **अर्जितम्** = उत्पादितमित्यर्थः (तृ० तत्पु०) **रागः** = अनुराग **एव महीरुहः** = वृक्षः (कर्मधा०) तस्य **अङ्कुरम्** = प्ररोहम् **बिभ्रतम्** = धारयन्तम्, बालासु हंसीषु द्विपत्रितम् रागाङ्कुरम् स्वल्पानुरागमित्यर्थः युवतिषु च हंसीषु पल्लविताङ्कुरम् भूयांसमनुरागमित्यर्थं इति क्रमशोऽन्वयः, **चित्रम्** = अद्भुतम् **हिरण्मयम्** = सुवर्णमयम् **हंसम्** **अबोधि** = अज्ञासीत् दृष्टवानित्यर्थः ॥ ११७–११८ ॥

व्याकरण—**नैषधः** इस शब्द के सम्बन्ध में पीछे ३६ वाँ श्लोक देखिए । **०मुषि**√मुष्+क्विप् कर्तरि स० । **रिरंसुः** रन्तुमिच्छुः इति√रम्+सन्+उ । **रतिः**√रम्+क्तिन् भावे । **द्विपत्रितम्** द्वे पत्रे सञ्जातेऽस्येति द्विपत्र+इतच् । **पल्लवितम्** पल्लवानि सञ्जातान्यस्येति पल्लव+इतच् । **बिभ्रतम्**√भृञ्+शतृ, नुम् का अभाव द्वि० । **हिरण्मयम्** हिरण्यम् एवेति हिरण्य+मयट् (स्वार्थे) 'दाण्डि··हिरण्मयानि' (पा० ६।४।१७४) से निपातित । **अबोधि**√बुध्+चिण् लुङ् (कर्तरि) ।

हिन्दी – वह निषधाधिपति नल समुद्र की शोभा चुराने वाले उस क्रीड़ा-सरोवर पर रमण की इच्छा रखने वाली हंसिनियों के मधुर शब्द की ओर आदर-भाव रखे, समीप में ही विचरण करते हुए, किशोरियों और संभोगसमर्थ प्रियतमाओं के प्रति चोंच और दो चरणों के बहाने दो पत्ते तथा (बहुत) पत्ते वाले, काम द्वारा लगाये अनुराग-रूपी वृक्ष का अंकुर धारण करते हुए एक विचित्र सोने के हंस को देख बैठा ॥ ११७–११८ ॥

टिप्पणी—जहाँ एक ही वाक्य एक श्लोक में समाप्त न होकर दो में चला जाता है, उसे युग्मक कहते हैं । ये दो श्लोक भी युग्मक हैं, इसलिए एक ही साथ दोनों की व्याख्या करना हमने उचित समझा है जबकि अन्य टीकाकार पृथक् २ व्याख्या कर रहे हैं । हंस की चोंच और दोनों पैर राग वाले (लाल) थे । इस पर कवि कामवृक्ष के अंकुर की कल्पना कर रहा है । चोंच और पैरों का राग (लाली) तथा हृदय का राग (अनुराग) दोनों अभिन्न होकर एक बन गये हैं । अन्य वृक्षों की तरह काम-वृक्ष पर भी अंकुर फूट कर पहले दो पत्ते निकले जो हंस के चञ्चु पुट रूप में थे । ये दो पत्तोंवाला अनुराग बालाओं-आसन्न-यौवनाओं के प्रति था, जो अभी रति-क्षम नहीं होने पाई थीं, लेकिन दो चरणों के रूप में अनुराग पल्लवित हो उठा था जो रति-क्षम पूर्ण-यौवन-प्राप्त-रमणियों के लिए था । इस तरह सबसे पहले यहाँ कवि दो विभिन्न रागों के अभेदाध्यवसाय द्वारा

भेदे अभेदातिशयोक्ति खड़ी करके काम पर वृक्षत्वारोप से रूपक बनाता है, फिर उनसे चञ्चु और चरणों का अपह्नव करके उनमें द्विपत्रित और पल्लवित अंकुर की स्थापना से अपह्नुति जोड़कर द्विपत्रित और पल्लवित अनुराग का क्रमशः बालाओं और रतिक्षमाओं से सम्बन्ध बताकर यथासंख्य भी दिखा रहा है। इसके बाद यह कल्पना करता है कि चोंच और चरणों का यह राग मानो बाहर प्रकट हुआ। हंस का भीतरी राग (प्रेम) है। यह उत्प्रेक्षा है, जो गम्य है वाच्य नहीं। इस प्रकार यहाँ इन सभी का अङ्गाङ्गिभाव संकर है। 'पयोधिलक्ष्मीमुषि' में उपमा है, क्योंकि हम पीछे बता आये हैं कि दण्डी ने 'सौन्दर्य चुराना' आदि लाक्षणिक मुहावरों का सादृश्य में ही पर्यवसान माना है। उपमा की यहाँ संकर से संसृष्टि ही मानी जाएगी। **केलिपल्वले**—एक ओर कवि सरोवर को **'पयोधि लक्ष्मीमुषि'** बता रहा है, तो दूसरी ओर उसे **'केलिपल्वले'** कह रहा है। पल्वल अल्प जल वाली तलैया को कहते हैं जिसमें भला इतनी शक्ति कहाँ कि वह **'पयोधि-लक्ष्मी-मुट्'** बने। यह कवि का अनौचित्य ही समझिये। यहाँ **केलिसरसि** कहना ही उचित था।।११७-११८।।

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत्॥ ११९॥

अन्वयः—स महीमहेन्द्रः एकान्त-मनोविनोदिनम् तम् शकुन्तम् क्षणम् अवेक्ष्य प्रिया-वियोगात् निर्भरम् विधुरः अपि (सन्) मनाक् कुतूहलाक्रान्त-मनाः अभूत्।

टीका—सः मह्याः इन्द्रः महेन्द्रः पृथ्वीन्द्रः (ष० तत्पु०) **एकान्तम्** नितान्तं यथा स्यात्तथा **मनोविनोदयति** रञ्जयतीति तथोक्तम् (उपपद तत्पु०)। **तम् शकुन्तम्** पक्षिणम् हंसमित्यर्थः **क्षणं** मुहूर्तम् **अवेक्ष्य** अवलोक्य **प्रियायाः** प्रणयिन्याः दमयन्त्या इति यावत् **वियोगात्** विरहात् (ष० तत्पु०) **निर्भरम्** भृशं यथा स्यात्तथा **विधुरः** विह्वलः अपि (सन्) **मनाक्** ईषद् यथा स्यात्तथा **कुतूहलेन**=कौतुकेन **आक्रान्तम्** अधिष्ठितम् (तृ० तत्पु०) **मनः** चित्तम् (कर्मधा०) यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) **अभूत्** सञ्जातः ॥ ११९ ॥

व्याकरण—**क्षणम्** कालात्यन्त-संयोग में द्वि०। **०विनोदिनम्** वि+नुद्+णिच्+णिन् ताच्छील्यार्थे द्वि०। **विधुरः** विगता धूः=कार्य-भारो यस्मादिति (प्रादि ब० व्री०) दुःखी।

हिन्दी—वह पृथ्वी का इन्द्र (नल) अतिमनो-रञ्जक उस पक्षी को क्षणभर देखकर प्रिया-वियोग के कारण अत्यन्त विह्वल होता हुआ भी मन में कुतूहल-पूर्ण हो उठा ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—'मही' 'महे' और 'कुन्त' 'कान्त' में छेक, 'मना' 'मना' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥ ११९ ॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥ १२० ॥

अन्वयः—अवश्य-भव्येषु अनवग्रह-ग्रहा वेधसः स्पृहा यया दिशा, धावति, तया भृशावशात्मना जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या इव (वेधसः स्पृहा) अनुगम्यते।

टीका—**अवश्यं**=यथा स्यात्तथा **भव्येषु**=भवितव्येषु शुभाशुभार्थेषु (सुप्-सुपेति समासः)

अवग्रहः=रोधः बाधेति यावत् न अवग्रहः इत्यनवग्रहः (नञ् तत्पु०) यस्मिन् तथाभूतः (ब० व्री०) यो ग्रहः अभिनिवेशः निर्बन्ध इति यावत् ('ग्रहोऽनुग्रह-निर्बन्ध-ग्रहणेषु रणोद्यमे' इति विश्वः) (कर्मधा०) यस्यां तथाभूता (ब० व्री०) निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत् **वेधसः**=विधातुः **स्पृहा**=इच्छा **यया दिशा**=मार्गेण **धावति**=गच्छति, **तया**=दिशा एव, **भृशम्**=नितान्तम् यथा स्यात्तथा **अवशः**==न **वशं**=नियन्त्रणम् यस्मिन् तथाभूतः (ब० व्री०) **आत्मा**=स्वरूपं यस्य तेन (ब० व्री०) विधात्रिच्छाधीनेनेत्यर्थः **जनस्य**=लोकस्य **चित्तेन**=मनसा भृशावशात्मना **तृणेन**=घासेन **वात्या**=वातानां समूह **इव**=वेधसः स्पृहा **अनुगम्यते**=अनुस्रियते, अवशो हि तृणो येन यथा वात्या गच्छति तेनैव पथा यथा गच्छति तथैव पथा विधातैच्छति तथैव लोकानां मनोऽपि करोतीति भावः ॥ १२० ॥

व्याकरण—अवश्य **भव्य**—भवतीति$\sqrt{}$भू+यत् कर्तरि (भव्य-गेय-प्रवचनीयो०' (पा० ३।४।६८) से निपातित अवश्यं भव्य इति 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इस नियम से अवश्यम् के म का लोप। **अवग्रह**: अव+$\sqrt{}$ग्रह्+घञ्। **वात्या** वातानां समूह इति वात+य ('पाशादिभ्योयः' पा० ४।२।४९)।

हिन्दी—अवश्य होनहार बातों में जिस ओर विधाता की बेरोक-टोक हठ वाली इच्छा जाती है, उसी ओर लोगों का अत्यन्त विवश हुआ मन (भी) उसके पीछे-पीछे इस तरह जाता है जैसे अत्यन्त विवश हुआ तिनका आँधी-तूफान के पीछे-पीछे जाया करता है ॥ १२० ॥

टिप्पणी—यह कितनी विचित्र बात है राजा नल के धीरोदात्त नायक होने पर भी उसका मन हंसके प्रति चञ्चल हो उठा और वह उसे पकड़ने की सोचने लगा। नल भी क्या करता। यह तो सब विधाता की इच्छा है कि नल हंस को पकड़े और उसे माध्यम बनाकर दमयन्ती के साथ विवाह की योजना बनावे। यहाँ विधाता की इच्छा के पीछे जन-मन के जाने की तुलना वात्या के पीछे-पीछे जाने वाले तृण से करने से उपमा है। "ग्रहग्रहा" में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥ १२० ॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः।
स तिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्रमालसः ॥ १२१ ॥

अन्वयः—अथ तदा रतिक्रमालसः स खगः एकपादिकाम् अवलम्ब्य तिर्यगावर्जित-कन्धरः पक्षेण शिरः पिधाय क्षणम् उपपल्वलम् निदद्रौ।

टीका—**अथ**=अनन्तरम् **तदा**=तस्मिन् समये **रतेः**=सम्भोगस्य यः **क्रमः**=खेदः (ष० तत्पु०) तेन **अलसः**=आलस्ययुक्तः (तृ० तत्पु०) **स खग**=पक्षी हंस इत्यर्थः **एकपादिकाम्**=**एकः** पादोऽस्यामस्तीति तथोक्ताम् स्थितिम् **अवलम्ब्य**=आश्रित्य एकपादेन स्थित्वेत्यर्थः **तिर्यक्**=वक्रं यथा स्यात्तथा **आवर्जिता**=नीचैः कृता (सुप्सुपेति समासः) **कन्धरा**=ग्रीवा (कर्मधा०) येन तथाभूतः (ब० व्री०) **पक्षेण**=गरुता **शिरः**=शीर्षम् **पिधाय**=आच्छाद्य **उपपल्वलम्**=पल्वलस्य समीपमिति (अव्ययीभाव) **क्षणम्**=मुहूर्तम् **निदद्रौ**=सुष्वाप।

व्याकरण—**एकपादिकाम्** (स्थितिम्) एकश्चासौ पादः एकपादः सोऽस्यामस्तीति एकपाद+

ठन् (मतुबर्थे) ठ को इक् + टाप् द्वि० । वैसे देखा जाय, जो 'न कर्मधारयात् मत्वर्थीयः' इस नियमानुसार यहाँ मत्वर्थीय प्रत्यय न होकर एकः पादो यस्याम् इस तरह ब० व्री० करके कुम्भपद्यादि में एकपदी शब्द का पाठ आने से पाद शब्द के अन्तिम अकार का लोप करने के बाद ङीप् प्रत्यय लगाकर और पाद को (मत्वात्) पदादेश करके 'एकपदीम्' बनना चाहिए था, किन्तु कवि ने 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' इस नियम को अनित्य मानकर मत्वर्थीय ही किया है। **पिधाय** अपि + √धा + ल्यप् भागुरि के मतानुसार अपि के अ का लोप) । **निदद्रौ** √निद्र + लिट् ।

हिन्दी—तदनन्तर उस समय संभोग की थकान से अलसाया हुआ वह पक्षी (हंस) एक पैर पर खड़े होने की स्थिति अपनाये (और) गर्दन को तिरछे नीचे झुकाये, पंख से सिर छिपाकर थोड़ी देर के लिए सरोवर के पास सो गया ॥ १२१ ॥

टिप्पणी—यहाँ कवि ने हंस का जाति-स्वभाव बताकर यथावत् वस्तु वर्णन किया है, अतः यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार है, 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद् वस्तु-वर्णनम्' इसी का दूसरा नाम जाति भी है । शब्दालङ्कार वृत्त्यनुप्रास है ॥१२१॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरं नु किम् ॥१२२॥

अन्वयः—सः तम् आत्मानन-निर्जित-प्रभम्, ह्रिया नतम् सनालम् काञ्चनम् अम्बुजन्म किम् ? वैद्रुम-दण्ड-मण्डितम् पीतम् अम्भः-प्रभु-चामरं च किम् ? (इति) अबुद्ध ।

टीका—**सः**=नलः **तम्**=निद्राणं हंसम् **आत्मनः**=स्वस्य यत् **आननम्**=मुखम् (ष० तत्पु०) तेन **निर्जिता**=परास्ता (तृ० तत्पु०) **प्रभा**=कान्तिः (कर्मधा०) यस्य तत् (ब० व्री०) अर्थात् नलेन निजमुखद्वारा येन सौन्दर्यं जितमिति कृत्वा **ह्रिया**=लज्जया **नतम्**=नम्रम् **सनालम्** **नालम्**=काण्डः मृणालदण्ड इति यावत् तेन सह वर्तमानम् (ब० व्री०) सवृन्तमित्यर्थः **काञ्चनम्**=सुवर्णमयम् **अम्बुजन्म**=अम्बुनि जले जन्म यस्य तत् (ब० व्री०) अम्बुजम कमलमिति यावत् अन्योऽपि परेण निर्जितो निम्नमुखीभवति । **विद्रुमस्य**=प्रवालस्य यो **दण्डः**=(ष० तत्पु०) तेन **मण्डितम्**=अलङ्कृतम् (तृ० तत्पु०) **पीतम्**=पीतवर्णम् **अम्भः**=जलम् तस्य **प्रभुः**=स्वामी (ष० तत्पु०) जलाधिदैवो वरुण इत्यर्थः तस्य **चामरम्**=प्रकीर्णकम् च किम् ? एकपादस्थितो हंसः सदण्डं श्वेत चामरम् प्रतीयते स्मेति भावः ॥ १२२ ॥

व्याकरण—**काञ्चन**=काञ्चनस्य विकारः इति काञ्चन + अञ् ('अनुदात्तादेश्च') पा० ४।३।१४०, **अबुद्ध**=√बुध् + लुङ् + तङ् त को ध ।

हिन्दी—"मेरे मुख द्वारा सौन्दर्य में हार खाये (इसीलिये) लज्जा से झुके, नालदण्ड सहित सोने का कमल है क्या ? तथा मूँगे के दण्ड से मंडित, पीले रंग का जलाधिपति (वरुण) का चंवर है क्या ?" (इस तरह) नल ने उस (हंस) को समझा ॥ १२२ ॥

टिप्पणी—यहाँ अपनी एक लाल टाँग पर खड़ा हुआ और सिर को पंखों के भीतर छिपाये सुवर्णमय हंस नाल-सहित सुवर्ण कमल और मूँगे की मूठवाला वरुण का पीला चँवर-जैसा लग रहा था।

मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा मानी है। 'किम्' शब्द उत्प्रेक्षा-वाचकों में गिना हुआ है ही किन्तु हमा विचार से कवि ने अप्रस्तुत की दो कोटियाँ जो यहाँ खड़ी की हैं, वे सन्देह के लिये भी पूरी बना रही हैं 'अर्थात् यह नाल-सहित स्वर्ण-कमल तो नहीं क्या? अथवा वरुण देव का विद्रुम का मूठ वाला चंवर तो नहीं क्या? इस तरह हम यहाँ उत्प्रेक्षा और सन्देह का संकर ही मानेंगे। शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ॥१२२॥

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ ततः पदे रेजतुरस्य बिभ्रती।
तयोः प्रवालैर्वनयोस्तथाम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ॥ १२३ ॥

अन्वयः—ततः हयात् कृतावरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयोः वनयोः प्रवालैः तथा अम्बुजैः नियोद्धुकामे बद्ध-वर्मणी किमु (इति) रेजतुः।

टीका—**ततः**=तदनन्तरम् **हयात्**=अश्वात् **कृतः**=विहितः **अवरोहः**=उत्तरणम् येन तथा भूतस्य (ब० व्री०) **अस्य**=नलस्य **उपानहौ**=पादत्राणे ('पादत्राणे उपानहौ' इत्यमरः) **बिभ्रती**=धारयती **पदे**=चरणौ **तयोः**=प्रकृतयोः **वनयोः**=कानन-जलयोः ('वने सलिल-कानने इत्यमरः) **प्रवालैः**—किसलयैः तथा **अम्बुजैः**=कमलैः (सह) **नियोद्धुं**=युद्धं कर्तुम् **कामः**= इच्छा ययोः तथाभूते (सती) (ब० व्री०) **बद्धम्**=नद्धम् **वर्म**=कवचं याभ्यां तथा भूते (ब० व्री०) **किमु**=इति सम्भावनायाम् **रेजतुः**=शुशुभाते उपानहौ धारयन्तौ नलस्य चरणौ वनस्य (काननस्य) प्रवालैः तथा वनस्य (जलस्य) अम्बुजैः सह युद्धं कर्तुम् बद्धकवचाविव प्रतीयेते स्मेति भावः ॥१२३॥

व्याकरण—**बिभ्रती** √भृ+शतृ नपुं० प्र० द्विव० **अम्बुजम्** अम्बु=जलम् तस्माज्जायते इति अम्बु+√जन्+ड। **नियोद्धुकामे** (तुम् काम-मनसोरपि) इस नियम से तुम् के म का लोप

हिन्दी—तत्पश्चात् घोड़े से उतरे उस (नल) के दोनों पैर जूता पहने ऐसे लग रहे थे मानों दोनों वनों (कानन, जल) के पल्लवों और कमलों के साथ युद्ध ठानना चाहते हुए कवच बाँधे हुये हों॥ १२३॥

टिप्पणी—राजा नल के जूते पहने पैर अपनी मृदु लाल छटा में वन के प्रवालों और जल के रक्त कमलों से बढ़-चढ़ कर थे। इस पर कवि ने कल्पना की है कि मानों वे उन दोनों से लड़ने हेतु कवच पहने हुए हों। युद्ध में वीर कवच पहन कर ही लड़ा करते हैं। जूते कवच बन गये। इस तरह यहाँ उत्प्रेक्षा है वन शब्द में श्लेष और कानन और जल का क्रमशः पल्लव तथा कमल से अन्वय होने से यथासंख्य अलंकार है। शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ॥१२३॥

विधाय मूर्त्तिं कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

अन्वयः—अयम् नृपः कपटेन वामनीम् बलि-ध्वंसि-विडम्बिनीं मूर्तिम् विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतङ्गम् स्वयम् (एव) समधत्त।

टीका—**अयम्**=एष **नृपः**=राजा नलः **कपटेन**=छलेन **वामनीम्**=ह्रस्वाम् **बलिम्**= एतत्संज्ञकं राक्षसराजम् ध्वंसयतीति **बलिध्वंसी**=(उपपद तत्पु०) विष्णुः तम् **विडम्बयति**=

अनुकरोतीत्येवंशीलाम् (उपपद तत्पु०) **मूर्तिम्** = स्वरूपम् **विधाय** = कृत्वा वामनावतारवत् शरीरे लघूभूयेत्यर्थः **मौनिना** = तूष्णीकेन निःशब्देनेति यावत् **चरणेन** = पादेन **उपेतम्** = प्राप्तम् **पार्श्वम्** हंसस्य सामीप्यं येन तथाभूतः (ब० व्री०) सन् निभृतं हंस समीपे गत्वेत्यर्थः **पाणिना** = करेण **खगम्** = पक्षिणम् हंसमिति यावत् **स्वयम्** = आत्मना (एव) **समधत्त** = धृतवान् गृहीतवानित्यर्थः ॥ १२४ ॥

व्याकरण—**वामनीम्** वामन + ङीष् (गौरादित्वात् । **ध्वंसी, विडम्बिनी** ताच्छील्ये णिनिः मौनी मुनेर्भाव इति मुनि + अण्, तदस्यास्तीति मौन + इन् (मतुबर्थे)। **पतग** = पतन् = उत्पतन् गच्छतीति √पत् + √गम् + ड । **समधत्त** सम् + √धा + लङ् ।

हिन्दी—इस राजा नल ने छल से वामनावतार का सा छोटा शरीर बनाकर, दबे पाँव पास पहुँचकर हाथ से पक्षी को स्वयं (ही) पकड़ लिया ॥ १२४ ॥

टिप्पणी—यहाँ पक्षी पकड़ने की क्रिया का यथावत् वर्णन होने से स्वभावोक्ति है, साथ में शरीर की वामनावतार के शरीर से तुलना में उपमा है। शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है। वामनावतार के पौराणिक संकेत के सम्बन्ध में पीछे ७० वाँ श्लोक देखिये ।।१२४।।

तदात्तमात्मानमवेत्य संभ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२५ ॥

अन्वयः—स आत्मानम् तदायत्तम् अवेत्य संभ्रमात् उत्प्लवाय पुनः पुनः प्रायसत् ; उड्डयने निराशताम् गतः (सन्) विरुत्य केवलम् निरोद्धुः करौ दशति स्म ।

टीका—**सः** = हंसः **आत्मानम्** = स्वम् तस्य = नलस्य **आयत्तम्** = अधीनम् तद्गृहीतमित्यर्थः (ष० तत्पु०) **अवेत्य** = ज्ञात्वा **संभ्रमात्** = भयात् **उत्प्लवाय** = उड्डीय गमनाय **पुनः पुनः** = वारं वारं **प्रायसत्** = प्रयासम् अकरोत्, **उड्डयने** = उत्पतने निर्गता आशा = वरणादिति **निराशः** (प्रादि ब० व्री०) तस्य भावः तत्ता ताम **गतः** = प्राप्तः सन् निराशो भूत्वेत्यर्थः **विरुत्य** = विक्रुश्य दीनं शब्दं कृत्वेति यावत् **केवलम् निरोद्धुः** = निरोधकस्य ग्राहकस्य नलस्येत्यर्थः **करौ** = हस्तौ **दशतिस्म** = दष्टवान् ॥ १२५ ॥

व्याकरण—**आत्तम्** आ + √दा + क्त द को त । **अवेत्य** अव + √इ + ल्यप् । **प्रायसत्** + प्र + √यस् + लुङ् । **उत्प्लवः** उत् + √प्लु + अप् । **उड्डयने** उत् + डी + ल्युट् । **निरोद्धुः** = नि + √रुध् + तृच् कर्तरि ष० ।

हिन्दी—उस (हंस) ने अपने को पकड़ा हुआ जानकर भय से उड़ने हेतु बार-बार प्रयत्न किया, (किन्तु) उड़ने में निराश हुआ (वह) क्रन्दन करके पकड़ने वाले (नल) के हाथों को ही काटता जाता था ॥ १२५ ॥

टिप्पणी—यहाँ पकड़े जा रहे पक्षी के स्वभाव का यथावत् वर्णन होने से स्वभावोक्ति अथवा जाति अलंकार है। पुनः पुनः में वीप्सालंकार और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ।।१२५।।

ससंभ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयानुकम्पताम्[1] ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद् वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

अन्वयः—ससंभ्रमोत्पाति-पतत्-कुलाकुलम् सरः उत्कतया उत्कम्पिताम् प्रपद्य ऊर्मि-लोलैः वारिरुहैः करैः नृपम् पतग-ग्रहात् न्यवारयत् इव ।

टीका—**ससंभ्रमम् संभ्रमो** =भयम् तेन सहितं तथा स्यात्तथा (ब० व्री०) **उत्पतन्ति**= उड्डीयन्ते इति **उत्पातिनः**=(उपपद तत्पु०) ये **पतन्तः**=पक्षिणः (कर्मधा०) ('पतत्रि-पत्रि-पतग-**पतत्**-पत्ररथा-ण्डजाः' इत्यमरः) तेषां यत् **कुलम्**=समूहः=(ष० तत्पु०) तेन **आकुलम्**= क्षुब्धम् (ष० तत्पु०) **सरः**=क्रीडासरोवरः **उत्कतया उत्कः**=उन्मनाः तस्य भावः तत्ता तया दुःखित-येत्यर्थः । ('उत्क उन्मनाः' इत्यमरः) **अनुकम्पताम्**=**दयालुताम् प्रपद्य**=प्राप्य दयां कुर्वेत्यर्थः **ऊर्मिभिः** तरङ्गैः **लोलैः**=चञ्चलैः (तृ० तत्पु०) **वारिरुहैः** कमलैः (एव) **करैः**=हस्तैः **नृपम्**= राजानम् नलम् **पतगस्य**=पक्षिणः हंसस्येत्यर्थः **ग्रहात्**=ग्रहणात् **न्यवारयत्**=न्यषेधत् **इ**वेत्यु-त्प्रेक्षायाम् । सरोवरः नलकर्तृक-हंसग्रहणात् दुःखीभूय करुणार्द्रः सन् चलद्भिः कमलैः एव करैः राजानं न्यवारयदिवेति भावः ॥ ११६ ॥

व्याकरण—**उत्कः** उत्=उद्गतमनस्क+कः स्वार्थे ('उत्क उन्मनाः' पा० ५।२ ८०) से निपा-तित । **अनुकम्प** अनुकम्पते इति अनु+√कम्प्+रः ('नमि-कम्पि०' पा० ३।२।१६७) । **पतगः** पतन्=उत्प्लवन् गच्छतीति पतन्+√गम्+डः विकल्प से न का लोपः । **वारिरुहैः** वारिणी=जले रोहन्तीति वारि+√रुह+कः । ग्रहात् यहाँ निवारणार्थ में पञ्चमी हुई है ।

हिन्दी—भय के कारण उड़ जाने वाले पक्षिसमूह से क्षुब्ध हुआ क्रीडा-सरोवर दुःखी होने से दया में आकर तरंगों से हिल रहे कमल-रूपी हाथों द्वारा राजा (नल) को मानो पक्षी को पकड़ने से रोक रहा था ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—हम देखते हैं कि किसी को मारने को तय्यार हुए बैठे किसी आदमी को देखकर पास में खड़ा कोई भी व्यक्ति दुःखित हो दयापूर्वक हाथों से मना कर देता है न मारो, न मारो । इस तथ्य की कल्पना कवि क्रीडासरोवर पर कर रहा है । क्षुब्ध हुए जल के कारण हिल रहे कमल उसके हाथ बन गये । इस तरह यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभाव संकर है । यथावत् वस्तु-वर्णन देखकर हम यहाँ स्वभावोक्ति भी कह सकते हैं । 'पाति' 'पत' 'पत (ग)' में वर्ण-साम्य एक से अधिक बार होने से छेक न होकर वृत्त्यनुप्रास है, किन्तु 'कुला' 'कुल' में छेक ही है ।।१२६।।

पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥ १२७ ॥

अन्वयः—रुचिरेण पतत्रिणा वञ्चितम् तत् पल्वलम् प्रविहाय प्रयान्त्याः श्रियः चलत्-पदाम्भोरुह-नूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज ।

---

१. अनुकम्पिताम्

टीका—रुचिरेण=सुन्दरेण पतत्रिणा=पक्षिणा हंसेनेत्यर्थः वञ्चितम्=रहितम् तत् पल्वलम्=सरः प्रविहाय=त्यक्त्वा प्रयान्त्याः=गच्छन्त्याः श्रियः शोभायाः अथ च लक्ष्म्याः चलत्० पदे=चरणौ अम्भोरुहे=कमले इवेति पदाम्भोरुहे=(उपमित तत्पु०) चलन्ती च ते पदाम्भोरुहे (कर्मधा०) तयोः तत्र स्थितयोरित्यर्थः यौ नूपुरौ=मञ्जीरे (स० तत्पु०) ताभ्याम् उपमा=सादृश्यम् (तृ० तत्पु०) यस्याः तथाभूता (ब० व्रो०) कलहंसानाम्=राजहंसानाम् मण्डली=समूहः (ष० तत्पु०) कूले=सरसः तटे चुकूज=शब्दयाञ्चक्रे ॥ १२७ ॥

व्याकरण—पतत्री=पतत्रे गरुतौ अस्यास्तीति पतत्र+इन् (मतुबर्थे) । रुचिर=रोचते इति √रुच्+किरच् । चुकूज√कूज्+लिट् ।

हिन्दी—सुन्दर पक्षी से वञ्चित उस सरोवर को छोड़कर जा रही श्री (शोभा, लक्ष्मी) के हिल रहे कमल-जैसे चरणों के नुपूरों के समान राजहंसों की मण्डली तीर पर शब्द करने लगी ॥ १२७ ॥

टिप्पणी—यहाँ कवि ने श्री शब्द में श्लेष रखकर बड़ी अनोखी कल्पना की है । श्री शोभा और लक्ष्मी देवी को भी कहते हैं । उस स्वर्ण हंस के नल द्वारा पकड़े जाने पर क्रीडासर की सारी शोभा जाती रही । इस पर कवि कल्पना यह है कि मानो सरोवर के कमलों में रहने वाली (पद्मालया)-लक्ष्मी देवी चली जा रही है और साथी के पकड़े जाने पर तीर पर शब्द करते हुए हंस लक्ष्मीदेवी के बजते हुए नुपूर हों । वैसे भी कोई नायिका प्रियतम के चले जाने पर मिलन-स्थान को छोड़कर नुपूरों को झनझनाती हुई वापस चली जाती है । यहाँ दो विभिन्न श्रियों के अभेदाध्यवसाय से अतिशयोक्ति, कलहंस-मण्डली की नूपुरों से तुलना में उपमा, अपने साथी के पकड़े जाने पर अन्य हंसों के उड़कर कूजने में यथावत् पक्षि-स्वभाव के वर्णन से स्वभावोक्ति और कल्पना में गम्योत्प्रेक्षा—इन सभी का अङ्गाङ्गिभाव संकर है । कूले 'कल' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास शब्द लंकार है ॥ १२७ ॥

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥ १२८ ॥

अन्वयः—"अङ्ग यस्या उज्झित-स्थितिः ईदृशः त्वम् पतिः (असि) (सा) इयम् वसुधा वासयोग्या न (अस्ति) ।" इति क्षितिम् प्रहाय नभः आश्रिताः खगाः आरवैः तम् आचुक्रुशुः खलु ॥

टीका—अङ्ग ! हे ! यस्याः=वसुधायाः उज्झिता=त्यक्ता स्थितिः=मर्यादा येन तथभूतः (ब० व्रो०) ईदृशः=एतादृशः निरपराधस्यास्माकं सहचरस्य ग्रहणे अधर्मं कुर्वाणः त्वम् पतिः=पालकः असीति शेषः, सा इयम् वसुधा=पृथिवी वासस्य योग्या (ष० तत्पु०) निवासार्हा न अस्तीति शेषः, इति क्षितिम्=वसुधाम् प्रहाय=त्यक्त्वा नभः=आकाशम् आश्रिता=प्राप्ताः खगाः=पक्षिणः हंसा इत्यर्थः आरवैः=शब्दैः तम्=नलम् आचुक्रुशुः=निन्दितवन्तः खलु इत्युत्प्रेक्षायाम् ॥ १२८ ॥

व्याकरण=वसुधा वसूनि (रत्नानि) दधातीति वसु+√धा+कः । क्षितिः क्षियन्ति=

निवसन्ति प्राणिनोऽत्रेति √क्षि+क्तिन् अधिकरणे। **खगाः** खे=आकाशे गच्छन्तीति ख+√गम्+ड। **आरवैः** आ+√रु+अप् भावे। **आचुक्रुशुः** आ+√क्रुश्+लिट् (प्र० पु० ब०)।

हिन्दी—"अरे, जिस (वसुधा) का मर्यादा भंग किये हुए तू पति है, (वह) यह वसुधा रहने योग्य नहीं"—इस तरह वसुधा को छोड़कर आकाश में गये हुए पक्षी कूजन-शब्द से मानो उस (नल) को धिक्कार रहे थे॥ १२८॥

टिप्पणी—कोई स्थान यदि अच्छा भी क्यों न हो, किन्तु खतरे से भरा हो तो उसे छोड़ना ही पड़ता है—इस सार्वजनीन तथ्य पर कवि की कल्पना यह है कि मानो वसुधा के पति को मर्यादा विरुद्ध आचरण वाला देखकर हंसों को वसुधा-रत्नगर्भा—छोड़नी ही पड़ी और आकाश में जाकर दुष्ट राजा को चिल्ला-चिल्लाकर धिक्कारना ही पड़ा। यहाँ उत्प्रेक्षा है, जो खलु शब्द द्वारा वाच्य है। वसुधा शब्द के साभिप्राय होने से परिकराङ्कुर हैं। 'वास' 'वसु' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। पहले वसुधा शब्द से उद्देश करके बाद को प्रतिनिर्देश भी कवि को वसुधा शब्द से हीं करना चाहिए था न कि क्षिति शब्द से। उद्देश प्रतिनिर्देशभाव-भंग साहित्य-दृष्टि से दोष ही माना जाता है।१२८॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन्मुहुः।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा॥ १२९॥

अन्वयः—अथ 'इयम् जातरूप-च्छद-जात-रूपता द्विजस्य न दृष्टा' इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः कर-पञ्जर-स्पृशा तेन मानसौकसा अवादि।

टीका—**अथ**=एतदनन्तरम् **इयम्**=एषा **जातरूपस्य**=सुवर्णस्य ('चामीकरं **जातरूपं**=महारजत-**काञ्चने**'=इत्यमरः) यौ **छदौ**=पक्षौ (ष० तत्पु०) ताभ्याम् **जातम्**=उत्पन्नम् (तृ० तत्पु०) **रूपम्**=सौन्दर्यम् (कर्मधा०) यस्य तथाभूतस्य (ब० व्री०) **भावः**=तत्ता सुवर्णपक्षकृत-सौन्दर्यमित्यर्थः **द्विजस्य**=पक्षिणः हंसस्येति यावत् **न**=(मया) **दृष्टा**=अवलोकिता' **इति**=हेतोः **मुहुः**=पुनः पुनः **स्तुवन्**=तत्सौन्दर्यं प्रशंसन्नित्यर्थः **सः**=प्रसिद्धः **जनानाम् अधिनाथः**=अधिपतिः (ष० तत्पु०) राजा नलः **करौ एव पञ्जरः** (कर्मधा०) तम् स्पृशतीति तथोक्तेन (उपपद तत्पु०) करतल-गतेनेत्यर्थः तेन **मानसौकसा**=हंसेन (**हंसास्तु**=श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा **मानसौकसः**' इत्यमरः) **अवादि**=कथितः॥ १२९॥

व्याकरण—**छदः** छदतीति √छद्+अच् कर्तरि **द्विजस्य** इस शब्द के लिए पीछे श्लोक ६१ देखिए। **मानसौकाः** **मानसम्** एतत्सञ्ज्ञकं सरः **ओकः** निवासस्थानं येषां ते (ब० व्री०) **अवादि** √वद्+लुङ् कर्मवाच्य।

हिन्दी—तदनन्तर—"पक्षी (हंस) की सोने के पंखों से उत्पन्न हुई यह सुन्दरता (कभी) नहीं देखी" इस तरह बार-बार प्रशंसा करते हुए इस नरेश को हाथ रूपी पिंजरे में बँधा वह हंस बोला॥ १२९॥

टिप्पणी—यहाँ करों पर पञ्जरत्वारोप में रूपक है। 'जातरूप' 'जातरूप' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। 'द्विज' और 'जातरूपच्छद' शब्दों में श्लेष है। 'द्विज' का दूसरा अर्थ

ब्राह्मण और 'जातरूपच्छद' का सुवर्ण जैसी (पीली) चादर है। पीत वर्ण हमारे यहाँ बड़ा पवित्र माना गया है, इसी कारण मांगलिक कार्यों में पीले वस्त्र पहनने का विधान है। भगवान कृष्ण स्वयं पीताम्बर हैं। इस श्लेष से कवि को यहाँ यह उपमा ध्वनि विवक्षित है कि जिस तरह सोने की-सी पीली चादर ओढ़े ब्राह्मण का सौन्दर्य बढ़ जाता है, वैसे ही सोने के पंखों ने हंस की सुन्दरता पर चार चाँद लगा दिए थे ॥ १२९ ॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णवस्येव तुषारसीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥१४०॥

अन्वयः—(हे राजन्!) हेम-जन्मनः मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णा-तरलम् भवन्मनः धिक् अस्तु। तुषार-शीकरैः अर्णवस्य कमलोदयः इव तव अमीभिः कियान् कमलोदयः भवेत्।

टीका—(हे राजन्!) हेम्नः = सुवर्णात् जन्म (पं० तत्पु०) येषां तथाभूतान् (ब० व्री०) मम पक्षान् = गरुतः समीक्ष्य = दृष्ट्वा तृष्णया = लोभेन तरलम् = चञ्चलम् (तृ० तत्पु०) भवतः मनः = अन्तःकरणम् (ष० तत्पु०) धिक् अस्तु = निन्दितमस्तु (धिङ् निर्भर्त्सन-निन्दयोः इत्यमरः) तुषारस्य = हिमस्य शीकरैः = कणिकाभिः (ष० तत्पु०) अर्णवस्य = समुद्रस्य कमलस्य = जलस्य उदयः = वृद्धिः (ष० तत्पु०) { 'सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः) इव तव = भवतः अमीभिः = एतैः सुवर्णपक्षैः कियान् = कियत्परिमाणः कमलायाः = लक्ष्म्याः उदयः = वृद्धिः भवेत् = स्यात् न कोऽपीति काकुः, अर्थात् यथा तुषार-कणैः समुद्र-जलस्य न कापि वृद्धिः जायते, तथैव मत्पक्षगत-सुवर्णेन तव धनस्यापि न कापि वृद्धिः भविष्यति ॥ १३० ॥

व्याकरण—धिक् मनः धिक् के योग में मनस् शब्द को द्वितीया। तृष्णा—√तृष् + न + टाप् कित्वं च। अर्णवः अर्णांसि = जलानि अस्मिन् सन्तीति अर्णस् + व स का लोप।

हिन्दी—(हे राजन्!) सोने के पंखों को देखकर लोभ से चञ्चल बने आपके मन को धिक्कार हो। ओस के कणों से समुद्र के कमल (जल) की वृद्धि की तरह (मेरे) इन (सोने के पंखों) से तुम्हारी कमला (लक्ष्मी = धन) की कितनी वृद्धि हो सकती है? ॥ १३० ॥

टिप्पणी—यहाँ जिस तरह ओस की बूँदों से समुद्र के जल की कुछ भी वृद्धि नहीं हो सकती, वैसे ही मेरे सोने के पंखों से तुम्हारे कोश की भी वृद्धि क्या होगी—इस तरह सा-दृश्य बताने से उपमा है, जो कमलोदय में श्लिष्ट है। शब्दालंकार काकु वक्रोक्ति एवं वृत्त्यनुप्रास है ॥ १३० ॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥१३१॥

अन्वयः—(हे राजन्!) त्वदीक्षणात् विश्वसितान्तरात्मनः मम वधः केवलम् प्राणि-वधः न, विश्वासजुषाम् द्विषाम् अपि निबर्हणम् धर्म-धनैः विशिष्य विगर्हितम् (अस्ति)।

टीका—(हे राजन्!) तव ईक्षणम् = दर्शनम् (ष० तत्पु०) तस्मात् विश्वसितः = विश्वासं प्राप्तः अन्तरात्मा = मनः (कर्मधा०) यस्य तथाभूतस्य (ब० व्री०) मम = मे वधः = हिंसा केवलम् प्राणिनः = जीवस्य वधः (ष० तत्पु० न) अपितु विश्वास-घातोऽपि वर्तते इत्यर्थः,

(यतः) **विश्वासं**=विस्रम्भम् **जुषन्ते**=सेवन्ते इति तथोक्तानाम् विश्वासप्राप्तानामित्यर्थः (उपपद तत्पु०) **द्विषाम्**=शत्रूणाम् **अपि निबर्हणं**=वधः **धर्म एव धनं**=येषां तथाभूतैः (ब० व्री०) धर्मपरायणैः धर्मशास्त्रिभिरित्यर्थः **विशिष्य**=अतिरिच्य विशेषरूपेणेत्यर्थः **विगर्हितम्**=निन्दितम् अस्तीतिशेषः। साधारणतया धर्मात्मभिः पुरुषैः जीवमात्रस्य हिंसा निन्दिता, विश्वसितस्य शत्रोरपि हिंसायास्तु कथैव का ? विश्वासघातिनः कृते महाप्रायश्चित्तस्य विधानादिति भावः ॥१३१॥

व्याकरण—०**जुषाम्** √जुष्+क्विप् कर्तरि ष० ब० । **द्विषाम्** द्विषन्तीति √द्विष्+क्विप् कर्तरि ष० ब० । **निबर्हणम्** नि+√बर्ह्+ल्युट् भावे । **विशिष्य** वि+√शिष्+ल्यप् ।

हिन्दी—(हे राजन् !) तुम्हें देखने से मन में (पूर्ण) विश्वस्त हुए मेरा वध न केवल प्राणि-वध है (प्रत्युत विश्वास-घात भी है)। धर्मधनियों (धर्मशास्त्रकारों) ने विश्वास में आए हुए शत्रुओं तक के भी वध की बड़ी भारी निन्दा कर रखी है ॥ १३१ ॥

टिप्पणी—उक्त श्लोक में 'द्विषामपि' के अपि शब्द द्वारा 'औरों की—निरपराधियों की—तो बात ही क्या'—यह अर्थ निकलने से अर्थापत्ति-अलङ्कार है। 'वधो' 'वधो' में यमक तो नहीं बन सकता है, क्योंकि अर्थ-भेद नहीं है। शब्दार्थों के पौनरुक्त्य में लाटानुप्रास बनता है लेकिन अर्थों में तात्पर्य भेद होना चाहिये। यहाँ तात्पर्य भेद है। 'मम वधः' में वध शब्द सामान्य वध का वाचक है जब कि 'प्राणि-वधः' वाला वध विशेष वध अर्थात् विश्वासघात पूर्वक वध का वाचक है, इसलिए यहाँ लाटानुप्रास है। लाट विदग्ध (निपुण) को कहते हैं। उनके द्वारा प्रयोग में आने से लाटानुप्रास नाम पड़ा। कई आलंकारिकों ने इसे विदग्धानुप्रास भी कहा है। अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥ १३१ ॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ।
धिगीदृशं ते नृपतेः कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥१३२॥

अन्वयः—पदे-पदे रणोद्भटाः भटाः सन्ति, एष हिंसा-रसः तेषु (कस्मात्) न पूर्यते ? ईदृशम् ते नृपतेः कुविक्रमम् धिक्, यः कृपाश्रये पतत्रिणि (वर्तते) ।

टीका—**पदे पदे**=स्थाने स्थाने **रणेषु**=युद्धेषु **उद्भटाः**=प्रचण्डाः (स० तत्पु०) **भटाः**=योधाः **सन्ति**=वर्तन्ते; **एषः**=अयम् **हिंसायाः**=मारणस्य **रसः**=अनुरागः (ष० तत्पु०) **तेषु**=भटेषु (कस्मात्) **न पूर्यते**=पूर्णः क्रियते अर्थात् प्रचण्ड-भटानां वधं कृत्वा स्वहिंसाविषयकानुरागः प्रदर्श्यताम्। **ईदृशम्**=विश्वस्तजनवधविषयकम् **ते नृपतेः**=तव राज्ञः **कुविक्रमम्**=कुत्सितं विक्रमम् शौर्यम् (प्रादि तत्पु०) **धिक्**=विक्रमो धिक्कार योग्य इत्यर्थः **यः**=कुविक्रमः **कृपायाः**=दयायाः **आश्रयः**=पात्रम् तस्मिन् (ष० तत्पु०) **पतत्रिणि**=पक्षिणि मयि हंसे इत्यर्थः वर्तते इति शेषः। दया-पात्रे निरपराधे मयि स्व.विक्रमं मा दर्शयेत्यर्थः ॥ १३२ ॥

व्याकरण—**पदे-पदे** वीप्सा में द्विरुक्ति। **पूर्यते** √पूर्+लट् कर्मवाच्य। **हिंसा** √हिंस्+अ+टाप्। **धिक् कुविक्रमम्** धिक् के योग में द्वितीया। **पतत्री-पतत्रं** गरुत् अस्यास्तीति पतत्र+इन् (मतुबर्थीय) ।

हिन्दी—स्थान-स्थान में रणबाँकुरे योद्धा (मौजूद) हैं; उनमें (अपना) यह मारने का शौक क्यों नहीं पूरा कर लेते ? तुझ राजे के इस कुत्सित शौर्य को धिक्कार है, जो (मुझ-जैसे) दया-पात्र, दीन पक्षी पर (प्रदर्शित) हो रहा है ॥ १३२ ॥

टिप्पणी—पदे-पदे में वीप्सालंकार, 'भटा' 'भटा' में यमक 'कृपा' 'कृप' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥१३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः ।

त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते[1] ॥१३३॥

अन्वय—(हे राजन्) वारि-भू रुहाम् फलेन मूलेन च मुनेः इव यस्य मम इत्थम् वृत्तयः (सन्ति), तस्मिन् अपि दण्ड-धारिणा त्वया पत्या अद्य धरणी कथं न हृणीयते ?

टीका—**वारि**=जलं च **भूः**=पृथिवी चेति वारि-भुवौ (द्वन्द्व) तयोः रोहन्तीति तथोक्तानाम् (उपपद तत्पु०) कमलानाम् वृक्षाणां च, अथ च **वारि** एव **भूः**=उत्पत्तिस्थानम् (कर्मधा०) तस्यां रोहन्तीति तथोक्तानां कमलानाम् **फलेन**=पद्माक्षसंज्ञकेन 'कमल डोडा' इति भाषायां प्रसिद्धेन **मूलेन** कन्दादिना अथ च मृणालेन **मुनेः**=ऋषेः इव **यस्य मम**=हंसस्य **इत्थम्**=एवं प्रकारेण **वृत्तयः**= जीवनसाधनानि आजीविका इत्यर्थः सन्तीति शेषः **तस्मिन्**=निरपराधे ऋषि-तुल्ये मयि हँसे अपि दण्डं धारयितुं शीलमस्येति तथोक्तेन (उपपद तत्पु०) दण्ड-कारिणा अदण्ड्य-दण्डकेनेति यावत् **त्वया पत्या**=भर्त्रा सता **अद्य धरणी**=पृथिवी **कथं**=कस्मात् न **हृणीयते**=लज्जते ? त्वाम् अन्यायिनं पतिमवाप्य तत्पत्नीभूतया पृथिव्या अवश्यं लज्जितव्यम् , प्रिये अन्यायकारिणि सति स्त्रियो लज्जन्ते एवेति भावः ॥ १३३ ॥

व्याकरण—**रुहाम्** √रुह् + क्विप् कर्तरि ष० व० । **इत्थम्** इदम् + थम् (प्रकारे) । **धारिणा** √धृ + णिन् (ताच्छील्ये)] **हृणीयते** √ हृणीङ् (लज्जायाम् कण्ड्वादि) यक् (स्वार्थे) ।

हिन्दी—कमलों और वृक्षों के फल एवं कन्दमूल पर जीवन निर्वाह करने वाले मुनि की तरह जिस मुझ हंस के कमलों के फल (कमलडोडे) और मूल (मृणाल) जीवन-साधन हैं, उस (निरपराधी) को भी दण्ड देने वाले तुझ पति से आज पृथिवी क्यों लज्जित नहीं हो रही है ?

टिप्पणी—यहाँ हंस फल मूल पर जीवन-निर्वाह करने वाले ऋषि-मुनि से अपनी तुलना कर रहा है, इसलिए उपमा है जो 'वारिभूरुहाम् में' श्लिष्ट है । 'वारिरुहाम् एवं भूरुहाम्' का मुनि के साथ और केवल 'वारिभूरुहाम्' का हंस के साथ क्रमशः अन्वय जुड़ने से यथासंख्य भी है । 'लेन' 'लेन' यमक 'धारिणा' 'धरणी' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥१३३॥

इतीदृशैस्तं विरचय्य वाङ्मयैः सचित्रवैलक्ष्यकृपं नृपं खगः ।

दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिरः ॥ १३४ ॥

अन्वय—इति ईदृशैः वाङ्मयैः तं नृपम् सचित्र-वैलक्ष्य-कृपम् विरचय्य स खगः दयासमुद्रे तदाशये कारुण्य-रसापगाः गिरः अतिथीचकार ।

---

1. घृणीयते

टीका—**इति**=एवं प्रकारेण **ईदृशैः**=एतादृशैः **वाङ्मयैः**=वाग्विकारैः=वचोभिरित्यर्थः **तं नृपम्**=राजानं नलम् **चित्रम्**=आश्चर्यं ('आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः) च **वैलक्ष्यं**=लज्जा च **कृपा**'=दया चेति० कृपाः (द्वन्द्व) तैः सह वर्तमानमिति सचित्र० (ब० व्री०) **विरचय्य**= कृत्वा नले आश्चर्यं लज्जां दयाञ्चोत्पाद्येत्यर्थः **स खगः**=पक्षी हंस इत्यर्थः **दया**=कारुण्यम् एव **समुद्रः**=सागरः तस्मिन् (कर्मधा०) **यस्य**=नलस्य **आशये**=हृदये (ष० तत्पु०) 'अहमात्मा गुडाकेश सर्व-**भूताशये** स्थितः' इति गीता) **कारुण्यं**=करुणभावरूपः **रसः**=काव्यरसेषु अन्यतमः करुणरस इति यावत् (कर्मधा०) तस्य **आपगाः**=नदीः (ष० तत्पु०) **गिरः**=वाचः **अतिथीचकार**=प्रवेशयामासेत्यर्थः, यथा नद्यः समुद्रं प्रविशन्ति, तथैव हंसस्य करुणा-पूर्णवाचः नल-हृदये प्राविशन्, हंसः स्वकरुणवचनानि नलम् अश्रावयदिति भावः ॥ १३४ ॥

व्याकरण—**ईदृशैः** अयम् इव दृश्यते इति इदम्+√दृश्+कञ् तृ० ब० । **वाङ्मयैः** वाचां विकारैः ('एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति') इति वाच्+मयट् (विकारे) तृ० ब० । **वैलक्ष्यम्** विलक्षस्य भाव इति विलक्ष+ष्यञ् (आत्मनश्चरिते सम्यग् ज्ञातेऽन्यैर्यस्य जायते । अपत्रपाऽतिमहती स विलक्ष इति स्मृतः) अपनी पोल खुल जाने से होने वाली लज्जा को 'वैलक्ष्य' कहते हैं । **विरचय्य** वि+√रच्+ल्यप् ह्रस्व पूर्व में होने से णि को अयादेश । **खगः** खे=आकाशे गच्छतीति ख+√गम्+ड । **आपगा** अपां=जलानाम् समूहः आपम् तेन गच्छतीति आप+√गम्+ड+टा । **अतिथीचकार** अनतिथिम् अतिथिं चकारेति अतिथि+च्वि√कृ+लिट् ।

हिन्दी—इस तरह ऐसे-ऐसे वचनों से उस राजा (नल) को आश्चर्य, लज्जा और दयायुक्त करके उस पक्षी (हंस) ने उन (राजा) के दया के समुद्र-रूपी हृदय में वाणीरूप करुणरस को नदियों को प्रवेशार्थ प्रेरित किया (अर्थात् वह करुणा-भरे शब्दों में बोला) ॥ १३४ ॥

टिप्पणी—**सचित्र-वैलक्ष्य-कृपम्**—हंस ने नल को आश्चर्य में इसलिए डाला, क्योंकि एक तो यह कि वह सोने का था, दूसरे, वह मनुष्यों की वाणी बोल रहा था; लज्जित इसलिए कर डाला कि वह राजा के चरित्र की बड़ी बुरी आलोचना कर रहा था; दया राजा के हृदय में उसने इसलिए उत्पन्न कर दी कि वह दीनता-भरी वाणी बोल रहा था। यहाँ हृदय पर दया-समुद्रत्व का और गिराओं में करुण रस की नदीत्व का आरोप होने से रूपक है । यदि 'रस' शब्द को श्लिष्ट माना जाय, तो काव्य के रस-विशेष पर रसत्व (जलत्व) का आरोप भी रूपक बन जायेगा, क्योंकि नदियाँ जल की ही हुआ करती हैं । इस प्रकार यह सांग रूपक है । 'कार' 'कारु' में छेक, 'कृपम्' 'नृपम्' पदान्तगत अन्त्यानुप्रास और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥१३४॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे त्वां करुणा रुणद्धि न ॥ १३५ ॥

अन्वयः—जननी जरातुरा मदेकपुत्रा (चास्ति) तपस्विनी वरटा नव-प्रसूतिः (अस्ति) । तयोः एव जनः गतिः (अस्ति) । तम् अर्दयन् (हे) विधे, करुणा त्वाम् न रुणद्धि ?

टीका—**जननी**=मम माता **जरया**=वृद्धावस्थया **आतुरा**=पीडिता (तृ० तत्पु०) अहम् एव

एकः पुत्रः (कर्मधा०) यस्याः तथाभूता (ब० व्री०) अस्तीति शेषः । तपस्विनी=वराकी वरटा=हंसी ('हंसस्य योषिद् वरटा' इत्यमरः) मम भार्येत्यर्थः नवा=प्रथमा प्रसूतिः=प्रसवः (कर्मधा०) यस्याः सा (ब० व्री०) अचिरप्रसूतेत्यर्थः । अस्तीति शेषः । तयोः=मातृ-भार्ययोः एष जनः=अहमेवेत्यर्थः गतिः=आश्रयः (अस्ति) । तम्=जनम् मामित्यर्थः अर्दयन्=पीडयन् हे विधे=विधातः करुणा=दया त्वाम्=विधिम् न रुणद्धि=निवारयति ? स्वमातृ-भार्ययोः एकमात्र-शरणं मां मारयतः तव हृदये दया नोदेति किम् ? इति भावः ॥ १३५ ॥

व्याकरण--जननी जनयतीति√जन्+णिच्+ल्युट्+ङीप् । जरा√जॄ+अङ् (भावे)+टाप् । मदेकपुत्रा अस्मद् और युष्मद् शब्दों को समास में एक वचन में क्रमशः मत् और त्वत् हो जाता है । प्रसूतिः प्र+√सू+क्तिन् भावे । गतिः गच्छन्त्यत्रेति√गम्+क्तिन् सप्तम्यर्थे । अर्दयन् यह चुरादिके√अर्द् का बना संबोधन है, 'सम्बोधने च' पा० ३।२।१२५ से शतृ हुआ है । कितने ही वैयाकरणों ने इस धातु को आत्मनेपद ही माना है । उस स्थिति में अर्दनम्=अर्दः सोऽस्यास्तीति अर्द+अच् (मतुबर्थे) करके अर्दम्—अर्दवन्तं करोतीति (नामधा०) बनाकर यह शत्रन्त का सम्बोधन हो सकता है ।

हिन्दी—(मेरी) माँ बूढ़ी है जिसका एक मात्र पुत्र मैं ही हूँ; बेचारी हंसी (मेरी भार्या) अभी-अभी जच्चा बनी है; उन दोनों का (एकमात्र) सहारा मैं ही हूँ । उसको मारता हुआ हे विधाता ! तुम्हें दया नहीं रोकती—यह कितनी आश्चर्य की बात है ॥ १३५ ॥

टिप्पणी=यहाँ दया का कारण होते हुए भी दया-रूप कार्य न होने से विशेषोक्ति है । जननी और वरटा के विशेषण साभिप्राय होने से परिकर भी है । 'रुणा' 'रुण' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है ॥१३५॥

मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरं त्वयैव मातः सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—मम सखायः दया-सखाः स्रवदश्रवः च (सन्तः) मुहूर्त-मात्रम् भव-निन्दया निवृत्तिम् एष्यन्ति, परम् हे मातः सुत-शोक-सागरः त्वया एव दुरुत्तरः भविष्यतीति शेषः ।

टीका--मम सखायः=मित्राणि दया=करुणा सखी=सहचरी येषां (ब० व्री०) पुंवद्भावे दया-सखाः=दयासहिताः सहानुभूतिपूर्णा इति यावत् सन्तः, तथा स्रवन्ति=गलन्ति अश्रूणि अस्राणि येषां तथाभूता, (ब० व्री०) शोके अश्रूणि विमुञ्चन्तः इत्यर्थः मुहूर्तम् एव मुहूर्तमात्रम्=क्षणमात्रम् भवस्य=संसारस्य निन्दया=(ष० तत्पु०) गर्हणेन अनित्य-संसारस्य एतादृशी एव स्थितिरस्तीति तदालोचनां कृत्वेति भावः निवृत्तिम्=शोकोपरमम् एष्यन्ति=प्राप्स्यन्ति शोकं विस्मरिष्यन्तीत्यर्थः, परम्=परन्तु हे मातः !=जननि । सुतस्य=पुत्रस्य शोकः=(ष० तत्पु०) एव सागरः=समुद्रः (कर्मधा०) त्वया एव=दुरुत्तरः=दुःखेन उत्तरितुं शक्यः, मित्राणां दुःखं क्षणिकमेव, किन्तु तव दुःखं यावज्जीवनं स्थास्यतीति भावः ॥ १३६ ॥

व्याकरण—मुहूर्तमात्रम् कालात्यन्त-संयोग में द्वि० । **दयासखाः** समास में सखिन् शब्द राम शब्द की तरह अकारान्त बन जाता है। **दुरुत्तरः** दुर्+उत्+तॄ+खल् खल् का योग होने से षष्ठी-निषेध होकर 'त्वया' में तृतीया हुई ('न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' पा० २।३ ६०)

हिन्दी—मित्र लोग दया-पूर्ण हो, आँसू बहाते हुए थोड़ी देर संसार की निन्दा के साथ शान्त हो जाएँगे; किन्तु हे माँ ? पुत्रशोक-रूपी सागर पार करना तेरे लिए ही कठिन होगा ॥ १३६ ॥

टिप्पणी—संसार में यह स्वाभाविक बात है कि यार-दोस्त भाई-बन्धु थोड़ी देर शोक व्यक्त करके बाद को उसे भूल-भाल जाते हैं, किन्तु माँ ही एकमात्र ऐसी है, जो मरण-पर्यन्त पुत्र-शोक में जलती रहती है। यहाँ पुत्र-शोक पर सागरत्व का आरोप होने से रूपकालंकार है। 'दया' 'दया' में श्लेष 'सखाः' 'सखा' में छेक और अन्यत्र वृत्यनुमास है ।।१३६।।

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥ १३७ ॥

अन्वयः—(हे) प्रिये ! 'मदर्थ-सन्देश-मृणाल-मन्थरः प्रियः कियद्दूरे (वर्त्तते)' इति त्वया उदिते (सति) अथ रुदतः पक्षिणः विलोकयन्त्याः तव स क्षणः कीदृग् भविता ?

टीका—हे प्रिये, **सन्देशः**=वाचिकश्च **मृणालम्**=बिसश्चेति सन्देश-मृणाले (द्वन्द्व) **मह्यम्**= इति मदर्थे ('अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्') (च० तत्पु०) च ते **सन्देश-मृणाले**=(कर्मधा०) तयोः विषये **मन्थरः**=मन्दः अलस इति यावत् **प्रियः**=पतिः कियच्च तद्दूरम् (कर्मधा०) तस्मिन् कियद्विप्रकृष्टप्रदेशे वर्तते इति शेषः इति **त्वया उदिते**=कथिते पृष्टे सतीत्यर्थः **अथ**=अनन्तरम् **रुदतः**=रोदनं प्रकुर्वतः अनिष्ट-वार्ताकथनमर्यादिति शेषः **पक्षिणः**= विहगान् **विलोकयन्त्याः**=पश्यन्त्याः **तव स क्षणः** समयः **कीदृग्**=कीदृशो **भविता**=भविष्यति ? मत्सहचराणां रोदनेन मन्निधनस्यानुमानं कुर्वत्यास्ते वज्राहतस्येव हृदयस्य तदानीं काप्यनिर्वचनीया दशा भविष्यतीति भावः ॥ १३७ ॥

व्याकरण—सन्देशः सम्+√दिश्+घञ् । **उदिते**√वद्+क्त व को उ सम्प्रसारण स० ए० । **विलोकयन्त्या** वि+लोक्+शतृ+ङीप् ष० ए० । **रुदतः**√रुद्+शतृ द्वि० व० । **भविता**√ भू+लुट् ।

हिन्दी—हे प्रिये,—"मेरे हेतु सन्देश और मृणाल (भेजने) के विषय में देरी कर रहा मेरा प्रियतम कितनी दूर है ?" इस तरह तेरे कहने पर बाद को पक्षियों को रोता देखते हुए तेरा वह क्षण कैसा (भयंकर) होगा ?

टिप्पणी—उक्त श्लोक में हंस की पत्नी-विषयक चिन्ता बताई जाने से भावोदयालंकार है। 'क्षिणः, 'क्षणः' में छेक और अन्यत्र वृत्यनुप्रास है ।। १३७ ।।

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥ १३८ ॥

अन्वयः—हे विधातः। प्रिया-शैत्य-मृदुत्व शिल्पिनः तव पाणि-पङ्कजात् मयि 'वल्लभया वियोक्ष्यसे' इति ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा लिपिः कथं निर्गता ?

टीका—हे **विधातः**=हे विधे ! **शैत्यं**=शीतलत्वं च **मृदुत्वं**=सुकुमारत्वं चेति **शैत्य-मृदुत्वे** (द्वन्द्व) प्रियायाः शैत्य० (ष० तत्पु०) **शिल्पिनः**=निर्मातुः (ष० तत्पु०) **तव**=ते **पाणिः** हस्तः एव **पङ्कजम्**=कमलम् तस्मात् **मयि**=मद्विषये **वल्लभया**=प्रियतमया **वियोक्ष्यसे**=वियुक्तो भविष्यसि इति **ललाटंतपानि**=शिरोदाहकानि च निष्ठुराणि चेति (कर्मधा०) अक्षराणि यस्यां तथाभूता (ब० व्री०) **लिपिः**=लेखः **कथं**=केन प्रकारेण **निर्गता** निःसृता, येन शीतल-मृदुना ते करकमलेन प्रियतमायां शीतलत्वं कोमलत्वं च विनिर्मितम् तेनैव करकमलेन मल्ललाटे प्रियावियोग विषयकाणि तापकानि कठोराणि वाक्षराणि कथं लिखितानीति भावः ॥ १३८ ॥

व्याकरण—**शिल्पी** शिल्पमस्यास्तीति शिल्प+इन् (मत्वर्थीय) **पङ्कजम्**=पङ्काज्जायते इति पङ्क+√जन्+ड । **वियोक्ष्यसे** वि+√युज्+लृट् (कर्मवाच्य) **ललाटन्तप**—ललाटं तपतीति ललाट+√तप्+खश् मुम् च ।

हिन्दी—हे विधाता, प्रियतमा में शीतलता और कोमलता का सृजन करने वाले तेरे कर-कमल से मेरे विषय में 'तेरा प्रियतमा से वियोग होगा' यह ललाट को तपादेने वाली कठोर अक्षरों की लिपि (ललाट पर) कैसे निकल गई ?

टिप्पणी—तर्क शास्त्र का यह नियम है कि 'कारण-गुणाः कार्य-गुणान् आरमन्ते' अर्थात् कार्य में भी वे ही गुण होते हैं, जो कारण में होते हैं । लिपि के कारण भूत शीतल कोमल कर कमल से लिपि में भी शीतल मृदु अक्षर होने चाहिये थे, जो नहीं होने पाए । इस तरह कारण के गुणों के विरुद्ध कार्य में गुण होने से विषमालंकार है, जिसके मूल में पाणि पर पङ्कजत्वारोप काम कर रहा है, इसलिये यहाँ विषम और रूपक का संकर है । 'ललाटन्तप' के साभिप्राय विशेषण होने से परिकर भी है । शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ॥१३८॥

अयि[1] स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं वतोदिता ।

मुखानि लोलाक्षि दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥१३९॥

अन्वयः—अयि लोलाक्षि, अद्य स्व-यूथ्यैः अशनि-क्षतोपमम् इमम् मम वृत्तान्तम् उदिता (त्वम्) दिशाम् दश अपि मुखानि असंशयम् शून्यानि विलोकयिष्यसि वत ।

टीका--अयि **लोले**=चञ्चले **अक्षिणी**=नयने (कर्मधा०) यस्याः तत्सम्बुद्धौ (ब० व्री०) लोलाक्षि **अद्य**=अस्मिन् दिने **स्वाः**=स्वकीया **यूथ्याः**=वर्ग्याः हंसाः तैः (कर्मधा०) **अशनि**= वज्रम् तस्य **क्षतम्**=प्रहारः (ष० तत्पु०) तेन **उपमा**=तुलना (तृ० तत्पु०) यस्य तम् (ब० व्री०) **इमम्**=एतम् मरणरूपमित्यर्थः **वृत्तान्तम्**=उदन्तम् **उदिता**=कथिता (त्वम्) **दिशाम्**=दिशानाम् **दश**=दशसंख्यकानि अपि **मुखानि**=अग्राणि **असंशयम्**=न संशयः= सन्देहः यस्मिन्कर्मणि यथा स्यात्तथा (ब० व्री०) निश्चितमेव **शून्यानि**=रिक्तानि **विलोकयिष्यसि** द्रक्ष्यसि **वत**=खेदे । मम सहचरेभ्यः वज्रपातमिव मन्मरणोदन्तमाकर्ण्य त्वं सर्वमपि शून्यमिव द्रक्ष्यसीति भावः ॥ १३९ ॥

१. अपि

व्याकरण—यूथ्यः यूथे भव इति यूथ+यत् **उदिता** √वद्+क्त कर्मणि, वद् धातु द्विकर्मक है। कर्मवाच्य में गौण कर्म 'त्वम्' में प्रथमा हो गई है और मुख्य कर्म 'वृत्तान्त' द्वितीयान्त ही रह गया है।

हिन्दी—ओ चञ्चल नयनों वाली, अपने दल के हंसों द्वारा वज्राघात-जैसा मेरा यह (मृत्यु-विषयक) वृत्तान्त कही जाती हुई (तू) निश्चय ही दसों दिशाओं के मुख सूना-सूना देखेगी-यह खेद की बात है।। १३९ ।।

टिप्पणी—यहाँ वृत्तान्त की तुलना वज्र-क्षत से की गई है, इसलिये उपमा है। 'दिशा' 'दशा' में छेक और अन्यत्र वृत्यनुप्रास है ।।१३९।।

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया विचित्राङ्गि विपद्यते यदि ।
तदास्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥ १४० ॥

अन्वय—हे विचित्राङ्गि, मम एव शोकेन विदीर्ण-वक्षसा त्वया यदि विपद्यते, तदा हा ! दैवेन हतः अपि (पुनः) हतः अस्मि, यतः ते शिशवः स्फुटम् परासवः (भवेयुः) ।

टीका—हे **विचित्राङ्गि**=चञ्चू-चरणयोः रक्तवर्णत्वात् शरीरस्य च श्वेतत्वात् विविधवर्णानि **अङ्गानि**=अवयवाः (कर्मधा०) यस्याः तत्सम्बुद्धौ हे विचित्राङ्गि (ब० व्री०) **मम तव शोकेन** मन्मृत्युजनित-दुःखेन **विदीर्णम्**=स्फुटितम् **वक्षः**=हृदयम् (कर्मधा०) यस्याः तथाभूतया (ब० व्री०) **त्वया यदि**=चेत् **विपद्यते**=म्रियते **तदा**=तर्हि **हा** ! खेदे अव्ययम् **दैवेन**=भाग्येन **हतः**=मारितः **अपि**=(पुनः) हतः **अस्मि यतः** कारणमिदमस्ति **ते शिशवः**=बालकाः **स्फुटम्** निश्चितम् यथा स्यात्तथा **परासवः परा**=परागताः **असवः**=प्राणाः येषां तथाभूताः मृता इत्यर्थः (प्रादि ब० व्री०) भवेयुरिति शेषः, मयि मृते त्वयि जीवितायां च शिशूनां जीवनं कथमपि सम्भाव्यते, किन्तु त्वयि अपि मृतायाम् शिशवोऽपि नूनं मरिष्यन्तीतिहा कष्टमितिभावः ।। १४० ।।

व्याकरण—विदीर्ण वि+√दृ+क्त, (त को न और न को ण) **विपद्यते** वि√पद्+लट् भाववाच्य ।

हिन्दी—हे विचित्र अङ्गोंवाली, मेरे ही शोक के कारण विदीर्ण हुये हृदयवाली तू यदि मर जाती है, तो हाय ! दैव का मारा हुआ भी मैं (दो बारा) मर गया क्योंकि तेरे बच्चे (भी) निश्चय ही मर जाएँगे ।। १४० ।।

टिप्पणी—माता यदि जीवित हो, तो पिता के बिना भी बच्चे जीवित रह जाते हैं, किन्तु दोनों के मर जाने पर बच्चे भी मरे समझ लीजिये। इस तरह हंस पत्नी की मृत्यु पर बच्चों की मृत्यु की भी कल्पना करके और भी अधिक दुःखित हो रहा है कि भाग्य एक को मार कर कैसे सारे ही परिवार को मार रहा है। यहाँ पत्नी की मृत्यु पर बच्चों की भी मृत्यु बताने से समुच्चयालंकार है। समुच्चय वहाँ होता है जहाँ एक कार्य के होने पर 'खले कपोत न्याय' से और भी कार्य हो जायँ। 'हतो' 'हत' में छेक तथा 'शसयोरभेदात्' वाले नियम से 'शवः' 'सवः' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यानुप्रास है ।।१४०।।

तवापि हा हा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते ।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

अन्वयः—हा ! हा ! बहुभिः मनोरथैः चिरेण लब्धाः अस्फुटितेक्षणाः मम ते तव (मम) अपि विरहात् क्षुधाकुलाः (सन्तः) तेषु कुलाय-कूलेषु विलुठ्य क्षणेन गताः।

टीका—**हा हा** ! महान् शोकोऽस्ति, **बहुभिः** = अनेकैः **मनोरथैः** कामनाभिः **चिरेण** = बहुकालानन्तरम् **लब्धाः** = प्राप्ताः न **स्फुटिते** उद्घाटिते **ईक्षणे** = नयने (कर्मधा०) येषां तथाभूताः (ब० व्री०) **मम ते** = शिशवः **तव अपि** = च मम **विरहात्** = वियोगात् **क्षुधया** बुभुक्षया **आकुलाः** = विह्वलाः सन्तः **तेषु** = प्रसिद्धेषु **कुलायानाम्** = नीडानाम् **कूलेषु** = तटेषु प्रान्तेष्वित्यर्थः **विलुठ्य** लुठित्वा **क्षणेन गताः** = मृता इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

व्याकरण—**ईक्षणम्** ईक्ष्यते = दृश्यतेऽनेनेति√ईक्ष् + ल्युट् करणे । **क्षुधा**√क्षुध् + क्विप् (भावे)+टाप् ।

हिन्दी—हाय ! हाय ! बहुत सी कामनाओं से चिरकाल बाद प्राप्त हुए मेरे वे बच्चे, जिनकी आँखें तक नहीं खुली हैं, तेरे और मेरे वियोग के कारण भूख से तड़पते-तड़पते घोंसलों के किनारों पर लुड़ककर शीघ्र ही मरे (समझो) ॥ १४२ ॥

टिप्पणी—यहाँ 'कुलाः' 'कुला' और 'कूले' में वर्णों की एक से अधिक बार आवृत्ति होने से छेक न होकर वृत्त्यनुप्रास और 'क्षणे' 'क्षणा' में छेक है; 'अन्यत्र' भी वृत्त्यनुप्रास ही है ॥१४१॥

सुताः कमाहूय चिराय चुङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति ।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥ १४२ ॥

अन्वयः—"हे सुताः ! चिराय चुङ्कृतैः कम् आहूय, कम् प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय, (यूयम्) कथासु शिष्यध्वम्"—इति स प्रमील्य स्रुतस्य नृपाश्रुणः सेकात् बुबुधे ।

टीका—**हे सुताः** = पुत्राः ! **चिराय** = चिरकालम् **चुङ्कृतैः** चुङ्कारैः 'चूँ चूँ'—शब्दैरित्यर्थः **कम् आहूय** = आकार्य भक्ष्यं याचिष्यथेति वाक्यशेषः अर्थात् मयि मातरि च मृतायां चुङ्कृत्य चुङ्कृत्य अस्मद्-व्यतिरिक्तं कम् भोजनं याचिष्यथ **कम् प्रति** = (च) कं लक्ष्यीकृत्य **मुखानि** = आननानि **कम्प्राणि** = चञ्चलानि **विधाय** = कृत्वा कुलायमध्यात् संमुखा धाविष्यथ इति वाक्यशेषः, (यूयम्) **कथासु शिष्यध्वम्** = नामशेषा भवत अर्थात् आवयोः मरणानन्तरम् यूयमपि कथामात्रावशेषा एव स्थास्यथ, मरिष्यथेति यावत् **इति** = एवम् उक्त्वा **स** = हंसः **प्रमील्य** = मूर्च्छांप्राप्य **स्रुतस्य** = गलितस्य **नृपस्य** = राज्ञो नलस्य **अश्रुणः** = अस्रस्य (ष० तत्पु०) **सेकात्** = सेचनात् **बुबुधे** = संज्ञां प्राप ॥ १४२ ॥

व्याकरण—**चुङ्कृतैः** चुङ्√कृ+क्त भावे । **कम्प्रम्** = कम्पते इति+√कम्प्+रः (नमिकम्पि० पा० ३।२।१६७) । **शिष्यध्वम्**√शिष् + लोट् (कर्मकर्तरि प्राप्तकाले) ।

हिन्दी—"बच्चो, देर तक चूँ चूँ करके किसको बुलाकर (तुम चुँगा माँगोगे ?) (और) किसकी ओर मुँह हिलाहिलाकर (घोंसले के बीच में दौड़ोगे ?) (तुम) कथामात्र-शेष हो जाओ"

इस तरह (कहता हुआ) वह (हंस) मूर्छित होकर राजा (नल) के गिरे हुए आँसुओं के सिंचन से होश में आया ॥ १४२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने करुणरस का बड़ा हृदय-द्रावक चित्र खींचा है। हंसकी इस करुणोक्ति से राजा नल भी आँसू बहाये बिना न रह सका। शोक के कारण गला रुँध जाने से हंस पूरे-पूरे वाक्य ही नहीं बोल सक रहा है। वैसे तो पूरे पदों को न कहने से न्यूनपदत्व दोष हो सकता था, किन्तु यहाँ न्यूनपदत्व करुणरस को और भी पुष्ट कर रहा है, इसलिए दोष के स्थान में उल्टा वह गुण बन गया है। यथावद् वस्तु-चित्रण होने से हम यहाँ स्वभावोक्ति कहेंगे। शब्दालंकार वृत्त्यनुप्रास है ।।१४२।।

इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद् दीनदयालुतयावनिपालः।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

अन्वयः—दीन-दयालुतया अवनिपालः 'रूपम् अदर्शि यदर्थम् (त्वम्) धृतः असि, अथ यथेच्छम् गच्छ' इति अभिधाय इत्थम् विलपन्तम् अमुम् अमुञ्चत्।

टीका—**दीनेषु**=आर्त्तेषु **दयालोः** भावः **दयालुता** तया=कारुणिकतया (स० तत्पु०) **अवनेः पृथिव्याः पालः**=पालकः राजा नल इत्यर्थः **रूपम्**=सौन्दर्यम् तवेति शेष **अदर्शि**=दृष्टम्, यस्मै इति **यदर्थम्**=(अर्थेन नित्यसमासः) (त्वम्) **धृतः**=गृहीतः असि। **अथ**=एत-दनन्तरम् (त्वम्) इच्छाम् अनतिक्रम्येति **यथेच्छम्**=(अव्ययीभाव स०) स्वेच्छानुसारं **गच्छ**=याहि **इति**=एवम् **अभिधाय**=कथयित्वा **इत्थम्**=पूर्वोक्त-प्रकारेण **विलपन्तम्**=विलापं कुर्वन्तम् **अमुम्**=एतम् हंसम् **अमुञ्चत्**=तत्याज ॥ १४३ ॥

व्याकरण—**दयालु** दयते इति√दय्+आलुच्। **इत्थम्** एतेन प्रकारेणेति इदम्+थम्। **अदर्शि**√दृश्+लुङ् कर्मवाच्य।

हिन्दी—दीनों पर दयावान् होने के कारण राजा (नल) ने—'(तेरा) सौन्दर्य देख लिया है जिस हेतु तुझे पकड़ा है। इसके बाद तू जहाँ चाहता है, चला जा' यह कहकर इस तरह विलाप करते हुए उस (हंस) को छोड़ दिया ॥ १४३ ॥

टिप्पणी—विद्याधर ने 'यथेच्छम्' में यथा शब्द को देखकर यहाँ उपमा कह दी है, किन्तु हमें यहाँ कहीं भी उपमानोपमेय-भाव देखने में नहीं आ रहा है। केवल 'ममुं' 'मनुं' में यमक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। महाकाव्यों में सर्ग के अन्त में छन्द बदलने का नियम होने से कवि ने इस श्लोक में दोधक वृत्त अपनाया है जिसका लक्षण यह है—'दोधकमिच्छति भ-त्रितयाद्गौ' अर्थात् तीन भगण (SII) और अन्त में दो गुरु ।।१४३।।

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गमि[1]तमेव पयःप्रवाहान्।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजनां जनयतां निजबान्धवानाम् ॥१४४॥

---

१. निर्गलित

अन्वयः—स चङ्क्रमण-च्छलेन नीराजनाम् जनयताम् निज-बान्धवानाम् प्राक्...प्रवाहान् आनन्दाश्रुभिः अनुस्रियमाणमार्गान् चक्रे ।

टीका—**सः**=हंसः चक्रेण सदृशम् **चक्रनिभम्**=(तृ० तत्पु०) चक्राकारमित्यर्थः यत् **चङ्क्रमणम्**=पुनः पुनः भ्रमणम् (कर्मधा०) तस्य **छलेन**=मिषेण (ष० तत्पु०) **नीराजनाम्**=आरात्रिकम् **जनयताम्**=कुर्वताम् **निजाः**=स्वीयाः ये **बान्धवाः**=बन्धु-मित्राणि (कर्मधा०) तेषाम् **प्राक्०—प्राक्**=पूर्वम् नलकर्तृकस्वग्रहणसमये इत्यर्थः यः शोकः (सुप्सुपेति समासः) तेन **निर्गमिताः**=निर्गन्तुं प्रेरिताः स्राविता इत्यर्थः ये नेत्र-पयः-प्रवाहाः (कर्मधा०) नेत्राणां पयसः प्रवाहाः (उभयत्र ष० तत्पु०) तान् अश्रु-पूरान् **आनन्द-जानि**=आनन्दात् जायन्ते इति तथोक्तानि (उपपद तत्पु०) हर्षोत्पन्नानि यानि अश्रूणि तैः (कर्मधा०) **अनुस्रियमाणः**=अनुगम्यमानः **मार्गो**=पन्थाः येषां तथाभूतान् (ब० व्री०) **चक्रे**=अकरोत् । पूर्वं नलेन गृहीते हंसे ते शोकाश्रूणि, मुक्ते च आनन्दाश्रूणि प्रामुञ्चन् । बन्धनात् मुक्तं पक्षिणं तज्जातीया अन्यपक्षिणः परितो भ्रमन्ति शब्दायन्ते चेति पक्षिस्वभावः ॥ १४४ ॥

व्याकरण-अनुस्रियमाण—अनु+√सृ+शानच् कर्मवाच्य । **निर्गमित**—निर्+√गम्+णिच्+क्तः कर्मणि । **चङ्क्रमम्** पुनः पुनः अतिशयेन वा इस अर्थ में किसी भी धातु से यङ् प्रत्यय लगाकर धातु को द्वित्व किया जाता है और वह आत्मनेपद बनता है, जैसे—पुनः पुनः भवतीति √भू+यङ् बोभूयते, पुनः पुनः पश्यति √दृश् दरीदृश्यते । इसी तरह यहाँ भी √क्रम् से चङ्क्रम्यते बनाकर भाव में ल्युट् प्रत्यय से चङ्क्रमणम् बनता है ।

हिन्दी—उस हंस ने चक्र की तरह बार-बार घूमते रहने के बहाने (उसकी) आरती करते हुए अपने भाई-बन्धुओं के (नेत्रों के) जिस मार्ग से पहले शोक के आँसू बहे थे, उससे (अब) हर्ष के आँसुओं के प्रवाह बहवाये ॥ १४४ ॥

टिप्पणी—नीराजना—इसके लिए पीछे का दसवाँ श्लोक देखिये । कारागार से छूटकर आये व्यक्ति का जिस तरह स्वागत और आरती की जाती है, उसी तरह राजा नल के बन्धन से छूट आये अपने भाई की अन्य हंस आरती उतारने लगे । वैसे देखा जाय, तो नीराजन अपने मूल रूप में पहले एक सैनिक विधि थी । आश्विन में जब राजे लोग युद्ध हेतु निकला करते थे, तो उनकी एवं घोड़े आदि की मांगलिक रूप में आरती उतारी जाती थी जिससे उन्हें विजय मिले । धीरे-धीरे यह प्रथा आज साधारण मंगलाचार के रूप में परिवर्तित हो गई है । जहाँ तक नीराजन शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है, हमारे विचार से यह निः+√राज्+णिच्+ल्युट् से बना है, इसीलिए माघ ने 'क्षमापतीनिति **निरराजयन्निव** (१७ १६) प्रयोग किया है । प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में भी '**नीराजयन्ति** भूपालाः पादपीठान्तभूतलम्' प्रयोग मिलता है । इसमें कपूर अथवा बत्तियाँ बालकर व्यक्ति आदि का 'निः—निःशेषेण (अच्छी तरह) **राजनम्**+दीपनं क्रियते' । इस श्लोक में हंसों का इर्दगिर्द चक्कर काटने में यथावत् वस्तु-वर्णन से स्वभावोक्ति और चक्कर काटने का अपह्नव करके उसपर नीराजन की स्थापना करने से अपह्नुति है । 'चक्रे' 'चक्र' में छेक, प्रथम और द्वितीय पाद के

अन्त में 'आन्' 'आन्' का तुक मिलने से अन्त्यानुप्रास और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है। श्लोक में वसन्ततिलका वृत्त है जिसका लक्षण है— 'उक्ता वसन्ततिलका त-भ-जा जगौ गः' अर्थात् तगण (SSI) भगण (SII) जगण (SI) जगण (ISI) और दो गुरु। सर्ग के अन्त में कवि ने मङ्गल-रूप **आनन्द** शब्द का प्रयोग किया है और यह **आनन्द** शब्द सारे काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में मिलेगा। यह कवि की एक तरह से अपनी व्यक्तिगत छाप समझिए जैसे भारवि ने अपने **किरातार्जुनीय** काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक पर 'लक्ष्मी' की छाप लगा रखी है।

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

अन्वयः—कवि···हीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च यं जितेन्द्रिय-चयम् श्रीहर्षम् सुतम् सुषुवे, तच्चिन्ता···फले शृङ्गाररस-भङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदिः सर्गः गतः।

टीका—कविषु राजानः इति कविराजाः श्रेष्ठकवयः (स० तत्पु०) तेषां **राजिः**=पङ्क्तिः तस्याः **मुकुटानाम्**=किरीटानाम् **अलंकारः**=भूषणभूतः (ष० तत्पु०) **हीरः**=हीरकसंज्ञकरत्न-विशेषः **श्रीहीरः**=एतन्नामा पिता **मामल्लदेवी**=एतदाख्या माता च **यम् इन्द्रियाणां चयः**=समूहः इन्द्रियचयः (ष० तत्पु०) **जितः**=वशीकृत इत्यर्थः इन्द्रियचयः (कर्मधा०) येन तथा भूतम (ब० व्री०) **श्रीहर्षम्**=श्रीहर्षनामानम् **सुतम्**=पुत्रम् **सुषुवे**=उत्पादयामास **तस्य**=श्रीहर्षस्य **चिन्तामणिमन्त्रस्य** =एतन्नामक-मन्त्रविशेषस्य यत् **चिन्तनम्**=ध्यानम् जपादिकम् उपासनेति यावत् तस्य **फले**=परिणाम-रूपे (सर्वत्र ष० तत्पु०) **शृङ्गारश्चासौ रसः** (कर्मधा०) तस्य **भङ्ग्या** रचनाविशेषेण (ष० तत्पु०) **चारुणि**=सुन्दरे नैषधस्येदं' **नैषधीयम्**=नैषधसम्बन्धि **चरितम्**=चरित्रम् (कर्मधा०) यस्मिन् तथाभूते (ब० व्री०) **महाकाव्ये**=महच्च तत् काव्यं तस्मिन् (कर्मधा०) 'सर्गबन्धो महाकाव्यमित्युक्तलक्षणे' रचनाविशेषे **अयम्** एष **आदिः**=प्रथमः **सर्गः गतः** समाप्त इत्यर्थः।

इति श्रीमोहनदेव-पन्तशास्त्रिणा प्रणीतायां 'छात्रतोषिण्यां' प्रथमः सर्गः।

व्याकरण—**अलङ्कार** अलम् क्रियतेऽनेनेति अलम्+√कृ+घञ् करणे। **शृङ्गार**=शृङ्गम्=मन्मथोद्भेद. तत् **आरयति**=आगमयति इति शृङ्ग+√ऋ+णिच् घञ् कर्तरि। **नैषधीयम्**=नैषध+छ। नैषध शब्द के लिये पीछे श्लोक ३६ देखिये।

हिन्दी—श्रेष्ठ कवि-मण्डली के मुकुटों के भूषण रूप हीरे श्रीहीर तथा मामल्ल देवी ने इन्द्रिय-गण को जीतने वाले जिस श्रीहर्षको जन्म दिया, उसके (रचे) चिन्तामणि मन्त्र के चिन्तन-फल रूप, शृङ्गार रस की रचना से सुन्दर बने 'नैषधीयचरित' महाकाव्य में प्रथम सर्ग समाप्त हुआ॥ १४५॥

टिप्पणी—यह अन्तिम श्लोक कथानक से सम्बन्ध न रखकर कवि का व्यक्तिगत परिचय दे रहा है कि उसके पिता का नाम महाकवि-भूषण श्रीहीर और माता का नाम मामल्ल देवी था। इस काव्

को लिखने की शक्ति उसे चिन्तामणि मन्त्र के जप और ध्यान से प्राप्त हुई है। वह चिन्तामणि मन्त्र क्या है—इसके सम्बन्ध में कवि यहाँ कुछ न बताकर सर्ग १४ के श्लोक ८८।८९ में बता गया है। यहाँ प्रसंग-वश उन श्लोकों को उधृत करना अनुचित नहीं होगा। पहले में मन्त्र और दूसरे में उसका फल है। वे ये हैं—

अवामावामार्धे सकलमुभयाकार घटनाद्-
द्विधाभूतं रूपं भगवदभिधेयं भवति यत्।
तदन्तर्मन्त्रं मे स्मर हरमयं सेन्दुममलं
निराकारं शश्वज्जप नरपते, सिध्यतु स ते॥

क्योंकि मन्त्र गुह्य गोप्य हुआ करते हैं, इसलिए कविने गहन-गूढ़ भाष में उसे यहाँ छिपा रखा है। टीकाकार 'यद्वा' 'यद्वा' करके कठिनता से उसे ढूँढ पा रहे हैं। हम यहाँ चाण्डूपण्डित की व्याख्या उदधृत करते हैं, जिसे हम ठीक समझते हैं—

'वामे अर्धे=वामपक्षार्धे प्रथमम् अवा=ॐकारेण मथा का=मकारेण ॐकारेणेत्यर्थः यत् रूपं द्विधा=द्विप्रकारं भूतं सत्=द्वितीयेन ॐकारेण दक्षिणार्धेऽपि भूतम्=प्राप्तम् भगवदभिधेयं भवति ब्रह्मवाचकम्। किंभूतम्—उभयाकारस्य=ॐकारद्वयस्य घटनात्=मेलनात् सकलम्। तदन्तः तयोः ॐकारयोरन्तः=मध्ये हरमयम्=ईश्वरमयम् मन्त्रं मम स्मर। अथ च हकारो रेफकारो मकार ईकारश्च। चतुष्टयेऽपि अकार उच्चारणार्थः। ईकारस्य पुरतः अकारस्य सुखोच्चारणार्थं य आदेशो ह्रींकारः। उभयपक्षे ॐकारेण संपुटित इत्यर्थः। सेन्दुम्=अर्धमात्रायुकम्।'

भावार्थ यह निकला कि बायीं ओर और दायीं ओर ब्रह्मवाचक 'ओम्' रखो जिसे संपुट कहते उन दोनों ओकारों के बीच में सेन्दु=अर्धचन्द्र के साथ ह्-र-म-य' रखो। सुखोच्चारण हेतु यहाँ ईकार के स्थान में यकार कर रखा है। इन सभी में अकार केवल उच्चारणार्थ है। सबको जोड़कर अर्थात् ह्+र्+म्+ई+अर्धचन्द्र मिलकर='ह्रीं रूप 'ॐ ह्रीं ॐ' निकलता है। यही चिन्तामणि मन्त्र है। तान्त्रिक भाषा में नारायण ने इसमें प्रमाण दिया है—'शिवान्त्यो वह्निसंयुक्तो ब्रह्मद्वितयमन्तरा। तुरीयस्वरशीतांशुरेखातारासमन्वितः॥ एष चिन्तामणिर्नाम मन्त्रः सर्वार्थसाधकः जगन्मातुः सरस्वत्या रहस्यं परमं मतम्॥ [शिव=ह, वह्निः=रेफ, ब्रह्मन्=प्रणव, तुरीयस्वरः= ई'शीतांशु रेखा=चन्द्रकला अर्धचन्द्र तारा=विन्दुः=ॐ ह्रीं ॐ। इस सारस्वत चिन्तामणि मन्त्र की फलश्रुति कवि ने दूसरे श्लोक में इस प्रकार बताई है :—

सर्वाङ्गीय-रसामृत-स्तिमितया वाचा स वाचस्पतिः, स स्वर्गीय-मृगीदृशामपि वशीकराय मारायते।
यस्मै यः स्पृहयत्यनेन स तदेवाप्नोति किं भूयसा, येनायं हृदये स्थितः सुकृतिना मन्मन्त्र-चिन्तामणिः॥

यह चिन्तामणि मन्त्र प्रकट होकर स्वयं भगवती सरस्वती ने राजा नल को जपने को कहा था। आगे इसका विधान भी बता रखा है।

कवि के व्यक्तिगत परिचय वाले श्लोक में श्रीहीर पर हीरत्वारोप होने से रूपक है। 'हीरः' 'हीरः' में यमक 'चिन्ता: 'चिन्त' में छेक और अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास है॥ १४५॥

॥ नैषधीय-चरित काव्य का प्रथम सर्ग समाप्त॥

हमारे महत्त्वपूर्ण छात्रोपयोगी प्रकाशन

[जिनमें मूल पाठ के साथ संस्कृत-हिन्दी टीका, भूमिका, नोट्स एवं अन्य छात्रोपयोगी सामग्री है]

अभिज्ञानशकुन्तलम्	सुबोधचन्द्र पन्त
उत्तररामचरित	आनन्दस्वरूप
कादम्बरी (कथामुख)	रतिनाथ झा
काव्यदीपिका	परमेश्वरानन्द
किरातार्जुनीय (१-६ सर्ग)	जर्नादन शास्त्री पाण्डेय
चन्द्रालोक	सुबोधचन्द्र पन्त
नागानन्द नाटक	संसारचन्द्र
नीतिशतक	जनार्दन शास्त्री
प्रतिमानाटक	श्रीधरानन्द शास्त्री
प्रसन्नराघव	रमाशंकर त्रिपाठी
बालचरित	कमलेशदत्त त्रिपाठी
भट्टिकाव्य	पाण्डेय-शुक्ल (१-४ सर्ग)
मृच्छकटिक	रमाशंकर त्रिपाठी
मालविकाग्निमित्र	संसारचन्द्र
मेघदूत	संसारचन्द्र
रघुवंश महाकाव्य (सम्पूर्ण)	धारादत्त शास्त्री
रत्नावलीनाटिका	रमाशंकर त्रिपाठी
वेणीसंहार	रमाशंकर त्रिपाठी
शिशुपालवध (१-४ सर्ग)	जनार्दन शास्त्री पाण्डेय
स्वप्नवासवद	न विद्यालंकार
	रमाशंक
साहित्यदर्पण निमित्र	म शास्त्री
	संसारच
	चौधरी
सौन्दरनन्दक	संसारचन्द्र
हितोपदेशः काव्य (सम्पूर्ण)	धारादत्त शास्त्री
का	रमाशं त्रिपाठी

रसीदास

रम

दिल्ली • मुम्बई • कलकत्ता • चेन्नई • बंगलौर

पुणे • वाराणसी • पटना

मूल्य: रु० २८